अर्पण–पत्रिका ।

श्रीमन् पूज्य पाद, गणावच्छेदक एवं स्थविरपदविभूषित संघ हितैषी मुनि श्री गणपतिराय जी महाराज !

आपने मुझ दीन पर जो जो उपकार किये हैं, वे सब के सब अलौकिक एवं अद्वितीय हैं। उन से उऋण होने की मुझ में तनिक-सी भी शक्ति नहीं है। आपने मुझे शास्त्राभ्यास एवं संयम क्रिया में वह परम सहायता दी है, जिस के फलस्वरूप आज मैं इस योग्य हुआ हूँ। शिक्षा प्रदान करने में आप दृढ परिश्रमी हैं, और मुझ जैसे शिष्यों को भी इसके लिये सदा उत्साहित करते रहे हैं। अतएव आप के संस्मरणीय उपकारों का आभार मानता हुआ मैं, यह श्री दशवैकालिक सूत्र की 'आत्म ज्ञान प्रकाशिका' भाषा टीका आप के पवित्र कर कमलों में सादर समर्पण करता हूँ; कृपया इसे सहर्ष स्वीकारियेगा और सेवक को कृतार्थ करियेगा।

समर्पक —

चरणरज, आत्माराम ।

प्रकाशकः—
जैन समाज भूषण दानवीर सेठ ज्वालाप्रसाद माणिकचंद जौहरी
महेन्द्रगढ (पटियाला)

सूचना—
जिन प्रेमी पाठकों को इस पुस्तक की आवश्यकता हो, वे निम्नलिखित पते पर डाक खर्च के लिये टिकट ।।।ऽ) भेजकर मँगालें।

पता —

राजा बहादुर लाला सुखदेवसहाय ज्वालाप्रशाद जैन जौहरी 'लाला भवन' महेन्द्रगढ (पटियाला)

जोशी रमेशप्रसाद के प्रबंध से श्री कौशिक प्रिंटिंग प्रेस महेन्द्रगढ में छपा

सपादकीय—विज्ञप्ति !

"को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे!"

"सर्व सर्व न जानाति, सर्वज्ञो नास्ति कश्चन"

विचारशील पाठक वृन्द ! जैनसूत्रसाहित्य अतीव गूढ है। बड़े बड़े धुरंधर विद्वान विद्वान् तक भी इसकी गूढता के आगे हाथ जोड़ते हैं और दाँतों तले अंगुली दबाते हैं। प्रस्तुत दशवैकालिक सूत्र भी इसी सूत्र साहित्य में है और चरणकरणानुयोग के कारण अपनी ओर भी अधिक गूढता रखता है। चरण करणानुयोग की विधि-निषेध भगावली कैसी है ? इसे मुक्त भोगी ही जान सकते हैं। अस्तु प्रस्तुत पुस्तक का संपादन 'यावद् बुद्धिबलोदय' से बहुत ही सोच समझ कर किया है, तथापि बुद्धि-दोष किंवा प्रमाद आदि के कारण इस में स्खलनाएं अवश्य हुई हैं। सो पाठक महोदय जहाँ स्खलना देखें वहाँ गीतार्थों द्वारा शुद्ध करलें और संपादक को क्षमाप्रदान करें। ऐसी स्थिति में बेचारा संपादक, क्षमा-याचना के अतिरिक्त और करही क्या सकता है। मूल तो सदा क्षमा ही चाहती है।

गच्छतः स्खलनं क्वापि, भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जनाः ॥

क्षमा-प्रार्थी—
मुनि अमरचंद्र ।

प्रस्तावना ।

अक्षय सुखका साधन

प्रिय सुज्ञपुरुषो ! इस अनादि अनंत संसार में यह जीवात्मा, कर्मों के फेर में पड़ी हुई, इतस्ततः गेंद की तरह मारी-मारी फिर रही है। इसकी कहीं पर भी स्थिति नहीं होती। यह कभी नर्क गति में जाती है, तो कभी तिर्यंच गति में, एवं कभी मनुष्य गति में जाती है, तो कभी देवगति में। इस इधर उधर की भाग दौड़ में यह आत्मा महान् दुःख भोग रही है, इसे कहीं पर भी सुख नहीं मिलता। नर्क और तिर्यंच गति में तो स्पष्ट रूप से दुःख है ही, हाँ मनुष्य और देवगति में सुख अवश्य है, किन्तु वह भी केवल नाम मात्र का है, उसमें भी दुःख मिला हुआ है। और तत्सम्बन्धी स्थिति के भोग लेने के बाद तो फिर वही दुःख ही दुःख है। अस्तु दयानिधि तीर्थंकर देवों ने, जहाँ पर किसी भी प्रकार का दुःख नहीं है, ऐसे अद्वितीय अक्षय सुख-धाम मोक्ष की प्राप्ति के लिये जीवात्मा को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—ये तीन साधन बतलाये हैं। इन्हें रत्नत्रय भी कहते हैं। क्योंकि वस्तुतः यही वास्तविक सुख के दाता रत्न हैं। इनके द्वारा अनेकानेक भव्य जीव पूर्व काल में मोक्ष सुख प्राप्त कर चुके हैं।

यहाँ प्रसंगवश संक्षेप रूप में, उक्त साधनों का यत्किंचित् स्वरूप भी बतलाया जाता है। यथा—इस संसार में जीव और अजीव, ये दो द्रव्य पूर्णतया सिद्ध हैं। संसार में सर्वत्र इन्हीं दोनों द्रव्यों की विभूति दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य धर्म से युक्त है। अतएव प्रत्येक पदार्थ मूल भाव को ध्रुव रखके, पूर्वाकृति से उत्तराकृति में परिवर्तित होता हुआ, दिखलाई देता है। जैसे कि एक बालक बाल्यावस्था से युवावस्था में और युवावस्था से वृद्धावस्था में आता है। जैन शास्त्रकार इसी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से प्रत्येक द्रव्य को नित्य और अनित्य रूप से मानते हैं। यही अनेकान्त वाद है। अस्तु उक्त दोनों द्रव्यों के पूर्णतया सत्य श्रद्धान को सम्यग्दर्शन, और यथार्थ सत्य ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। तथा इन दोनों द्रव्यों की पर्यायों से उत्पन्न होने वाले, राग द्वेष के भावों की निवृत्ति और अहिंसा आदि विशुद्ध भावों की प्रवृत्ति को, सम्यक् चारित्र कहते हैं।

साधनों का स्वरूप

जिस प्रकार दधि का सार नवनीत है, उसी प्रकार शास्त्रकारों ने सम्यग् दर्शन और सम्यग्ज्ञान का अन्तिम सार, सम्यक् चारित्र प्रतिपादन किया है, क्योंकि—"चयरित्तकरं चारित्त होइ" —कर्मों के चय को नष्ट करने वाला चारित्र ही है। बिना चारित्र के ज्ञान दर्शन कुछ नहीं कर सकते।—'आचार हीनं न पुनन्ति वेदाः।' यही कारण

चारित्र का प्राधान्य

है कि—चारित्र हीन का सत्योपदेश भी जनता में हास्यकर ही होता है। चारित्र संपन्न व्यक्ति का वाक्य मधुघृतसिक्त यज्ञ की अग्नि के समान सुशोभित एवं पूज्य होता है, और चारित्र हीन का वाक्य तैल रहित दीपक के समान कलुषित एवं असुहावना मालूम होता है। चारित्रवान् के वाचिक वचनों की प्रशंसा एवं चारित्र हीन के वचनों की निन्दा करता हुआ, एक कवि क्या ही अच्छा सुभाषित कहता है—

> क्षीरं भाजनसस्थं, न तथा वत्सस्य पुष्टिमावहति ।
> आवल्गमानशिरसो, यथाहि मातृस्तनात् पिवत ॥१॥
>
> तद्वत् सुभाषितमय क्षीरं, दुःशीलभाजनगत तु ।
> न तथा पुष्टिं जनयति, यथाहि गुणवन्मुखात् पीतम् ॥ २ ॥

अर्थात् जिस प्रकार बच्चा अपनी माता के स्तनों से दुग्ध पीकर शीघ्र ही पुष्टपु एवं बलवान् होजाता है उस प्रकार पात्रस्थ दुग्ध पीकर नहीं हो सकता। यही बात सुभाषित के विषय में है कि—दुश्चरित्री के मुँह से सुने हुए सुभाषित वचन उस प्रकार असर करने वाले नहीं होते, जिस प्रकार सच्चरित्री के मुखारविन्द से सुने हुये असर करते हैं ॥ २ ॥

चारित्र हीन का चाहे कैसा ही क्यों न अच्छा उपदेश हो, किन्तु जनता की उस पर कदापि

अभिरुचि नहीं होती। वह तो उसके कारण उसके उपदेश को भी दूषित समझने लग जाती है। क्योंकि कहा भी है कि—

शीतेऽपि यत्नलब्धो, न सेव्यतेऽग्निर्यथा श्मशानस्थः ।
शीलविपन्नस्य वचः, पथ्यमपि न गृह्यते तद्वत् ॥

अर्थात् जिस प्रकार शीत से अतीव पीड़ित हुआ भी कोई विचारशील मनुष्य श्मशानस्थ अग्नि का सेवन नहीं करता, उसी प्रकार आचारहीन मनुष्य के हितरूप सत्यवचन को भी जनता स्वीकार नहीं करती ॥

अस्तु उपर्युक्त कथन से यह पूर्ण रूपेण सिद्ध हो जाता है कि—मनुष्य को चारित्र की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके बिना सब गुण फीके रहते हैं। केवल औषधी का ज्ञान और विश्वास, रोग को दूर नहीं कर सकते। रोग दूर तभी होगा जब कि औषधी का सेवन किया जायगा। चारित्र क्रियारूप है, अतः कर्म रोग को वही दूर कर सकता है ॥

चारित्र के मेद और उसके शास्त्र

चारित्र के गृहस्थधर्म और मुनिधर्म इस प्रकार दो भेद हैं। गृहस्थ धर्म का वर्णन मुख्यतः उपासक दशांग आदि सूत्रों में किया गया है। अतः जिज्ञासुओं को वहाँ देखना चाहिये ! और मुनि धर्म का वर्णन आचारांग, सूत्रकृतांग और इस प्रस्तुत दशवैकालिक आदि बहुत से सूत्रों में किया गया है, क्योंकि इसकी रचना प्रायः मुनि

धर्म को लक्ष्य करके की गई है। किन्तु आचारांग आदि का वर्णन बहुत विस्तृत एवं रहस्यमय है, अतः प्रथम श्रेणी के मन्दबुद्धि शिष्यों को भली भाँति बोधगम्य नहीं होता। और यह प्रस्तुत दशवैकालिक सूत्र (जो पाठकों के समक्ष है) का वर्णन संक्षिप्त एवं सरल है, अतः जिज्ञासुओं की सुकुमारमति इसमें सहसा प्रविष्ट हो जाती है; क्योंकि यह सूत्र सुबोधता का उद्देश रखकर ही बनाया गया है। यद्यपि यह सूत्र मुख्यतः मुनिधर्मप्ररूपक है, तथापि गृहस्थों को भी बहुत लाभप्रद है। इस के पठन से गृहस्थ भी बहुत कुछ आत्मोद्धार कर सकते हैं।

यह सूत्र किसने क्यों और कब बनाया ?

इस सूत्र के निर्माता श्री शय्यंभव आचार्य हैं। यह जाति के ब्राह्मण और बड़े भारी दिग्गज विद्वान थे। इनकी जन्म भूमि मगध देश की प्रसिद्ध राजधानी राजगृह है। यह अपने गृह्य से एक विशाल यज्ञ कर रहे थे कि श्री जम्बू स्वामीजी के पट्टधर श्री प्रभव स्वामी के उपदेश से संसार का परित्याग कर मुनि हो गये। श्रीप्रभव स्वामी के बाद यह पट्टधर आचार्य हुये। जब यह मुनि हुये तब इन की स्त्री गर्भवती थी, बाद में उस के पुत्र हुआ, जिस का नाम मनक रक्खा गया। करीब दश ग्यारह वर्ष की अवस्था में यह मनक पुत्र अपनी माता से पूछ कर चंपा नगरी में अपने संसारी पिता श्रीशय्यंभवाचार्य जी से मिला और परिचय के पश्चात् उनका शिष्य हो गया। आचार्य श्री ने ज्ञान बल से देखा, तो उस समय

अभिरुचि नहीं होती। वह तो उसके कारण उसके उपदेश को भी भ्रमित समझने लग जाती है। क्योंकि कहा भी है कि—

शीतेऽपि यत्नलब्धो, न सेव्यतेऽग्निर्यथा श्मशानस्थः।
शीलविपन्नस्य वचः, पथ्यमपि न गृह्यते तद्वत्॥

अर्थात् जिस प्रकार शीत से अतीव पीड़ित हुआ भी कोई विचारशील मनुष्य श्मशानस्थ अग्नि का सेवन नहीं करता, उसी प्रकार आचारहीन मनुष्य के हितकर सत्यवचन को भी जनता स्वीकार नहीं करती॥

अस्तु उपर्युक्त कथन से यह पूर्ण रूपेण सिद्ध हो जाता है कि—मनुष्य को चारित्र की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके बिना सब गुण फीके रहते हैं। केवल औषधी का ज्ञान और विश्वास, रोग को दूर नहीं कर सकते। रोग दूर तभी होगा जब कि औषधी का सेवन किया जायगा। चारित्र क्रियारूप है, अतः कर्म रोग को यही दूर कर सकता है॥

चारित्र के भेद और उसके कारण

चारित्र के गृहस्थधर्म और मुनिधर्म इस प्रकार दो भेद हैं॥ गृहस्थ धर्म का वर्णन मुख्यतः उपासक दशांग आदि सूत्रों में किया गया है। अतः जिज्ञासुओं को वहीं देखना चाहिये। और मुनि धर्म का वर्णन आचारांग, सूत्रकृतांग और इस प्रस्तुत दशवैकालिक आदि बहुत से सूत्रों में किया गया है। क्योंकि इनकी रचना प्राय मुनि

इस सूत्र की प्रामाणिकता के विषय में कोई शंका नहीं उठाई जा सकती क्योंकि इसके रचयिता श्री शय्यमभवाचार्य चतुर्दश पूर्व के पाठी थे, सो उन्होंने यह सूत्र पूर्वश्रुत में से उद्धृत करके रचा है। छठे अध्ययन की आठवीं गाथा में महावीरेण देसिअं—और

क्या यह प्रामाणिक है?

इक्कीसवीं गाथा में 'नायपुत्तेण ताइणा' जो पद दिये हैं, वे सूचित करते हैं कि—दशवैकालिक में जो कुछ प्रतिपादन किया है, वह वीर वचनानुसार होने से सत्य ही है, असत्य नहीं। इसी प्रकार महानिशीथ सूत्र में भी श्री भगवान् महावीर स्वामी ने गौतमस्वामी जी से जो वक्तव्य किया है, उससे भी इस सूत्र की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। वह पाठ यों है—

गोयमाण इओ आसण्णकालेणं चेव महाजसे, महासत्ते, महाणुभागे, सेज्जंभवे अणगारे, महातवस्सी, महामई, दुवालसंगेसु अ धारि भवेज्जा, सेयं अपक्खवाएण अप्पाओ सवसत्ते सुअतिसअणं विभाय इकारसण्ह अगाण चोद्दसण्हं पुव्वाण परमसार वण्णियसुअ सुप्पओगेणं सुअधर उज्जुअ सिद्धिमग्गं दसवेआलिअ णाणासुयक्खंधाणि उद्दिज्जा। से भयवं! किं पडुच्च? गोयमा! मणग पडुच्च, जहाकई नाम एसण मणगस्स परिणएयां थोवकालेण ण एव महत्काले घोरदुक्ख आगाराओ चउगइससाराओ निफोडे भवपुगुच्छेवणं दवयओव

मनक का आयुष केवल छह मास का शेष रहा था। अस्तु, चारित्र की आराधना कराने के वास्ते श्री शय्यंभवाचार्य जीने पूर्वश्रुत में से संक्षिप्त रूप से, इस दशवैकालिक सूत्र का उद्धार किया। इस सूत्र के अध्ययन से मनक ने छह मास में ही स्वकार्य की सिद्धि की।

इस सूत्र की रचना आज से करीब तेईससो वर्ष से कुछ ऊपर हुई है। अर्थात् भगवान् महावीर के निर्वाण से ७५ वें वर्ष से ९८ वें वर्ष के मध्य में यह सूत्र बनाया गया है; क्योंकि इस समय में श्री शय्यंभवाचार्य श्री आचार्य पद पर प्रतिष्ठित थे और संघ का सचालन कर रहे थे इसी बीच की यह घटना है। ऐतिहासिक शोध के अनुसार दशवैकालिक का रचना काल, स्पष्टतया वीर संवत् ७५ के लग भग ठहरता है। श्री शय्यंभवाचार्य जी का स्वर्गवास वीर संवत् ९८ वे में हुआ था यानी आज से करीब तेईससो साठ वर्ष पूर्व। अब वीर संवत् २४५६ चालू है। इतने सुदीर्घ समय से आज तक, इस सूत्र का बदस्तूर संघ में पठन पाठन होता चला आरहा है। इसी से इस सूत्र की महत्ता प्रमाणित होती है।

उपर्युक्त वक्तव्य के लिये पाठकों को प्रमाणस्वरूप, कल्प सूत्र की सुबोधिनी व्याख्या का यह अंश देखना चाहिये-,

"तदनु श्रीशय्यंभवोऽपि स्वाधानमुक्तनिजमायांप्रसूतमनकाख्यपुत्रहिताय, श्रीदशवैकालिकं कृतवान्। क्रमेण च श्रीयशोभद्रं स्वपदे संस्थाप्य, श्री वीरात् नवत्या (९८) वर्षैः स्वर्जगाम" ॥

आगमोदयसमिति मुद्रित पृष्ठ १६१

तथा नन्दी सूत्र में श्रुतज्ञान के अधिकार में कहा गया है कि—"दुवालसंगं गणि-पिडगं चोद्दस पुव्विस्स सम्मसुअं अभिण्णदस पुव्विस्स सम्मसुअं, तेण परं भिण्णेसु भयणा से तं सम्मसुअं। [सू॰ ४१] अर्थात् गणि पिटक की संज्ञा वाले आचारांग आदि द्वादशांग सूत्र और चतुर्दश पूर्व से लेकर दश पूर्व सम्पूर्ण तक के ज्ञाता मुनियों के रचित शास्त्र सब सम्यक् श्रुत हैं अतः पूर्ण रूप से सत्य हैं। और जो अपूर्ण दश पूर्व के पाठी होते हैं, उनका रचा शास्त्र सन्दिग्ध होता है—यानी वह सम्यक श्रुत भी हो सकता है और मिथ्या श्रुत भी। अस्तु इस नन्दी सूत्र के वचन से भी दशवैकालिक प्रमाण कोटि में है, क्यों कि श्री शय्यम्भवजी चतुर्दश पूर्व के पाठी थे, श्रुतकेवली थे। श्री हेमचन्द्राचार्य ने अपने अभिधान चिन्तामणि कोष में के देवाधिदेव कांड में छः श्रुत केवली माने हैं, उनमें शय्यम्भवजी दूसरे नम्बर पर हैं। तथाहि—

अथ प्रभव प्रभुः

शय्यम्भवो यशोभद्र, संभूतविजयस्ततः ॥ २ ॥

भद्रबाहुः, स्थूलभद्रः, श्रुतकेवलिनो हि षट्।

अस्तु उपर्युक्त प्रमाणों से इस दशवैकालिक सूत्र की प्रामाणिकता निर्विवाद सिद्ध है। इसे बने मात्र तेईस सौ वर्ष से कुछ ऊपर का सुदीर्घ समय हो चुका है, किन्तु इस बीच में किसी भी

पसेर्पा से अ सव्वण्णुए से अपोरपारे दुस्तगाहे अणंतगमपज्जवे हि नो सक्का अप्पेण कालेणं अवगाहीओ तहाणु गोयमा ! अइहिपणं चिंतेज्जा एय सेण २ सेज्जमवे जहा अणतपहापार महुजाणियव्वं कालो महुलोए विग्घे च्चं सारभूअ त गिहिअं यं ई सो जहा खीरमिव घुमिसचेय इमं संमयं सच ममणगस्स तपपरिमाण मवउति काउण जाव णं दसवे- आलिअं सुयसंघणी काइज्जा। त च वोच्छिन्नेणं त काल दुवालसगेण गणि पिडगेणं जाव ण दुसमामा परियेरत दुप्पसहे ताप ण सुततेणं चा जणा से सयल आगम सया वि संदेह दसवेआलिअ सुपक्खं सुत्त अ अहिज्जिए गोयमा ! (अज्झयन ५ दुप्पमारक प्रकरण) +

इस पाठका संक्षिप्त भाव यह है कि— हे गोतम ! मेरे बाद निकट भविष्य में ही द्वादशांग का ज्ञाता महान तपस्वी शय्यंभवाचार्य होगा। वह बिना किसी पक्षपात के धर्म बुद्धि से प्रेरित होकर अल्पायु मनक शिष्य की आराधना के लिये चतुर्दश पूर्वों का सारभूत दशवैकालिक सूत्र निर्माण करेगा। वह सूत्र संसारतारक एवं मोक्षमार्गप्रकाशक होगा। उसे पढ़कर दुःषमकाल के अन्त में होने वाला दुप्पसह नामक साधु आराधना करके आराधक बनेगा।

+ यह महानिशीथ सूत्र यद्यपि श्वेताम्बर स्थानक वासी सम्प्रदाय को मान्य नहीं है तथापि प्रकरण संगति के लिये इस का उद्धरण दिया है।

तथा नन्दी सूत्र में श्रुतज्ञान के अधिकार में कहा गया है कि—"दुवालसंगं गणि-पिडगं चोद्दस पुव्विस्स सम्मसुअं अभिण्णदस पुव्विस्स सम्मसुअं, तेण परं भिण्णेसु भयणा से तं सम्मसुअं। [सू• ४१] अर्थात् गणि पिटक की संज्ञा वाले आचारांग आदि द्वादशांग सूत्र और चतुर्दश पूर्व से लेकर दश पूर्व सम्पूर्ण तक के ज्ञाता मुनियों के रचित शास्त्र सब सम्यक् श्रुत हैं अतः पूर्ण रूप से सत्य हैं। और जो अपूर्ण दश पूर्व के पाठी होते हैं, उनका रचा शास्त्र संदिग्ध होता है—यानी वह सम्यक् श्रुत भी हो सकता है और मिथ्या श्रुत भी। अस्तु इस नंदी सूत्र के वचन से भी दशवैकालिक प्रमाण कोटि में है, क्यों कि श्री शय्यम्भवजी चतुर्दश पूर्व के पाठी थे, श्रुतकेवली थे। श्री हेमचन्द्राचार्य ने अपने अभिधान चिन्तामणि कोष में के देवाधिदेव कांड में छः श्रुत केवली माने हैं, उनमें शय्यम्भवजी दूसरे नम्बर पर हैं। तथाहि—

अथ प्रभव प्रभुः

शय्यम्भवो यशोभद्र, संभूतविजयस्ततः ॥ ३ ॥

भद्रबाहुः, स्थूलभद्रः, श्रुतकेवलिनो हि षट्।

अस्तु उपर्युक्त प्रमाणों से इस दशवैकालिक सूत्र की प्रामाणिकता निर्विवाद सिद्ध है। इसे बने मात्र तेईस सौ वर्ष से कुछ ऊपर का सुदीर्घ समय हो चुका है, किन्तु इस बीच में किसी भी

आचार्य ने इसे अप्रमाण नहीं ठहराया। सभी आचार्य बिना क्यों और क्या के इसे प्रमाण मानते हैं और चारित्र वर्णन का प्रथम सूत्र मान कर पढ़ते—पढ़ाते आये हैं। यही कारण है कि—आज भी यह सूत्र श्वेतांबर आम्नाय की मूर्ति पूजक, स्थानक वासी और तेरापंथी नामक सभी शाखाओं में बिना किसी पक्षपात के प्रामाणिक माना जाता है और पठन-पाठन में लाया जाता है। जिनवाणी के समान ही इसे मानते हैं। क्यों न मानें, है तो जिनवाणी का संग्रह ही।

दशवै- कालिक नाम क्यों ?

इस सूत्र का चारित्रपरक नाम न होकर एक विलक्षण दशवैकालिक नाम क्यों है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि—यह सूत्र जब संग्रह होके समाप्त हुआ, तब असमय होगया था अतः वैकालिक शब्द की योजना दश अध्ययनों के भाव से 'दश' शब्द के साथ की गई जिससे इस सूत्र का नाम दशवैकालिक रक्खा गया। यह नाम दश अध्ययनों का और सूत्र समाप्ति के समय का संसूचक है, अतः यौगिक है।

मंगलाचरण क्यों नहीं

बहुत से सज्जन इस सूत्र की आदि में मंगलाचरण न होने के विषय में शंकित हैं उनसे कहना है कि—यह सूत्र समग्र ही अक्षरशः मंगल रूप है; क्यों कि यह निर्जरा का कारण भूत है सर्वज्ञ प्रणीत है। तथापि व्यवहार दृष्टि से इसमें भी आदि, मध्य और अन्त में मंगल विधान किया है। आदि मंगल 'धम्मो मंगल मुक्किट्ठं' है, मध्य मंगल 'नाण दंसण

संपन्न' ७ अ० है, और अन्तिम मंगल 'निक्खममाणाइ य बुद्धवयणे १० अ०' है। उक्त तीनों मंगलों से परम्परागत यह माना लिया जाता है—आदि मंगल शास्त्र की विघ्नोपशान्ति के लिये मध्य मंगल प्रतिपाद्य विषयात्मक ग्रन्थ को स्थिरी भूत करने के लिये, और अन्तिम मंगल शिष्यशाखा में ग्रन्थ के अव्यवच्छेद रूप से पठन पाठन के लिये किया जाता है। श्री जिनवाणी चार अनुयोगों में विभक्त है—चरण करणानुयोग =आचारांग आदि, धर्म कथानुयोग =सूत्र कृतांग आदि, गणितानुयोग = सूर्य प्रज्ञप्ति आदि, और द्रव्यानुयोग = दृष्टि वाद आदि। सो यह सूत्र प्रथम के चरणकरणानुयोग में होनेसे अतीव मंगल रूप है क्यों कि चरणानुयोग के बिना आगे के तीनों योग निष्फल ठहरते हैं। सार तत्व यही है।

प्रथम अध्ययन में धर्म प्रशंसा का वर्णन है। द्वितीय अध्ययन में संयम में धैर्य रखने का उपदेश दिया गया है। तृतीय अध्ययन में आत्म संयम के लिये छोटी-छोटी शिक्षाओं का वर्णन है। चतुर्थ में षट् काय के जीवों की रक्षा का विधान किया है। पाँचवें में संयम एवं तप की अभिवृद्धि के लिये शुद्ध भिक्षा-विधि का वर्णन है। छट्ठे में अष्टादश स्थानों का निरूपण कर के महाचारकथा का वर्णन किया है। सातवें में धर्मज्ञ पुरुषों को विशिष्ट धर्म की शिक्षाएँ दी गई हैं। नौवें में विनय का महत्व और उस का फल बतलाते हुये विनय धर्मका बड़ा ही विस्तृत विवेचन किया है। दशवें अध्ययनमें उपसंहार रूप में भावभिक्षु के लक्षणों का

किस अध्ययन में क्या वर्णन है

दिग्दर्शन कराया गया है। यह दश अध्ययनों का प्रतिपाद्य विषय है, इसी में आचार्य श्री ने बिन्दु में सिन्धु के समाने की लोकोक्ति चरितार्थ की है।

अब प्रसंगोपात्त यह बताया जाता है कि—दशवै कालिक के ये दश अध्ययन किन किन स्थानों से उद्धृत किये हैं। इसके विषय में दो मत प्रचलित हैं, एक पक्ष तो पूर्वों से दशवै-कालिक का उद्धार मानता है और दूसरा पक्ष द्वादशांग से। निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी अपनी निर्युक्ति में दोनों ही पक्षों का उल्लेख करते हैं—

कहाँ से उद्धृत है?

आयप्पवायपुव्वा , निज्जूढा धम्म पन्नत्ती ।
कम्मप्पवायपुव्वा , पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥१६॥
सच्चप्पवायपुव्वा , निज्जूढा होइ वक्कस्स ।
अवसेसा निज्जूढा , नवमस्स उ तइय वत्थुओ ॥ १७ ॥
बीओऽविअ आएसो , गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ ।
एअ कीर निज्जूढ , मणगस्स अणुग्गहट्ठाए ॥१८॥

भाव यह है कि—आत्म प्रवाद पूर्व में से धर्म प्रज्ञप्ति नामक चतुर्थ, कर्म प्रवाद पूर्व में से पिंडैषणा नामक पंचम अध्ययन सत्य प्रवाद पूर्व में से वाक्य शुद्धि नामक सप्तम अध्ययन, उद्धृत

किया और शेष अध्ययन नौवें प्रत्याख्यान पूर्व में से उद्धृत किये हैं। यह प्रथम पक्ष हुआ। अब दूसरा पक्ष यह है कि आचारांग आदि अंगशास्त्रों से इस सूत्र की रचना की गई है।

अब हमारा जहाँ तक विचार जाता है तदनुसार यह सूत्र दूसरे पक्ष की मान्यता के साथ वर्तमान काल के ३२ सूत्रों से सम्बन्ध रखता है। इसकी संगति इस प्रकार होती है—प्रथम अध्ययन की रचना, श्री अनुयोग द्वारसूत्र में कही गई साधु की १२ उपमाओं में से भ्रमर की उपमा को लेकर, की गई है। प्रथम अध्ययन में भ्रमर के दृष्टान्त से दार्ष्टान्तिक का भाव उतार कर यह सिद्ध किया है कि संसार में चारित्र धर्म ही उत्कृष्ट है और चारित्रधर्म की रक्षा मधुकरी वृत्ति से हो सकती है। अनुयोग द्वार सूत्र में साधु की बारह उपमाओं वाला पाठ यह है—उरगगिरि जलन सागर नह तल तरुगण समो अ जो होई, भमरमिय धरणि जलरुह रवि पवण समो अ सो समणो (१२१)। द्वितीय अध्ययन उत्तराध्ययन सूत्र के २२ वें अध्ययन से लिया गया है। इन दोनों अध्ययनों की तो विषय के साथ बहुत सी गाथाएं भी मिलती हैं। तृतीय अध्ययन नशीथ आदि सूत्रों से लिया है। चतुर्थ अध्ययन आचारांग सूत्र के २४ वें अध्ययन के अनुसार रचा हुआ प्रतीत होता है। पंचम अध्ययन आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध के पिंडैषणा नामक प्रथम अध्ययन का प्रायः अनुवाद है। षष्ठ अध्ययन समवायांग सूत्र के अष्टादश समवाय की अष्टदश शिक्षाओं का विवेचन रूप है। तथा च तत्पाठः—समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं निग्गंथाणं सखुड्डय वियत्ताणं अट्ठारस ठाणा प० त०

वयएक्क ६ कायएक्क १२ अकम्पो १३ गिहिमायर्णं १४ पक्रियंक १५ निसिज्जाए १६ सिणाणं १७ सोभव ज्जणं १८ ॥ सातवाँ अध्ययन आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध के तेरहवें भाषा नामक अध्ययन का अनुवाद है। आठवाँ स्थानांग सूत्र के आठवें स्थानक से विवेचनपूर्वक लिया गया है, तथा च पाठः अट्ठसुहुमा प० तं०—पाणसुहुमे १ पणग सुहुमे २ बीयसुहुमे ३ हरितसुहुमे ४ पुप्फसुहुमे ५ अंडसुहुमे ६ लेणसुहुमे ७ सिणेहसुहुमे ८ (सू० ६१५) सब रहे बाकी के नवम और दशम अध्ययन, सो भिन्न भिन्न सब सूत्रों की अनुपम शिक्षाओं से समलंकृत हैं। यह दूसरा पक्ष हुआ। युक्त्यनुसार विचारविनिमय करनेपर अधिक अंशों में प्रथम की अपेक्षा द्वितीय पक्ष ही बलवान् प्रतीत होता है। आगे तत्व सर्वज्ञगम्य है।

दशवैकालिक सूत्र पर अतीव प्रसिद्धि में आई हुई निर्युक्ति टीका और दीपिका के नाम से

दशवैकालिक सूत्र की व्याख्याएँ

तीन व्याख्यायें हैं; जो बड़ी ही सुन्दर एवं मननीय हैं। निर्युक्ति प्राकृत गाथाओं में है, जिसके रचयिता भद्रबाहु स्वामी माने जाते हैं। बहुत से सज्जन इसके रचयिता उन्हीं भद्रबाहु स्वामी को मानते हैं, जो मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त के गुरु थे। किन्तु विचार करने पर यह निर्युक्तिकार भद्रबाहु उनसे अन्य ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि निर्युक्ति में दशवैकालिक के अध्ययनों का पूर्वोक्त रीत्या उद्गम बतलाते हुये दोपक्ष कथन किये हैं, सो वे चन्द्रगुप्त कालीन भद्रबाहु स्वामी तो मति, श्रुत, अवधिज्ञान के धारी एवं चतुर्दशपूर्व के

पाठी थे, दोपक्षों के संशय में क्यों पड़ते। ज्ञानबल से किसी एक उचित पक्ष का ही उल्लेख करते। तथा निर्युक्ति में भी शय्यंभवाचार्य का जिनप्रतिमा के दर्शन से प्रतिबोधित होना लिखा है, सो भी ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि यदि ऐसा होता तो महानिशीथ सूत्र में भी शय्यंभवाचार्य के वर्णन में यह कथन आता। अस्तु इसी प्रकार की अन्य बातों के भी देखने से यह निर्युक्तिकार भद्रबाहु, पूर्वपाठी भद्रबाहु से भिन्न और पीछे के जान पड़ते हैं। इस पर ऐतिहासिक विद्वानों को विशेष लक्ष्य देना चाहिये। अब रही टीका और दीपिका। इनके रचयिता क्रमशः हरिभद्र सूरि और समय सुन्दर गणी हैं, जो दोनों ही प्रौढ़ विद्वान् हैं। हरिभद्र सूरि तो बड़े ही तार्किक विद्वान् थे। इनके बहुत से ग्रन्थ बनाये हुये हैं, जिनको देखकर विधर्मी विद्वान् भी इनकी विद्वत्ता की प्रशंसा करते हैं।

मूलसंख्या कब हुई ?

नन्दी सूत्र में श्रुतज्ञान के अधिकार में सूत्रों को अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य नामक दो भागों में विभाजित किया है। अंगप्रविष्ट में आचारांग आदि द्वादशांगों का ग्रहण है। अब रहा अंगबाह्य, उसके भी आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त दो भेद किये हैं। फिर आवश्यक व्यतिरिक्त के भी कालिक और उत्कालिक दो भेद करके उत्कालिक सूत्रों की गणना में सर्वप्रथम दशवैकालिक सूत्र का नाम कथन किया है। अतएव सिद्ध हुआ कि—यह सूत्र प्राचीन समय में प्रथम उत्कालिक नाम से प्रसिद्ध था। जब सूत्रों की संख्या अल्प होने लगी और कतिपय मतवादी सूत्रों में गड़बड़ मचाने लगे, तो बत्तीस सूत्रों के माननेवालों ने अंग, उपांग, मूल, छेद और

आवश्यक भेद से सूत्रों के पाँच विभाग कर दिये। यथा—आचारांग आदि ११ अंग सूत्र, उववाई आदि १२ उपांग सूत्र दशवैकालिक आदि ४ मूल सूत्र, नशीथ आदि ५ छेद सूत्र, और ३२ वाँ आवश्यक सूत्र। इस प्रकार ये वर्तमानकाल प्रचलित अंग आदि संज्ञाएं अर्वाचीन ही प्रतीत होती हैं सूत्रों में इन संज्ञाओं का कोई विधान नहीं है। मूल और छेद संज्ञाएं अंग और उपांग संज्ञाओं से भी अर्वाचीन हैं। क्यों कि श्रीहेमचन्द्राचार्य अभिधानचिन्तामणि कोष के द्वितीय कांड में ११ अंग सूत्रों और १२ उपांग सूत्रों का नामोल्लेख करके 'इत्येकवशा सोपाङ्गान्यङ्गानि' पद देकर अंग और उपांग संज्ञा तो स्वीकार करते हैं, किन्तु आगे मूल और छेद के विषय का कुछ ज़िक्र नहीं करते। अतः सिद्ध है कि—दशवैकालिक आदि सूत्रों की मूल संज्ञा का विधान आचार्य हेमचन्द्र से भी पीछे हुआ है। आचार्य हेमचन्द्र विक्रम की १२ वीं शताब्दी के लग भग हुये हैं। अब कहना यह है कि—यह मूल संज्ञा अर्वाचीन भले ही हो किन्तु है पूर्ण सार्थक। आद्य कल्प यह सूत्र सर्वप्रथम पाठ्य होने से मूल रूप ही है।

चूलिकाएं

दशवैकालिक सूत्र पर दो चूलिकाएं भी हैं, जिन्हें परिशिष्ट कह सकते हैं। इनके कर्ता सूत्रकार श्री शय्यंभवाचार्य नहीं है किन्तु कोई अन्य ही हैं। रचयिताने अपना नामोल्लेख नहीं किया है। चूलिकाएं साधुचर्या की प्रतिपादिका हैं एवं अतीव शिक्षामय हैं। अतः हमने भी प्रस्तुत प्रति में इनको सहर्ष स्थान दिया है। ये दोनों चूलिकाएं

शास्त्रसम्मत हैं, अतः प्रमाणिक मानी जाती हैं। निर्युक्तिकार भी इनकी प्रमाणिकता स्वीकार करते हैं—

> दो अज्झयणा चूलिअ, विसीययंते थिरीकरणमेग।
>
> बिइए विवित्तचरिआ, असीयणगुणाइरेगफला ॥२४॥

प्रस्तावना का आकार अधिक लम्बा होता जा रहा है, तथापि चूलिकाओंकी उत्पत्ति के विषय में जो जनता में एक निराधार किंवदन्ती प्रचलित है उसपर प्रकाश डाला जाता है। वृहद्वृत्ति और दीपिका टीका में वृद्धवाद के नाम से लिखा है कि—किसी साध्वी ने चतुर्मास आदि पर्व के अवसर पर एक ऐसे दुर्बल साधु को उपवास करा दिया जो अपनी क्षुधा नहीं सहन कर सकता था। क्षुधा न सह सकने के कारण साधु की उस उपवास में ही मृत्यु होगई। साध्वी को बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि, हाय ? मैं ऋषिघातिका होगई, मेरी कैसे आत्मशुद्धि हो ? अस्तु शासन देवी के द्वारा वह महाविदेह क्षेत्र में भगवान् श्री सीमंधर स्वामी के पास पहुंची और आलोचना की। भगवान् ने कहा कि आर्ये! तू निर्दोष है, तेरे भाव साधु के हित के थे, नकि मारने के। वापिस आते समय भगवान् ने कृपा करके साध्वी को उक्त दो चूलिकाएं दीं। भगवत्प्रदत्त होने से भारतीय जैनसंघ में चूलिकाओं का बहुत आदर एवं प्रचार हुआ। यही चूलिकाओं के आविर्भाव की कहानी है, जो श्वेताम्बर

मूर्ति पूजक समाज में विशेष स्थान पाई हुई है। हमें इस कहानी के विषय में कहना है कि यह निरी कल्पना है। इसमें कुछ भी तथ्य नहीं है। क्यों कि अम्बत्तो महाविदेह और पंचमारक कालीन भारत के मनुष्यों की शारीरिक अवगाहना में बड़ा भारी अन्तर है। सो अतीव क्षुद्र अवगाहना वालों में किस प्रकार यह सकेंगी दूसरे यह आर्या कब हुई ? किस आचार्य के समय में गई ? चूलिका किस भाँति लाई, पानी पत्र रूप में लाई या कंठस्थ कर के लाई ? भगवान् ने दशवैकालिक की ही चूलिका क्यों प्रदान कर दी ? क्या महाविदेह में भी यही भाषा बोली जाती है ? क्या वहाँ पर भी य ही कल्प है, जो चूलिका में भारत की अपेक्षा से दिये हैं? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर भी इस कहानी से कोई नहीं मिलता। चूलिकाओं के विषय में जो मत ऊपर देकर आये हैं हमें तो वही सुसंगत जान पड़ता है।

गाथोच्चार की भाषभता

बड़े खेद की बात है कि वर्तमान सूत्रों के पाठों में बहुत कुछ भेद पड़ा हुआ है। किसी प्रति में कुछ पाठ है, तो किसी में कुछ। कोई किसी पाठ को प्रक्षिप्त मानता है, तो कोई किसी को। कोई किसी पाठ को अधिक एवं कंठस्थ कर रहा है, तो कोई किसी को। दशवैकालिक सूत्र के पाठों में भी यही गड़बड़ मची हुई है। अतः श्रीसंघ से मेरी सविनय प्रार्थना है कि श्रीसंघ के मुख्य मुख्य धुरंधर विद्वान् विराट रूप में एकत्र होकर, आधुनिक मुद्रित प्रतियों, लिखित प्रतियों एवं ताड़ पत्र की प्राचीन प्रतियों का परस्पर मिलान करें और फिर सूत्रमाला के

नाम से सब आगमों को अतीव शुद्ध पद्धति से प्रकाशित करें, ताकि आगे फिर कोई व्यक्ति किसी पाठका न्यूनाधिक न करसके। यदि श्रीसंघ ने इस ओर ध्यान न दिया तो स्पष्ट है कि—संघ को इस प्रमाद का फल भविष्य में बहुत कुछ हानिकर होगा। अतएव उक्तकार्य की सफलता के लिये अतिशीघ्र ही आगमप्रकाशक मंडल किंवा शास्त्रोद्धार सभा आदि किसी सुदृढ संस्था की योजना करदेनी चाहिये।

अंतिम निवेदन

अब अन्तिम निवेदन यह है कि—वर्तमान में दशवैकालिक सूत्र की बहुत सी मुद्रित प्रतियाँ मिलती हैं, जिन में संस्कृत गुर्जर और हिन्दी भाषा टीका वाली सभी हैं। परन्तु ये प्रतियाँ प्रायः पाठ भेदों एवं अशुद्धियों की भरमार के कारण सर्वोपयोगी नहीं हैं। उन से विरले ही धीमान् सज्जन लाभ उठाते हैं। अतएव कतिपय साहित्यप्रेमी सज्जनों की एवं अपने अन्तर्हृदय की प्रेरणा से प्रेरित होकर, मैंने यह दशवैकालिक सूत्र की आत्मज्ञान प्रकाशिका नामक हिन्दी भाषा टीका संस्कृत छाया, अन्वयार्थ, मूलार्थ और स्फुटार्थ (भाष्य) आदि से विभूषित की है। अतः मैं आशा करता हूँ कि—सूत्रप्रेमी सज्जन इससे लाभ उठाकर पुण्य के भागी बनेंगे, और साथ ही मुझे भी कृतार्थ करेंगे। यदि किसी स्थान पर प्रमादवश, अर्थ वा पाठ में कोई अशुद्धि रहगई हो तो कृपया पाठक, गीतार्थों द्वारा शुद्ध करके पढ़ें और सूचित करें—ताकि मैं अपनी उचित भूल को स्वीकार करके सम्यग् ज्ञान की आराधना करूं।

इस कार्य में मुझे आगमोदय समिति, मकसूदाबाद निवासी राय धनपतिसिंह प्रतापसिंह बहादुर, एवं वीतराग घेला भाई (अहमदाबाद) आदि मंडल तथा सज्जनों की ओर से मुद्रित प्रतियों से तथा बहुत सी लिखित प्रतियों से सहायता मिली है। प्रस्तुत प्रति का मूलपाठ तो प्रायः आगमोदय समिति की प्रति के आधार पर ही रक्खा है। एतदर्थ सभी धन्यवादार्ह हैं। साथ ही मैं श्री १००८ श्री गणावच्छेदक गणपति राय जी महाराज व श्री गणावच्छेदक जयरामदासजी महाराज व प्रवर्तक पद विभूषित श्री शालिग्राम जी महाराज, का भी अतीव ऋणी हूं। क्योंकि इन्हीं दयालु मुनिवरों की कृपा से सर्व-प्रकार से असमर्थ भी मैं, इस महान् कार्य को पूर्ण कर सका हूं।

धर्म प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि— इस शास्त्र के अल्पाक्षर महार्थ, महाक्षर अल्पार्थ महाक्षर महार्थ और अल्पाक्षर अल्पार्थ—इस प्रकार चार भंग होते हैं। सो यह दशवैकालिक सूत्र अल्पाक्षर महार्थ नामक प्रथम भंग से युक्त है। सो उपक्रम नय निक्षेप और उपोद्घात आदि द्वारा इस सूत्र का आलोचना पूर्वक अध्ययन करना चाहिये। और यथाशक्य प्रतिपाद्य विषय को अपने जीवन में उतारना चाहिये। ऐसा करने से आप, ज्ञानात्मा और चारित्रात्मा की शुद्धि कर सकेंगे और स्वपर तारक पद पर पहुंच कर, शिवसुख के अधिकारी बन सकेंगे।

भवदीय—

जैन मुनि उपाध्याय आत्माराम।

प्रकाशक महोदय का संक्षिप्त परिचय ।

" स जातो येन जातेन , याति वंशः समुन्नतिम् " —पचतंत्र ।

पूर्व वक्तव्य

पटियाला राज्य के महेन्द्रगढ़ (कानूंड) नामक नगर में भाग्यवान सेठ नेतराम जी जैन अग्रवाल एक प्रसिद्ध गृहस्थ थे। आपने श्वेताम्बर स्थानकवासी श्री पूज्य मनोहरदास जी महाराजकी सम्प्रदाय के प्रख्यातनामा आचार्य श्री तुलसीरामजी महाराज व प० श्री रत्नचन्द्रजी महाराज के उपदेश से सम्यक्त्व धारण की और सामायिक संवर आदि का योग्य ज्ञान प्राप्त कर, सनातन जैन धर्म के धुरंधर श्रद्धालु उपासक बने। आपके शोभासंपन्न गृह में संवत् १८८८ पौष कृष्णा नवमी को पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ, जिसका शुभ नाम रामनारायण जी रक्खा गया। रामनारायण जी सामयिक शिक्षा से शिक्षित होकर योग्यवय में व्यापारार्थ हैदराबाद (दक्षिण) पहुंचे, और वहाँ अपनी चतुरता से व्यापार में उन्नति करते हुये लाखों की संपत्ति के स्वामी बने एवं हैदराबाद के धनी मानी व्यापारियों में अग्रगण्य माने जाने लगे। आपकी सभ्यता एवं धर्म भावना ने यहां तक किया कि आप हि० हा० महबूबखां नवाब निजाम सरकार के दरबार में सम्मानित हुये यानी निजाम सरकार के मुख्य जौहरी नियत हुये। आपने पुत्र के अभाव से सेठ सुखदेवसहाय जी को

दत्तक पुत्र लिया। सेठ सुखदेवसहायजी का जन्म पौष कृष्णा १५ सं० १९२० में हुआ था। आप भी अपने पिता की भाँति बड़े ही उदार प्रकृति के थे। आपने भी श्री मनोहरदास जिरसंप्रदायी प्रतापी मुनि श्री मगलसेन जी महाराज के पास सम्यक्त्व धारण की और दृढ़धर्मी श्रावक बने। निजाम सरकार के यहाँ आपने अपने पिताजी से भी बढ़कर आदर पाया और उनके खास सलाहकारों की श्रेणी में सम्मानित हुये। आपकी सर्वप्रियता यहाँ तक हुई कि सं० १९७० में निजाम सरकार ने आपको रायबहादुर की उपाधि से समलंकृत किया। आप बड़े ही दयालु एवं शान्त प्रकृति के मनुष्य थे। असहाय दीनजनों के तो आप पिता के समान पालक थे। गरीब साधर्मी भाईयों को आप आवश्यकतानुसार सहायता देते रहते थे। कितने ही भाइयों की दयनीय दशा को देखकर आपने हजारों रुपियों का ऋण मुआफ कर दिया था।

जन्म

इन्हीं दानवीर सेठ सुखदेव सहाय जी के घर श्रावण कृष्णा १ सं० १९५० के शुभदिन पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ जिन का नाम रक्खा गया सेठ ज्वालाप्रसाद जी। यही अपने प्रिय चरित्र नायक हैं। पूज्य पिता जी जब आप को प्रथम बार निजाम सरकार के दरबार में ले गये, तो नवाब साहिब ने प्रसन्न होकर, जेब खर्च के लिए १००) रु० मासिक राज्य कोष से देने का फर्मान जारी किया था। पिता जी ने आपकी शिक्षा का भी अच्छा ध्यान रक्खा। सुयोग्य अध्यापक के यहाँ आपने हिन्दी, उर्दू अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त की। किन्तु बराबर स्वास्थ्य के ठीक न रहने से एवं व्यापार कार्य में लगजाने से, आप ऊँची शिक्षा नहीं प्राप्त कर सके।

जहाँ तक देखा गया है धर्म प्रेमी भव्यों को धर्म कार्य में अत्यधिक मदद करने वाले महापुरुष अवश्य मिलकर ही रहते हैं। यही बात है कि—ऋषिसम्प्रदाय के घोर तपस्वी श्री

साहित्य प्रेम और कान्फ्रेंस

केवल ऋषि जी महाराज और पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज (तब तक आपको पूज्यपदवी नहीं थी) अनेकानेक कष्ट सहते हुए, बड़ी भारी लंबी यात्रा करके, स० १९६३ में हैदराबाद पहुंचे और आपके ही मकान पर ठहरे। आपके पिता श्री सुखदेव सहाय जी ने मुनि श्री की सेवा में अधिक दिलचस्पी ली और मुनि श्री की रची हुई जैनतत्त्व प्रकाश आदि कई सख्या बद्ध पुस्तकें निज द्रव्य से छपाकर अमूल्य वितरण की। आपकी तरफ से आजतक जो भी पुस्तकें छपी हैं, वे सब की सब बिना मूल्य ही वितरण की गई हैं। इसी समय मुनि श्री के पास हैदराबाद में तीन शिष्य दीक्षित हुये, उनके दीक्षामहोत्सव का समस्त व्यय आपके ही घर से हुआ था।

आपके पिता श्री ने संवत् १९७० में अखिल भारतवर्षीय श्वे० स्था० जैन कान्फ्रेंस का पंचम अधिवेशन सिकन्द्राबाद में कराया था। उसका समस्त खर्च आप ही की तरफ से हुआ था। इस अवसर पर आपकी तरफ से ७०००) रू० जीवदयादिफंड में दिया गया था। और धार्मिक साहित्य के प्रकाशन के लिये ५०००) रू० की लागत का एक प्रेस भी दिया था, जो "सुखदेव सहाय जैन प्रिंटिंग प्रेस" के नाम से अजमेर नगर में चलता रहा। आपकी अवस्था

दत्तक पुत्र लिया। सेठ सुखदेवसहायजी का जन्म पौष कृष्ण ११ सं० ११२० में हुआ था। आप भी अपने पिता की भाँति बड़े ही उदार प्रकृति के थे। आपने श्री श्री मनोहरदास किरसंप्रदायी प्रतापी मुनि श्री मंगलसेन जी महाराज के पास सम्यक्त्व धारण की और दृढधर्मी श्रावक बने। निजाम सरकार के यहाँ आपने अपने पिताजी से भी बढ़कर आदर पाया और उनके खास सम्मानकारों की श्रेणी में संमानित हुये। आपकी सर्वप्रियता यहाँ तक हुई कि सं० ११७० में निजाम सरकार ने आपको राजाबहादुर की उपाधि से समलङ्कृत किया। आप बड़े ही दयालु एवं शान्त प्रकृति के मनुष्य थे। असहाय दीनजनों के तो आप पिता के समान पालक थे। गरीब साधर्मी भाईयों को आप आवश्यकतानुसार सहायता देते रहते थे। कितने ही भाइयों की दयनीय दशा को देखकर आपने हजारों रुपियों का ऋण मुआफ कर दिया था।

इन्हीं दानवीर सेठ सुखदेव सहाय जी के घर श्रावण कृष्णा १ स० ११५० के शुभदिन पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ जिस का नाम रक्खा गया सेठ ज्वालाप्रसाद जी। यही अपने प्रिय चरित्र नायक हैं। पूज्य पिता जी जब आप को प्रथम बार निजाम सरकार के दरबार में ले गये, तो नवाब साहिब ने प्रसन्न होकर, जेब खर्च के लिए १००) रु० मासिक राज्य कोष से देने का फर्मान जारी किया था। पिता जी ने आपकी शिक्षा का भी अच्छा ध्यान रक्खा। सुयोग्य अध्यापक के यहाँ आपने हिन्दी उर्दू अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त की। किन्तु बराबर स्वास्थ्य के ठीक न रहने से एवं व्यापार कार्य में लगजाने से, आप ऊँची शिक्षा नहीं प्राप्त कर सके।

जन्म

जहाँ तक देखा गया है धर्म प्रेमी भव्यों को धर्म कार्य में अत्यधिक दृढ करने वाले महापुरुष अवश्य मिलकर ही रहते हैं। यही बात है कि—ऋषिसंप्रदाय के घोर तपस्वी श्री केवल ऋषि जी महाराज और पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज (तब तक आपको पूज्यपदवी नहीं थी) अनेकानेक कष्ट सहते हुये, बड़ी भारी लंबी यात्रा करके, सं० १९६२ में हैदराबाद पहुंचे और आपके ही मकान पर ठहरे। आपके पिता श्री सुखदेव सहाय जी ने मुनि श्री की सेवा में अधिक दिलचस्पी ली और मुनि श्री की रची हुई जैनतत्त्व प्रकाश आदि कई सख्या पद्य पुस्तकें निज द्रव्य से छपाकर अमूल्य वितरण की। आपकी तरफ से आजतक जो भी पुस्तकें छपी हैं, वे सब की सब बिना मूल्य ही वितरण की गई हैं। इसी समय मुनि श्री के पास हैदराबाद में तीन शिष्य दीक्षित हुये, उनके दीक्षामहोत्सव का समस्त व्यय आपके ही घर से हुआ था।

साहित्य प्रेम और कान्फ्रेंस

आपके पिता श्री ने संवत् १९७० में अखिल भारतवर्षीय श्वे० स्था० जैन कान्फ्रेंस का पंचम अधिवेशन सिकन्दराबाद में कराया था। उसका समस्त खर्च आप ही की तरफ से हुआ था। इस उत्सव पर आपकी तरफ से ७०००) रू० जीवदयाविभाग में दिया गया था। और धार्मिक साहित्य के प्रकाशन के लिये ५०००) रू० की लागत का एक प्रेस भी दिया था, जो "सुखदेव सहाय जैन प्रिंटिंग प्रेस" के नाम से अजमेर नगर में चलता रहा। आपकी अवस्था

इस समय १७ वर्ष की थी। अस्तु आपने भी इस पुण्य कार्य में पिता जी की पूर्ण सहायता की, और धर्म प्रेम का पूर्ण परिचय देकर, तभी से अपने समुज्ज्वल भविष्य की जैन समाज को सूचना देदी।

आपकी ओर से अन्य साहित्य का उद्घाटन कार्य हुआ, सो तो हुआ ही, किन्तु शास्त्रोद्धार का यह कार्य हुआ, जिस की तुलना नहीं की जासकती। मुनि श्री की प्रेरणा से

शास्त्रोद्धार

आपके पिता श्री दानवीर सेठ सुखदेव सहाय जी ने शास्त्रोद्धार के शुभ कार्य का विशाल आयोजन किया। किन्तु लिखते हुये अतीव खेद है कि कराल काल, लाला जी के सामने ही इस पुण्य कार्य को समाप्त होता हुआ न देख सका, और संवत् १९७४ आश्विन कृष्णा त्रयोदशी के दिन आप श्री का स्वर्गवास होगया। गृहस्थसम्बन्धी सभी प्रकार का भार अपने चारित्रनायक सेठ ज्वालाप्रसाद जी पर आपड़ा जिसे आपने पूरी दृढ़ता और सहनशीलता के साथ सँभाला। आप अपने पिता जी के अनुसार ही प्रत्येक धार्मिक, सामाजिक आदि कार्यों में भाग लेने लगे और अविच्छिन्न दान प्रणाली से अपने पितृवंश का गौरव अक्षुण्ण रखने लगे। पिता जी का प्रारंभ किया हुआ शास्त्रोद्धार का कार्य चालू रक्खा और पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज द्वारा हिन्दी भाषा में अनुवाद किये हुये, आचारांग आदि ३२ सूत्र, लाला जैन शास्त्र भंडार के नाम से स्थान स्थान पर अमूल्य वितरण किये। इस शास्त्रोद्धार के कार्य में आपके ४२०००) रुपए हुये, जिस के फलस्वरूप आज गाँव-गाँव में शास्त्रभंडार हैं, और जिन से धर्म प्रेमी जन प्रतिदिन लाभ उठाते हैं।

जीवदयाप्रेम व दान शाला

आप बड़े ही कोमल हृदय के पुरुष हैं। असहाय दीन दुखियों को देखकर, आपका हृदय दया द्रवित होजाता है। कितने ही असहाय मनुष्यों का आप की तरफ से पालन होता है। आप प्रायः प्रतिवर्ष शरदी की मौसम में दीन दुखियों को सौड़ या कपड़ आदि शीत निवारक वस्त्र बाँटते रहते हैं। महेन्द्रगढ में आपकी तरफ से दानशाला (सदावर्त) लगी हुई है, जहाँ से सैकड़ों दीन हीन प्राणी भोजन पाते हैं, और आप को हृदय से आशीर्वाद देते हैं। आपके जीव दया प्रेम को देखकर ही जीवदया प्रचारिणी सभा आगरा के कार्य कर्ताओं ने उक्त सभा के देहली में होने वाले, इसी वर्ष के वार्षिक अधिवेशन के लिये, आपको सभा सभापति बनाया और आप का सप्रेम स्वागत किया। अपने उक्त सभा के स्थायी फंड में १००) रु० प्रदान किये। तथा ज्वालादेवी कांगड़ा (पंजाब) की बलिहिंसा बंद कराने के लिये ५००) रु० सहायता का वचन दिया। इस के लिये सभा प्रयत्न कर रही है, आशा है, मूकजीवों की प्राण रक्षा का शुभ समय शीघ्र ही अहिंसा प्रेमियों के देखने में आये।

जिनेन्द्र गुरुकुल पंचकूला

जिनेन्द्रगुरुकुल पंचकूला (पंजाब) के विशाल भवन की नींव संवत् १९८५ माघशुक्ला १२ के दिन आपही के पवित्र करकमलों से रक्खी गई है। उस समय आपने स्थायी फंड में ११००) रु० दिया था। तथा फिर ७०००) रु० की लागत से अपने पूज्य पिता जी

के स्मारक में साहित्य भवन और सामायिक सेवम' का दो मंजिला भव्य भवन बनाकर गुरुकुल की
भेंट किया है। और फिर अभी ६००) रु० की जमीन गुरुकुल को खरीद कर दी है, और उसपर
अध्यापकों के मकानात बनवाने के लिये २१००) रु० दान दिये हैं। गुरुकुल का स्थान तो आप को
इतना पसंद आया है कि आपने वहाँ ११००) की जमीन खरीद कर एक कोठी बनवाई है और एक
बगीचा भी लगाया है। वह आपके चि० सुपुत्र माणिकचंद्र के नाम से माणिकभवन करके प्रसिद्ध
है। आपकी इन आदर्श सेवाओं से हर्षित होकर जिनेन्द्र गुरुकुल के चतुर्थ वार्षिकोत्सव पर २२ मार्च
सन् १९३२ को उपस्थित जैनसंघ ने, आपको 'जैनसमाजभूषण' की उपाधि से विभूषित किया है।
इसी गत भाद्रव आश्विन में, आपके निमंत्रण पर, जिनेन्द्र गुरुकुल के सभी ब्रह्मचारी और अध्यापक,
महेन्द्रगढ़ में आये हुये थे। भोजन आदि का समस्तव्यय आप ही की तरफ से हुआ था। ब्रह्मचारियों
के भजनकीर्तन आदि से बड़ा भारी आनंद रहा। आपकी सेवाओं से गुरुकुल, दिनोंदिन उन्नति की
ओर अग्रसर हो—यही वीर से प्रार्थना है।

आपने अभी एक वर्ष हुआ अपने निवासस्थान महेन्द्रगढ़ में, अपने पिता श्री सुखदेव सहाय

पुस्तकालय महेन्द्रगढ़

जी के नाम से एक सार्वजनिक पुस्तकालय एवं वाचनालय खोला है। इसका
समस्त व्यय आप अपनी तरफ से ही कर रहे हैं। इस थोड़े से अर्से में ही २००० के
करीब पुस्तकें इकट्ठी होगई हैं जिनमें धार्मिक, साहित्य, उपन्यास चरित्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि सभी

विषयों की पुस्तकें हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी मनोवृत्ति के अनुसार यथोचित लाभ उठा सकता है। इस समय पुस्तकालय में हिन्दी उर्दू, अंग्रेजी और संस्कृत भाषाओं के मासिक पाक्षिक साप्ताहिक एवं दैनिक, करीब १५। २० समाचार पत्र आते हैं जिन से समाचारपत्रप्रेमी काफी संख्या में प्रति दिन लाभ ले रहे हैं। महेन्द्रगढ का शिक्षित समाज लाला जी के इस अमूल्य शिक्षा प्रचार पर, सधन्यवाद प्रमुदित है।

विक्रमाब्द १९८८ फाल्गुण कृष्णा ५ मी के दिन महेन्द्रगढ में, श्री मनोहरदास जी महाराज की

आचार्यपद महोत्सव महेन्द्रगढ

संप्रदाय के शान्त स्वभावी वयोवृद्ध श्री मोतीरामजी महाराज को श्री संघ की ओर से आचार्य पदवी—पूज्यपदवी दी गई है। देहली, बड़ौत चिनोली नारनौल, अलवर आदि करीब ३०। ३५ क्षेत्रों के प्रेमी सज्जन उत्सव में सम्मिलित हुए थे। इस महोत्सव का कुल खर्च आपने ही उठाया है। भोजन, मोटर सवारी और उतारे आदिका सब प्रबंध आपही की तरफ से हुआ है। आपने उक्त संप्रदाय के सगठन के लिये भी काफी कोशिश की है।

अभी संवत् १९८९ ज्येष्ठ सुदी १२ के दिन इंदोर (मालवा) में ऋषिसम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध

आचार्य पद महोत्सव इन्दोर

शास्त्रोद्धारक बालब्रह्मचारी श्री अमोलक ऋषिजी महाराजको श्रीसंघ की तरफ से जो पूज्य पदवी दी गई है, उस उत्सव पर भी आपने उल्लेखनीय कार्य किया है। ऋषि श्रावकसमिति की स्थापना के समय आपने ५००) रु० संरक्षक के रूप में दिये और

के स्मारक में 'साहित्य भवन और सामायिक भवन' का दो मंजिला भव्य भवन बनाकर गुरुकुल को भेंट किया है। और फिर अभी १००) रु० की जमीन गुरुकुल को खरीद कर दी है, और उसपर अध्यापकों के मकानात बनवाने के लिये २५००) रु० दान दिये हैं। गुरुकुल का स्थान तो आप को इतना पसंद आया है कि आपने यहाँ ११००) की जमीन खरीद कर एक कोठी बनवाई है और एक बगीचा भी लगाया है। वह आपके चि० सुपुत्र माणिकचंद्र के नाम से माणिकभवन करके प्रसिद्ध है। आपकी इन आदर्श सेवाओं से हर्षित होकर जिनेन्द्र गुरुकुल के चतुर्थ वार्षिकोत्सव पर २२ मार्च सन् १९३२ को उपस्थित जैनसंघ ने, आपको 'जैनसमाजभूषण' की उपाधि से विभूषित किया है। इसी गत भाद्रव आश्विन में आपके निमंत्रण पर, जिनेन्द्र गुरुकुल के सभी ब्रह्मचारी और अध्यापक, महेन्द्रगढ़ में आये हुये थे। भोजन आदि का समस्तव्यय आप ही की तरफ से हुआ था। ब्रह्मचारियों के मजनकीर्तन आदि से बड़ा भारी आनंद रहा। आपकी सेवाओं से गुरुकुल, दिनोंदिन उन्नति की ओर अग्रसर हो—यही वीर से प्रार्थना है।

आपने अभी एक वर्ष हुआ अपने निवासस्थान महेन्द्रगढ में, अपने पिता श्री सुखदेव सहाय

पुस्तकालय मोहनाथ

जी के नाम से एक सार्वजनिक पुस्तकालय एवं वाचनालय खोला है। इसका समस्त व्यय आप अपनी तरफ से ही कर रहे हैं। इस थोड़े से अर्से में ही ३००० के करीब पुस्तकें इकट्ठी होगई हैं, जिसमें धार्मिक साहित्य, उपन्यास चरित्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि सभी

विषयों की पुस्तकें हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी मनोवृत्ति के अनुसार यथोचित लाभ उठा सकता है। इस समय पुस्तकालय में हिन्दी उर्दू, अंग्रेजी और संस्कृत भाषाओं के मासिक पाक्षिक साप्ताहिक एवं दैनिक, करीब १५।२० समाचार पत्र आते हैं जिन से समाचारपत्रप्रेमी काफी संख्या में प्रति दिन लाभ ले रहे हैं। महेन्द्रगढ का शिक्षित समाज लाला जी के इस अमूल्य विद्या प्रचार पर, सधन्यवाद प्रमुदित है।

विक्रमाब्द १९८८ फाल्गुण कृष्णा ५ मी के दिन महेन्द्रगढ में, श्री मनोहरदास जी महाराज की

आचार्यपद महोत्सव महेन्द्रगढ

सम्प्रदाय के शान्त स्वभावी तपोवृद्ध श्री मोतीरामजी महाराज को श्री संघ की ओर से आचार्य पदवी—पूज्यपदवी दी गई है। देहली, पटौदी, चिनोकी नारनौल, अलवर आदि करीब ३०।३५ क्षेत्रों के प्रेमी सज्जन उत्सव में सम्मिलित हुए थे। इस महोत्सव का कुल खर्च आपने ही उठाया है। भोजन, मोटर सवारी और उतारे आदिका सब प्रबंध आपही की तरफ से हुआ है। आपने उक्त संप्रदाय के संगठन के लिये भी काफी कोशिश की है।

अभी संवत् १९८९ ज्येष्ठ शुदी १२ के दिन इंदोर (मालवा) में ऋषिसम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध

आचार्य पद महोत्सव इन्दोर

शास्त्रोद्धारक बालब्रह्मचारी श्री अमोलक ऋषिजी महाराजको श्रीसंघ की तरफ से जो पूज्य पदवी दी गई है, उस उत्सव पर भी आपने उल्लेखनीय कार्य किया है। ऋषि श्रावकसमिति की स्थापना के समय आपने ५००) रु० संरक्षक के रूप में दिये और

के स्मारक में साहित्य भवन और सामायिक संयम' का दो मंजिला भव्य भवन बनाकर गुरुकुल की
भेंट किया है। और फिर अभी ६००) रु० की जमीन गुरुकुल को खरीद कर दी है, और उसपर
अध्यापकों के मकानात बनवाने के लिये २५००) रु० दान दिये हैं। गुरुकुल का स्थान तो आप को
इतना पसंद आया है कि आपने वहाँ ११००) की जमीन खरीद कर एक कोठी बनवाई है और एक
बगीचा भी लगाया है। वह आपके चि० सुपुत्र माणिकचंद्र के नाम से माणिकभवन करके प्रसिद्ध
है। आपकी इन आदर्श सेवाओं से हर्षित होकर जिनेन्द्र गुरुकुल के चतुर्थ वार्षिकोत्सव पर २२ मार्च
सन् १९२२ को उपस्थित जैनसंघ ने, आपको 'जैनसमाजभूषण' की उपाधि से विभूषित किया है।
इसी गत मास आश्विन में, आपके निमंत्रण पर, जिनेन्द्र गुरुकुल के सभी ब्रह्मचारी और अध्यापक
महेन्द्रगढ़ में आये हुये थे। भोजन आदि का समस्तव्यय आप ही की तरफ से हुआ था। ब्रह्मचारियों
के भजनकीर्तन आदि से बड़ा भारी आनंद रहा। आपकी सेवाओं से गुरुकुल, दिनोंदिन उन्नति की
ओर अग्रसर हो—यही वीर से प्रार्थना है।

आपने अभी एक वर्ष हुआ अपने निवासस्थान महेन्द्रगढ में, अपने पिता श्री सुखदेव सहाय

पुस्तकालय मोहनलाल

जी के नाम से एक सार्वजनिक पुस्तकालय एवं वाचनालय खोला है। इसका
समस्त व्यय आप अपनी तरफ से ही कर रहे हैं। इस थोड़े से अर्से में ही २००० के
करीब पुस्तकें एकत्रित होगई हैं, जिनमें धार्मिक, साहित्य, उपन्यास चरित्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि सभी

और इस अग्रिम पौषमास में, एकोत जि० मेरठ में, होने वाली एस. एस. जैन कान्फ्रेंस यू० पी० के सभापति बनने की आप से स्वीकृति लेकर गया है। यद्यपि आपके पास गृहस्थसम्बन्धी कतिपय कार्यों के कारण समय नहीं था। किन्तु समाजसेवा के कार्यों के प्रति आप नहीं कहना तो जानते ही नहीं। आपकी यह सामाजिक कार्यों के प्रति नहीं कहने की नहीं सदा चिरजीवी रहे।

मंगल कामना

आप के द्वारा होने वाले शुभकार्य, बहुसंख्यक हैं, संक्षिप्तता के दृष्टिबिन्दु से यहाँ सब का उल्लेख नहीं होरहा है। आप उदारता के पूरे धनी हैं। आपकी तरफ से अबतक ३०००००) के लग भग दान हो चुका है अब भी बराबर होता रहता है। आप अपार धनराशि के स्वामी होते हुये भी अतीव नम्र, विनयी एवं शान्तप्रकृति के धर्ता हैं। आपके अनुसार आपका परिवार भी सद्गुणी हैं। आपके इस समय सन्तानों में दो पुत्र और दो पुत्रियां हैं। बड़े पुत्र का नाम चि० माणिकचंद्र और छोटे पुत्र का नाम चि० महावीर प्रसाद है। ये दोनों पुत्र भी "होन हार बिरवान के होत चीकने पात" के सत्य आभाणक से, निकट भविष्य में ही समाज के कार्य क्षेत्र में अपनी अलौकिक प्रभा फैलायेंगे। अब शासनाधीश जगद्गुरु वीर प्रभु से मंगल कामना है कि—आप सपरिवार सदैव आनंद में रहें और तन, मन, धन से समाजसेवा करके अपने एवं समाज के अक्षुण्ण गौरव की वृद्धि करें।

मंत्री—
ऋषिश्रावकसमिति।

आप सर्वसम्मति से समिति के सभापति निर्वाचित हुये। इसी समय जैनगुरुकुल ब्यावर के निजी भवन के लिये अपील की जाने पर, आपने गुरुकुल को २५०१) रु० की स्वीकृति दी। ऋषि सम्प्रदाय के संगठन के लिये भी आपकी ओर से प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया है।

साधुसंमेलन

अभी निकट भविष्य में ही (सं० १९८९ फाल्गुण मास अजमेर में) जो अखिल भारतवर्षीय श्वे० स्था० जैन साधुसंमेलन होने आरहा है, उस को सफल बनाने के लिये आप पूर्ण प्रयत्न कर रहे हैं। सम्मेलन समिति के आप माननीय सदस्य हैं और उसकी देहली वाली कमेटी के आप सभापति भी हो चुके हैं। अभी हाल में (कार्तिक मास में) संमेलन की सफलता के लिये जो डेप्यूटेशन भारत के विभिन्न प्रान्तों में घूमा है, उसमें भी आप सम्मिलित थे। गुजरात कच्छ, काठियावाड़, मारवाड़ पंजाब आदि सुदूर प्रान्तों में डेपूटेशन ने भ्रमण किया और मुनिवरों से सम्मेलन में पधारने की वीनती के साथ सम्मेलन की सफलता के लिये दिव्य संदेश लिया। प्रायः सभी स्थानों पर डेपूटेशन का बड़ा जोरदार स्वागत हुआ। इस महती यात्रा में आप को महीने से ऊपर समय लगा, हालांकि आप की धर्मपत्नी रुग्णावस्था में थी और आपका तत्कालीन दुर्बल शरीर भी इस सुदूर यात्रा के योग्य नहीं था। आप सामाजिक कार्यों के आजाने पर अपने गृहसंबन्धी कार्यों की ओर कोई लक्ष्य नहीं देते। सामाजिक कार्यों में आपका उत्साह दर्शनीय होता है। यही बात है कि अभी हाल में ही जमनापार बड़ौत से एक डेपूटेशन आपके पास आया था

श्री जी की इस चमत्कारपूर्ण कृति के प्रकाशन का सौभाग्य मुझ सेवक को प्राप्त हुआ, एतदर्थ मैं अपने आप को धन्य समझता हूँ। आप (पाठक) भी यथाशक्यआचरणपूर्वक इस का अध्ययन करें और अपने आप को धन्य बनाएँ। आप सज्जनों से सेवक की यही एक विनीत प्रार्थना है, आशा है, इसे पूरी करने का सप्रेम कष्ट उठाएंगे।

यहाँ एक बात यह कहनी आवश्यक है कि, यह सूत्र प्रारम्भ में आगरा निवासी बाबू पद्मसिंहजी के यहाँ मुद्रित होना प्रारम्भ हुआ था वहाँ इसके ३१२ पृष्ठ मुद्रित भी हुए, किन्तु किन्हीं कारणों से वहाँ मुद्रण में विलम्ब होता देखकर, यहाँ स्थानीय महेन्द्रगढ के कौशिक प्रिंटिंग प्रेस में ही मुद्रण का प्रबन्ध किया। परन्तु यहाँ यह समस्या सामने उपस्थित हुई कि संशोधन कौन करे। प्राकृत जैनसूत्रों का संशोधन जैनपरिभाषाओं से अपरिचित संस्कृत पण्डितों के वश का नहीं। भावविपर्यय का भय बनाही रहता है। अस्तु इसी प्रसंग में अत्रविराजित श्री मनोहरदास जी महाराज की सम्प्रदाय के श्री श्री १००८ वर्तमान पूज्य श्री मोतीराम जी महाराज के शिष्य पं० श्री पृथ्वीचन्द्र जी महाराज से इस विषय का ज़िकर हुआ। आपने यह भार अपने ज्येष्ठ शिष्य प० श्री अमर चन्द्र जी महाराज को सौंपा और इसके लिये उत्साहप्रद प्रेरणा की। मुनि श्री ने भी यह साहित्यसेवा सहर्ष स्वीकार की और अपनी संशोधन की समस्या सहज में ही हल होगई। मुनि श्री बड़े ही उग्र उत्साही, साहित्यसेवी एवं सुन्दर लेखक हैं। आपकी लेखनशैली अतिललित, भावपूर्ण एवं हृदय को

किंचिद् वक्तव्य ।

प्रेमी पाठको ! यह टीका सहित दशवैकालिक सूत्र आपके पवित्र कर कमलों में सप्रेम समर्पित है। की प्रधानता इस सूत्र के विषय में मुझे कुछ कहना नहीं है, क्यों कि इस के विषय में जितना मैं जानता हू, उतना ही–नहीं–उससे भी अधिक आप स्वयं भी जानते हैं। हाँ यह अवश्य है कि यह सूत्र एक तो स्वयं ही बहुत अधिक सुन्दर एवं उपादेय है। दूसरे उपाध्याय श्री आत्माराम जी महाराज ने आत्मज्ञान प्रकाशिका विस्तृत एवं अति सरल टीका रच कर, इस की सुन्दरता तथा उपादेयता और भी अधिक बढ़ा दी है। उपाध्याय श्री महाराज से प्रायः सभी धार्मिक शिक्षाप्राप्त पाठक परिचित होंगे। आप प्राकृत भाषा के प्रतिष्ठाप्राप्त अप्रतिम विद्वान हैं। जैन सूत्रों के पूर्ण अभ्यासी एवं मर्मज्ञ हैं। आपने अनुयोग द्वार जैसे अतीव गूढ विषय के सूत्र पर यह सरल हिन्दी टीका रची है जो शिक्षित समाज में सभी प्रकार से आदरास्पद हुई है। आप उम परिश्रमी हैं साहित्यसेवा क भाव से कुछ न कुछ सदा लिखते ही रहते हैं। आप की लेखिनी में एक विशेष चमत्कार है, जिसस आप की लिखी हुई प्रायः सभी पुस्तकें सर्वप्रियपद पर पहुंची हैं। आपने दशवैकालिक की प्रस्तुत टीका के लिखने में भी अपना वही अद्भुत चमत्कार दिखलाया है और टीका के 'आत्मज्ञानप्रकाशिका' नाम को यथा नाम तथा गुण क दृष्टि बिन्दु से यौगिक बनाने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। उपाध्याय

श्री जी की इस चमत्कारपूर्ण कृति के प्रकाशन का सौभाग्य मुझ लेखक को प्राप्त हुआ, एतदर्थ मैं अपने आप को धन्य समझता हूँ। आप (पाठक) भी यथाशक्यआचरणपूर्वक इस का अध्ययन करें और अपने आप को धन्य बनायें। आप सज्जनों से लेखक की यही एक विनीत प्रार्थना है, आशा है, इसे पूरी करने का सप्रेम कष्ट उठाएँगे।

यहाँ एक बात यह कहनी आवश्यक है कि, यह सूत्र प्रारम्भ में आगरा निवासी बाबू पद्मसिंहजी के यहाँ मुद्रित होना प्रारंभ हुआ था वहाँ इसके ३१२ पृष्ठ मुद्रित भी हुए, किन्तु किन्हीं कारणों से वहाँ मुद्रण में विलम्ब होता देखकर, यहाँ स्थानीय महेन्द्रगढ के कौशिक प्रिंटिंग प्रेस में ही मुद्रण का प्रबन्ध किया। परन्तु यहाँ यह समस्या सामने उपस्थित हुई कि संशोधन कौन करे। प्राकृत जैनसूत्रों का संशोधन जैनपरिभाषाओं से अपरिचित संस्कृत पण्डितों के वश का नहीं। भावविपर्यय का भय बनाही रहता है। अस्तु इसी प्रसंग में अत्रविराजित श्री मनोहरदास जी महाराज की संप्रदाय के श्री श्री १००८ वर्तमान पूज्य श्री मोतीराम जी महाराज के शिष्य पं० श्री पृथ्वीचन्द्र श्री महाराज से इस विषय का ज़िकर हुआ। आपने यह भार अपने ज्येष्ठ शिष्य प० श्री अमर चन्द्र जी महाराज को सौंपा और इसके लिये उत्साहप्रद प्रेरणा की। मुनि श्री ने भी यह साहित्यसेवा सहर्ष स्वीकार की और अपनी संशोधन की समस्या सहज में ही हल होगई। मुनि श्री बड़े ही उग्र उत्साही, साहित्यसेवी एवं सुन्दर लेखक हैं। आपकी लेखनशैली अतिलालित्य भावपूर्ण एवं हृदय को

किंचिद् वक्तव्य !

प्रेमी पाठको ! यह टीका सहित दशवैकालिक सूत्र आपके पवित्र कर कमलों में सप्रेम समर्पित है। की प्रधानता इस सूत्र के विषय में मुझे कुछ कहना नहीं है, क्यों कि इस के विषय में जितना मैं जानता हूं, उतना ही—नहीं—उससे भी अधिक आप स्वयं भी जानते हैं। हाँ यह अवश्य है कि यह सूत्र एक तो स्वय ही बहुत अधिक सुन्दर एवं उपादेय है, दूसरे उपाध्याय श्री आत्माराम जी महाराज ने आत्मज्ञान प्रकाशिका विस्तृत एवं अति सरल टीका रच कर, इस की सुन्दरता तथा उपादेयता और भी अधिक बढ़ा दी है। उपाध्याय जी महाराज से प्रायः सभी धार्मिकशिक्षाप्राप्त पाठक परिचित होंगे। आप प्राकृत भाषा के प्रतिष्ठाप्राप्त उद्भट विद्वान हैं। जैन सूत्रों के पूर्ण अभ्यासी एवं मर्मज्ञ हैं। आपने अनुयोग द्वार जैसे अतीव गूढ विषय के सूत्र पर यह सरल हिन्दी टीका रची है जो शिक्षित समाज में सभी प्रकार से आदरास्पद हुई है। आप उग्र परिश्रमी हैं, साहित्यसेवा के भाव से कुछ न कुछ सदा लिखते ही रहते हैं। आप की लेखिनी में एक विशेष चमत्कार है, जिससे आप की लिखी हुई प्रायः सभी पुस्तकें सर्वप्रियपद पर पहुंची हैं। आपने दशवैकालिक की प्रस्तुत टीका के लिखने में भी अपना वही अद्भुत चमत्कार दिखलाया है और टीका के 'आत्मज्ञानप्रकाशिका' नाम को यथा नाम तथा गुण की दृष्टि बिन्दु से यौगिक बनाने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। उपाध्याय

"णमोत्थुण समणस्स भगवतो महावीरस्स"

सिरि-दसवेआलियं-सुत्तं ।

दुमपुप्फिया पढम अज्झयण ।

(श्रीदशवैकालिक सूत्र ।)

द्रुमपुष्पित नामक प्रथम अध्ययन ।

धर्म—मगल और धर्म—माहात्म्य—

धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिसा सजमो तवो ।
देवा वि त नमसति, जस्स धम्मे सया मणो ॥ १ ॥

जाती हुई होती है। आपकी अमरपद्य मुक्तावली, अमरजैनपुष्पांजली, आदर्शजीवन, अहिंसा-सिद्धान्त वीरस्तुति नामक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनका शिक्षित जनताने बड़े ही प्रेम से स्वागत किया है। आपने इस पुस्तक का भी बहुबुद्धिमत्ता से उत्साहपूर्वक सम्पादन किया है। लगातार पाँच महीने के कठिन परिश्रम से उपाध्याय जी के कच्चे लेख की हिन्दी भाषा को संशोधित करके पक्का लेख बनाया और यथास्थान पाद टिप्पणियाँ एवं विराम आदि से पुस्तक को मनोमोहक बना का रूप दिया। आपका यह साहित्यप्रेम हृदय से अभिनन्दनीय है। आपकी इस साहित्य सेवा के लिये सेवक साभार कृतज्ञ है। शासनपति वीर परमात्मा से प्रार्थना है कि मुनि श्री उत्तरोत्तर चिरायु-नूतन ज्ञान वृद्धि करें और भविष्य में अनेकानेक धार्मिक साहित्य की आदर्श सेवाओं द्वारा श्री संघ में पूर्ण परिचित हों-

लाला भवन
महेन्द्रगढ़ (पटियाला)
१०-११-१९५२-ई०

सेवक—
ज्वालाप्रसाद जैन जौहरी

या यह आत्मा निर्वाण पदको शीघ्र प्राप्त करेगा। क्योंकि जब तक आत्मा उपशमभाव या क्षयोपशमभाव अथवा क्षायिकभावको पूर्णपद प्राप्त नहीं करता, तब तक यह धर्मपथसे पराङ्मुख ही रहता है।

इसका कारण यह है कि औदयिकभावकी प्रकृतियां इस आत्माको संसारके पदार्थोंकी ओर ही प्रवृत्त कराती हैं। और औपशमिक आदि भावोंकी शक्तियां इस आत्माको निर्वाण साधनकेलिये उत्साहित तथा धारण्य करती हैं। इसीलिये ऐसे मंगलमय पदार्थ, मंगलमय कारणोंके सिद्ध करनेवाले प्रतिपादन किये गये हैं।

प्रत्येक आत्मा मंगल रूप पदार्थोंके देखनेकी इच्छा करता है। यह जानता है कि मंगलमय पदार्थोंके देखनेसे मुझे मंगल रूप पदार्थोंकी उपलब्धि होती रहेगी। संसारमें पांच प्रकारके पदार्थ मंगल रूप माने गये हैं; १-पुत्रादिके जन्मपर गाए जानेवाले मंगल रूप गीतों को 'शुद्ध मंगल' माना गया है, २-नूतन गृहादिकी रचना करनेको 'अशुद्ध मंगल' कथन कियागया है, ३-विवाहोत्सवके समय जो शुभ गीतादि गाए जाते हैं, उस को 'चमत्कार मंगल' प्रतिपादन किया गया है, ४-धनादिकी प्राप्तिको 'क्षीण मंगल' बतलाया गया है और पांचवां षट्कायकी रक्षा रूप धर्म मंगल श्रीभगवान् द्वारा वर्णन किया गया है।

धर्म मंगलके अतिरिक्त प्रथम कहे हुए चार मंगल समयान्तरमें अमंगलके रूपको भी धारण कर लेते हैं। परन्तु धर्म मङ्गल संसार पक्षमें उक्त मङ्गलोंकी प्राप्ति कराता हुआ जीवको निर्वाण पदकी प्राप्ति करानेमें भी अपनी सामर्थ्य रखता है। कारण कि—

धर्मः मगलमुत्कृष्टम् , अहिंसा सयमस्तप ।
देवा अपि त नमस्यन्ति, यस्य धर्मे सदा मनः ॥ १ ॥

पदार्थ—(**धम्मो**) धर्म (**मगल**) मगल (**उक्किट्ठ**) उत्कृष्ट है जो (**अहिंसा**) दया (**सजमो**) सयम (**तवो**) तपरूप है, (**जस्स**) जिसका (**धम्मे**) धर्ममें (**सया**) सदा (**मणो**) मन है (**देवा**) देवता (**वि**) भी ,अपि शब्द से अन्य चक्रवर्त्यादि) (**त**) उस (धर्मयुक्त व्यक्ति को) (**नमसति**) नमस्कार करते हैं।

मूलार्थ—अहिंसा, सयम और तप रूप जो धर्म मगल है, वह उत्कृष्ट मगल है। जिसका उक्त धर्ममें मन सदा लगा रहता है, उस धर्मात्माको देवता तथा अन्य, चक्रवर्त्यादि भी नमस्कार करते हैं।

विस्तृतार्थ—यद्यपि इस अनादि अनन्त ससार चक्रमें परिभ्रमण करते हुए प्रत्येक प्राणी को प्रत्येक पदार्थकी प्राप्ति हुई, हो रही है और होगी, परन्तु जिससे यह ससारसे पार हो जाय उस पदार्थकी उसे प्राप्ति होना असाध्य तो नहीं, किन्तु कष्टसाध्य अवश्य है। जब पूर्व पुण्यो दय अथवा। स्वकीय क्षयोपशम भावके कारण मनुष्य जन्मकी और उसके सहकारी पदार्थोंकी प्राप्ति हो, तब जानना चाहिये कि निर्वाण पद अब इस आत्माके निकट हो रहा है।

या यह आत्मा निर्वाण पदको शीघ्र प्राप्त करेगा। क्योंकि जब तक आत्मा उपशमभाव या क्षयोपशमभाव अथवा क्षायिकभावको पूर्णतया प्राप्त नहीं करता, तब तक वह धर्मपथसे पराङ् मुख ही रहता है।

इसका कारण यह है कि औदयिकभावकी प्रकृतियां इस आत्माको संसारके पदार्थोंकी ओर ही प्रवृत्त कराती हैं। और औपशमिक आदि भावोंकी शक्तियां इस आत्माको निर्वाण साधनकेलिये उत्साहित तथा बाध्य करती हैं। इसीलिये ऐसे मंगलमय पदार्थ, मंगलमय कार्योंके सिद्ध करनेवाले प्रतिपादन किये गये हैं।

प्रत्येक आत्मा मंगल रूप पदार्थोंके देखनेकी इच्छा करता है। वह जानता है कि मंगलमय पदार्थोंके देखनेसे मुझे मंगल रूप पदार्थोंकी उपलब्धि होती रहेगी। संसारमें पांच प्रकारके पदार्थ मंगल रूप माने गये हैं, १–पुत्रादिके जन्मपर गाए जानेवाले मंगल रूप गीतों को 'शुद्ध मंगल' माना गया है, २–नूतन गृहादिकी रचना करनेको 'अशुद्ध मंगल' कथन कियागया है, ३–विवाहोत्सवके समय जो शुभ गीतादि गाए जाते हैं, उस को 'चमत्कार मंगल' प्रतिपादन किया गया है, ४–धनादिकी प्राप्तिको 'क्षीण मंगल' बतलाया गया है और पांचवां षट्कायकी रक्षा रूप धर्म मंगल श्रीभगवान् द्वारा वर्णन किया गया है।

धर्म मंगलके अतिरिक्त प्रथम कहे हुए चार मंगल समयान्तरमें अमंगलके रूपको भी धारण कर लेते हैं। परन्तु धर्म मङ्गल संसार पक्षमें उक्त मङ्गलोंकी प्राप्ति कराता हुआ जीवको निर्वाण पदकी प्राप्ति करानेमें भी अपनी सामर्थ्य रखता है। कारण कि—

"दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः"।

'धर्म' शब्दकी व्युत्पत्ति शास्त्रकारोंने यही कथन की है कि जो दुर्गतिमें पड़ते हुए प्राणियोंको उठा कर सुगतिमें स्थापन करता है, उसे 'धर्म' कहते हैं। तथा जिस प्रकार सुन्दर वा शुद्ध जल उद्यान वा आरामके सौन्दर्यको बढ़ाता है या पुष्पों आदिके विकसित करनेमें सहायक बनता है, ठीक उसी प्रकार धर्म मङ्गल भी आत्माके विकास करनेमें सहायक होता है। अत एव आत्माके विकास होनेकेलिये अथवा आत्माको ही मङ्गल रूप बनानेकेलिये इस गाथामें धर्म मङ्गलका ही अधिकार किया गया है।

प्रथमके चार मङ्गलोंका यहां इसलिये उल्लेख नहीं किया गया कि एक तो वे नित्य मङ्गल नहीं हैं। दूसरे वे धर्म रूप मङ्गलके ही फल रूप कथन किये गये हैं। इसलिये इस स्थानपर केवल धर्म मङ्गल वा धर्म मङ्गलके माहात्म्यका ही वर्णन किया गया है। क्योंकि सब मांगलिक पदार्थोंमें उत्कृष्ट वा सब मांगलिक पदार्थोंका उत्पादक धर्म मङ्गल ही है। यह धर्म्म मङ्गल अहिंसा (प्राणोंकी रक्षा) संयम (आस्रवके निरोध) और तप (१२ प्रकार के तप) रूप है।

यद्यपि विशेष्य के सामान्य कथन करनेसे ही अभिप्रेत पदार्थोंकी संपूर्ण सिद्धि की जा सकती है तथापि शास्त्रकारने इस स्थानपर विशेषणका विशेष रूपसे वर्णन कर दिया है। अर्थात् यद्यपि धर्म मङ्गल अहिंसा रूप ही होता है, परन्तु जब तक आस्रव (कर्म आनेके मार्ग) का निरोध और तप (इच्छाके निरोध) का सम्यक्तया आसेवन नहीं किया जावे, तब तक आत्मा

अहिंसादेवीकी भी सम्यक्तया उपासना नहीं कर सकता। क्योंकि अहिंसाका पालन उसी समय हो सकता है जब कि आस्रव के मार्गोंका सर्वथा निरोध करते हुए तप द्वारा इच्छाओंका भी निरोध कर दिया जावे। इसके बिना अहिंसा रूप धर्मकी पालना सम्यक्तया नहीं की जा सकती। अहिंसाकी सम्यक्तया पालनाकेलिये ही सत्रह प्रकारका संयम प्रतिपादन किया गया है। जो कि निम्नलिखित हैं:—

१ पृथिवीकाय संयम, २ अप्काय संयम, ३ तेजस्काय संयम, ४ वायुकाय संयम, ५ वनस्पतिकाय संयम, ६ द्वीन्द्रिय संयम, ७ त्रीन्द्रिय संयम, ८ चतुरिन्द्रिय संयम, ९ पञ्चेन्द्रिय संयम, १० अजीवकाय संयम, ११ उपेक्षा संयम, १२ उत्प्रेक्षा संयम, १३ अपहृत्य संयम, १४ प्रमार्जना संयम, १५ मनः संयम, १६ वचन संयम, १७ और काय संयम।

इन संयमोंके कथन करनेका सारांश इतना ही है कि अहिंसा धर्मकी पालना करनेकेलिये प्रत्येक कार्य्यके करते समय यह यत्न करना चाहिये कि किसी भी जीवके द्रव्य अथवा भाव प्राणोंका घात न हो जावे। बारह प्रकारके तपका वर्णन भी इसी वास्ते किया गया है कि इच्छाओं का सर्वथा निरोध करके उक्त धर्म सुखपूर्वक पालन किया जा सके। बारह तप ये हैं-१ अनशन, २ ऊनोदर, ३ भिक्षाचरी, ४ रसपरित्याग, ५ कायक्लेश और ६ प्रतिसंलीनता, यह छह प्रकारका बाह्य तप है। इसी प्रकारसे छह प्रकारका आभ्यन्तर तप है। जैसे कि–१ प्रायश्चित्त, २. विनय, ३ वैयावृत्य, ४ स्वाध्याय ५ ध्यान और ६ व्युत्सर्ग। इन संयम और तपोंके द्वारा अहिंसा रूप धर्म भगवती सुखपूर्वक पालना की जा सकती है।

"दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मान धारयतीति धर्म्म"।

'धर्म' शब्दकी व्युत्पत्ति शास्त्रकारोंने यही कथन की है कि जो दुर्गतिमें पड़ते हुए प्राणियोंको उठा कर सुगतिमें स्थापन करता है, उसे 'धर्म' कहते हैं। तथा जिस प्रकार सुन्दर वा शुद्ध जल उद्यान वा आरामके सौन्दर्य्यको बढ़ाता है या पुष्पों आदिके विकसित करनेमें सहायक बनता है, ठीक उसी प्रकार धर्म मङ्गल भी आत्माके विकास करनेमें सहायक होता है। अत एव आत्माके विकास होनेकेलिये अथवा आत्माको ही मङ्गल रूप बनानेकेलिये इस गाथामें धर्म मङ्गलका ही अधिकार किया गया है।

प्रथमके चार मङ्गलोंका यहां इसलिये उल्लेख नहीं किया गया कि एक तो ये नित्य मङ्गल नहीं हैं। दूसरे ये धर्म रूप मङ्गलके ही फल रूप कथन किये गये हैं। इसलिये इस स्थानपर केवल धर्म मङ्गल वा धर्म मङ्गलके माहात्म्यका ही वर्णन किया गया है। क्योंकि सब मांगलिक पदार्थोंमें उत्कृष्ट वा सब मांगलिक पदार्थोंका उत्पादक धर्म मङ्गल ही है। वह धर्म्म मङ्गल अहिंसा (प्राणोंकी रक्षा) सयम (आस्रवके निरोध) और तप (१२ प्रकार के तप) रूप है।

यद्यपि विशेषण के सामान्य कथन करनेसे ही अभिप्रेत पदार्थोंकी संपूर्ण सिद्धि की जा सकती है तथापि शास्त्रकारने इस स्थानपर विशेषणका विशेष रूपसे वर्णन कर दिया है। अर्थात् यद्यपि धर्म मङ्गल अहिंसा रूप ही होता है, परन्तु जब तक आस्रव (कर्म आनेके मार्ग) का निरोध और तप (इच्छाके निरोध) का सम्यक्तया आसेवन नहीं किया जावे, तब तक आत्मा

अहिंसात्रयीकी भी सम्यक्तया उपासना नहीं कर सकता। क्योंकि अहिंसाका पालन उसी समय हो सकता है जब कि आस्रव के मार्गोंका सर्वथा निरोध करते हुए तप द्वारा इच्छाओंका भी निरोध कर दिया जावे। इसके बिना अहिंसा रूप धर्मकी पालना सम्यक्तया नहीं की जा सकती। अहिंसाकी सम्यक्तया पालनाकेलिये ही सत्रह प्रकारका संयम प्रतिपादन किया गया है। जो कि निम्नलिखित हैः—

१ पृथिवीकाय सयम, २ अप्काय सयम, ३ तेजस्काय सयम, ४ वायुकाय सयम, ५ वनस्पतिकाय सयम, ६ द्वीन्द्रिय सयम, ७ त्रीन्द्रिय सयम, ८ चतुरिन्द्रिय सयम, ९ पञ्चेन्द्रिय सयम, १० अजीवकाय सयम, ११ उपेक्षा सयम, १२ उत्प्रेक्षा सयम, १३ अपहृत्य सयम, १४ अप्रमार्जना सयम, १५ मनः सयम, १६ वचन सयम, १७ और काय सयम।

इन सयमोंके कथन करनेका साराश इतना ही है कि अहिंसा धर्मकी पालना करनेकेलिये प्रत्येक कार्य्यके करते समय यह यत्न करना चाहिये कि किसी भी जीवके द्रव्य अथवा भाव प्राणोंका घात न हो जावे। बारह प्रकारके तपका वर्णन भी इसी वास्ते किया गया है कि इच्छाओं का सर्वथा निरोध करके उक्त धर्म सुखपूर्वक पालन किया जा सके। बारह तप ये हैं–१ अनशन, २ ऊनोदर, ३ भिक्षाचरी, ४ रसपरित्याग, ५ कायक्लेश और ६ प्रतिसंलीनता, यह छह प्रकारका बाह्य तप है। इसी प्रकारसे छह प्रकारका आभ्यन्तर तप है। जैसे कि–१ प्रायश्चित्त, २. विनय, ३ वैयावृत्य, ४ स्वाध्याय ५ ध्यान और ६ व्युत्सर्ग। इन सयम और तपोंके द्वारा अहिंसा रूप धर्म भगवती सुखपूर्वक पालना की जा सकती है।

इस प्रकार सूत्रकारने उक्त गाथाके प्रथम दो पादोंमें धर्म मङ्गल और उसके विशेषण-लक्षण प्रतिपादन किये हैं। शेष दो पादोंमें धर्म मङ्गलका माहात्म्य वर्णन किया है कि जो आत्मा उक्त कथन किये हुए धर्म मङ्गलसे अलंकृत हो जाता है, उसको देवता तथा चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी नमस्कार करते हैं। अथवा जिस पुरुषका उक्त धर्ममें मन सदा लगा रहता है उसी को देवता आदि नमस्कार करते हैं, अन्यको नहीं। कारण कि धर्म मङ्गल रूप व्यक्ति सबका पूज्य बन जाता है। इस प्रकार इस गाथामें धर्म मङ्गलकी उत्कृष्टता, उसके लक्षण तथा उसके माहात्म्यका दिग्दर्शन कराया गया है।

यहां यदि कहा जावे कि धर्म मङ्गल मात्र ही उत्कृष्ट है, इस लिये उसमें अहिंसारूप विशेषण नहीं लगाना चाहिये? तो इसका उत्तर यह है कि 'धर्म' शब्दके अनेक अर्थ हैं और उसका कई प्रकारसे प्रयोग किया जाता है। जैसे—ग्रामधर्म, नगरधर्म, देशधर्म, पाखण्डधर्म, अस्तिकाय धर्म, इत्यादि। धर्म शब्दके अनेक अर्थोंमें गमन करनेके कारण शंका उत्पन्न हो सकती है कि ग्रामधर्म परमोत्कृष्ट मङ्गल है अथवा पाखण्डधर्मादि उत्कृष्ट मङ्गल हैं। इसी शंकाके व्यवच्छेद करनेकेलिये सूत्रकर्ताने धर्म मङ्गलके साथ ही 'अहिंसा' पद जोड़ दिया है। जिससे फिर किसी को शंका करनेका अवसर प्राप्त न हो सके। साथ ही उस अहिंसाकी रक्षाकेलिये संयम और तप, जो कि उसके मुख्य हेतु हैं, वर्णन कर दिये हैं। क्योंकि बहुतसे लोग अपनी मानी हुई हिंसाको भी अहिंसाकी कोटिमें रखते हैं। जैसे कि यज्ञोंकी हिंसाको कतिपय लोगोंने वेद विहित होनेसे अहिंसा ही स्वीकार किया है। किसी किसीने आगमो यज्ञागमकी विधि

में होती आई हिंसाको अहिंसा माना है, । किसी किसीने संग्राम आदिकी हिंसाको अहिंसाका रूप दे रक्खा है। इत्यादि विकल्पोंके व्यवच्छेद करनेकेलिये सूत्रकर्ताने संयम शब्दसे सत्रह प्रकारकी हिंसाओंका निषेध कर दिया है। इतना ही नहीं, किन्तु इच्छाके उत्पन्न होनेसे जो हिंसा उत्पन्न होती है, उसका भी निषेध करनेकेलिये उन्होंने 'तप' शब्दका प्रयोग कर दिया है।

धर्म मङ्गलका माहात्म्य वर्णन करते हुए पहिले जो देवताओंका पद रक्खा है, उसका कारण यह है कि लौकिकमें लोग देवोंकी विशेष उपासना करते हैं। सो धर्म मङ्गलकी देवता लोग भी उपासना करते हैं, इस बातको स्फुटतया दिखलाया गया है। तथा जो 'वि'—'अपि' शब्दका प्रयोग किया गया है, उसका कारण यह है कि यद्यपि सूत्रकर्ताके ज्ञानमें देव प्रत्यक्ष रूप में ठहरे हुए हैं तथापि प्रायः सामान्य जनताके सामने देव परोक्ष हैं। अतः धर्म माहात्म्य दिखलाने के लिये ही 'वि' शब्दका प्रयोग किया गया है, जिससे प्रतीत हो जाय कि जो वर्त्तमान कालमें महा ऋद्धिशाली चक्रवर्ती आदि महाराजे हैं, वे भी धर्मात्मा पुरुषोंकी पर्युपासना करनेमें अपना कल्याण समझते हैं और इसी कारण वे ऋषि वा महर्षियों की सेवा, नमस्कारादि क्रिया तथा उनकी स्तुति करते रहते हैं।

गाथाके चतुर्थ चरणका वर्णन यह दिखलानेकेलिये किया गया है कि देवता अथवा अन्य महाव्यक्ति उसी धर्मात्मा पुरुषको नमस्कार करते हैं, जिसका मन सदा उक्त धर्म मंगलमें लगा रहता है अर्थात् जिसने आयु पर्यन्त उक्त धर्म को धारण कर लिया है।

इस प्रकार सूत्रकारने उक्त गाथाके प्रथम दो पादोंमें धर्म मङ्गल और उसके विशेषण-लक्षण प्रतिपादन किये हैं। शेष दो पादोंमें धर्म मङ्गलका माहात्म्य वर्णन किया है कि जो आत्मा उक्त कथन किये हुए धर्म मङ्गलसे अलङ्कृत हो जाता है, उसको देवता तथा चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी नमस्कार करते हैं। अथवा जिस पुरुषका उक्त धर्ममें मन सदा लगा रहता है उसी को देवता आदि नमस्कार करते हैं, अन्यको नहीं। कारण कि धर्म मङ्गल रूप व्यक्ति सबका पूज्य बन जाता है। इस प्रकार इस गाथामें धर्म मङ्गलकी उत्कृष्टता, उसके लक्षण तथा उसके माहात्म्यका दिग्दर्शन कराया गया है।

यहां यदि कहा जावे कि धर्म मङ्गल मात्र ही उत्कृष्ट है, इस लिये उसमें अहिंसारूप विशेषण नहीं लगाना चाहिये? तो इसका उत्तर यह है कि 'धर्म' शब्दके अनेक अर्थ हैं और उसका कई प्रकारसे प्रयोग किया जाता है। जैसे-ग्रामधर्म, नगरधर्म, देशधर्म, पाखण्डधर्म, अस्तिकाय धर्म, इत्यादि। धर्म शब्दके अनेक अर्थोंमें गमन करनेके कारण शंका उत्पन्न हो सकती है कि ग्रामधर्म परमोत्कृष्ट मङ्गल है अथवा पाखण्डधर्मादि उत्कृष्ट मङ्गल हैं। इसी शंकाके व्यवच्छेद करनेकेलिये सूत्रकर्ताने धर्म मङ्गलके साथ ही 'अहिंसा' पद जोड दिया है। जिससे फिर किसी को शंका करनेका अवसर प्राप्त न हो सके। साथ ही उस अहिंसाकी रक्षाकेलिये संयम और तप, जो कि उसके मुख्य हेतु हैं, वर्णन कर दिये हैं। क्योंकि बहुतसे लोग अपनी मानी हुई हिंसाको भी अहिंसाकी कोटिमें रखते हैं। जैसे कि यज्ञोंकी हिंसाको कतिपय लोगोंने वेद विहित होनेसे अहिंसा ही स्वीकार किया है। किसी किसीने अगम्यो यज्ञोऽश्वमेधकी विधि

अहिंसा रूप व्रतकी रक्षाकेलिये शेष व्रतोंका वर्णन किया गया है। साथ ही संयम और तप, इन दो शब्दोंके कहनेसे तो चारित्र धर्मका सर्वस्व ही प्रतिपादन कर दिया गया है। क्योंकि जितनी भी चारित्र रूप धर्मकी व्याख्या है, वह सब संयम और तप रूप धर्मकी ही व्याख्या है। इसलिये जिसके मनमें प्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रूप उत्कृष्ट धर्म मङ्गल उत्पन्न होचुके हों, उसी आत्माको अहिंसा धर्म रूप मङ्गलकी प्राप्ति हो सकती है। तथा इसी सूत्रके चतुर्थाध्यायमें दयाका कारण ज्ञान माना है। सो जब दर्शन और ज्ञान, कारण हुए तो फिर चारित्र रूप धर्म कार्य्य सहजमें ही हो जाता है। अतः चारित्र रूप धर्मको उत्कृष्ट मङ्गल मानना, युक्तिसंगत सिद्ध होता है।

जब आत्मा सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र रूप धर्मसे अलंकृत हो जाता है, तब वह चारित्र रूप धर्मको पालनेकेलिये अपने शरीरकी पालना शुद्ध आहार आदिकेद्वारा करने लगता है। क्योंकि शरीर आहारादिके आश्रित ही रह सकता है। अत एव अब सूत्रकार दृष्टान्त द्वारा आहारकी शुद्धिका वर्णन करते हुए मुनिवृत्तिका निरूपण करते हैं—

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
ण य पुप्फं किलामेइ, सो अ पीणेइ अप्पयं ॥ २ ॥

यथा द्रुमस्य पुष्पेषु भ्रमर आपिबति रसम्।
न च पुष्पं क्लामयति, स च (प्रीणाति प्रीणयति) आत्मानम् ॥२॥

यहां यदि यह कहा जाय कि प्रत्येक धर्म, मङ्गल रूप होसकता है, यदि उसमें सहानुभूतिका गुण पाया जावे तो सो हमको इसमें कुछ भी विवाद नहीं है। भले ही वह धर्म मङ्गल रूप धारण कर ले। यदि वह सहानुभूति स्वार्थरूपसे है तब तो वह धर्म, मङ्गल का रूप नहीं कहा जा सकता। किन्तु धर्मके रूपमें प्राय अपने स्वार्थकी सिद्धि की जाती है। हां, यदि वह सहानुभूति स्वार्थके भावोंको छोड़ कर केवल परोपकारकी बुद्धिसे की जाती है, तब तो वह धर्म मङ्गल रूप अवश्य है। इसमें किसीको भी विवाद करनेका स्थान नहीं है।

यहां यदि यह कहा जावे कि जब मुक्ति पदकी प्राप्तिकेलिये सम्यग् दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र, इन तीनोंका समूह वर्णन किया गया है, तो फिर यहां क्रमको छोड़ कर केवल चारित्रको ही क्यों उत्कृष्टता दी गई? तो इसका उत्तर यह है कि "उत्तराध्ययन सूत्र" के २८ वें 'मोक्षमार्ग' नामक अध्याय में प्रतिपादन किया है कि—"ना दंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा। अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं" अर्थात् बिना सम्यग् दर्शन के ज्ञान और ज्ञानके बिना चारित्रके गुण उत्पन्न नहीं हो सकते। बिना गुणोंके मोक्ष और बिना मोक्षके निर्वाण पद प्राप्त नहीं हो सकता। सो कर्म क्षय करनेकेलिये सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञानका साध्य चारित्र रूप तृतीय गुण ही हो जाता है। इसी वास्ते इस गाथामें सम्यग् दर्शन वा ज्ञान हो जानेके पश्चात् चारित्र रूप धर्मकी उत्कृष्टता दिखलाई गई है।

और चारित्र रूप धर्ममें प्रथम अहिंसा रूप व्रतका ही निरूपण किया गया है। तथा

का निर्देश किया है। फिर अहिंसा, संयम और तप रूप, ये धर्मीके विशेषण हैं। उत्कृष्ट मङ्गलके कथन करनेसे धर्म साध्य बतलाया गया है। अत एव धर्मी और धर्मसमुदायका कथन करनेसे पूर्व गाथाके दो पादों द्वारा प्रतिज्ञाका कथन किया गया है। फिर देव आदिसे वह धर्मी पूजित है, इस प्रकार कथन करनेसे हेतुकी सिद्धि की गई है। 'अपि' शब्दसे विद्याधर आदिका भी ग्रहण कर लेना चाहिये। पूर्व गाथाके तृतीय पादसे हेतुका कथन किया गया है। 'अर्हदादिवत्' यह दृष्टान्त है तथा जो जो देवादिसे पूजित हैं, वे वे उत्कृष्ट मङ्गल हैं। जैसे अर्हदादि तथा देवादि से जो पूजित है वह धर्म है, यह उपनयन है। इसलिये देवादिसे पूजित होने से ही उत्कृष्ट मङ्गल है, यह निगमन है।

सूत्रकर्त्ताने जब दो अवयवोंको ग्रहण कर लिया तब शेष तीनों अवयव अविनाभावी होने से साथ ही ग्रहण कर लिये गये हैं। इसी तरह प्रत्येक गाथामें भी न्यायके आश्रित होकर विषयकी सम्भावना कर लेनी चाहिये।

तथा स्थानान्तरपर जो भ्रमरका उदाहरण दिया गया है, वह देशोपमासे ही साध्य हो सकता है, न कि सर्वोपमासे। जैसे कि इसका मस्तक चन्द्रवत् सौम्य है। यहांपर चन्द्रका सौम्य गुण मस्तकमें देशोपमासे माना गया है। इसी प्रकार भ्रमर अधिरतादि गुणोंसे युक्त होनेपर भी जो अनियतवृत्तिता उसमें गुण है, सूत्रकर्त्ताने उसी गुणको लक्ष्यमें रखकर दृष्टान्तमें भ्रमर ग्रहण किया है।

यहां यदि ऐसा कहा जाय कि गृही लोग अन्नादि जो पदार्थ पकाते हैं, उन पदार्थों को भिक्षादि द्वारा भिक्षु लोग भी खाते हैं तो फिर उनको उसका पाप क्यों नहीं लगता ?

पदार्थ—(जहा) जिस प्रकार (भमरो) भ्रमर (दुमस्स) वृक्षके (पुप्फेसु) पुष्पोंमेंसे (रस) रसको (आवियइ) खूब पीता है (य) तथा (पुप्फं) पुष्पको (ण य) नहीं (किलामेइ) श्रम देता (सो) वह भ्रमर (अप्पयं) आत्माको (पीणेइ) तृप्त करता है।

मूलार्थ—जिस प्रकारसे भ्रमर, वृक्षके पुष्पोंमेंसे पुष्पको बिना कष्ट दिये हुये रसको खूब पीता है और अपनी आत्माको भी तृप्त कर लेता है।[उसी प्रकार—]

विस्तृतार्थ—इस गाथामें धर्ममूर्ति आत्माके आहारकी विधिका निरूपण दृष्टान्त द्वारा किया गया है कि जिस प्रकार भ्रमर वृक्षके पुष्पोंपर जाकर प्रमाणपूर्वक उन पुष्पोंके रसको पी लेता है और उस रससे स्वकीय आत्माकी तृप्ति कर लेता है, परन्तु उन पुष्पोंको पीड़ित नहीं करता।

अब इस कथनसे यहां यह शङ्का उत्पन्न हो जाती है कि शास्त्रने पंचावयव रूप वाक्यको छोड़ कर यहां केवल दृष्टान्तको ही क्यों ग्रहण किया? सो इसका उत्तर यह है कि हेतु और प्रतिज्ञामें दृष्टान्तको ही मुख्य माना जाता है अतः सूत्रकारने इस स्थानपर उसीका ग्रहण किया है। पूर्व गाथामें पञ्चावयव रूप वाक्यसे धर्म मङ्गल सर्वोत्कृष्ट सिद्ध किया ही गया है। यथा—अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म मङ्गल उत्कृष्ट है यह प्रतिज्ञा वचन है, क्योंकि यहांपर धर्म कहनेसे धर्मी

यहां यदि यह कहा जाय कि जहांपर गृहस्थ भक्तिवश केवल साधुकेलिये ही आहार तैयार करवाता है, तो वहांपर उस आहारको ग्रहण करनेसे साधु कैसे पापसे लिप्त न होगा ? इसका उत्तर यह है कि यदि साधुको मालूम हो जाय कि यह आहार मेरेलिये ही तैयार करवाया है और फिर वह उसे ले ले तो वह साधु अवश्य पापलिप्त होगा। क्योंकि साधु करना, कराना और अनुमोदन करना—कृत कारित अनुमोदना, इन तीनोंका ही त्यागी होता है। इतना ही नहीं, किन्तु जैन साधुकेलिये भगवान् महावीरकी आज्ञा है कि वह परमोत्कृष्ट—भयंकरसे भयंकर सङ्कट समय उपस्थित होनेपर भी वृत्तिसे विरुद्ध आचरण कभी न करे। अनशनादिसे प्राण त्याग चाहे भले ही हो जायँ*। जो साधु अपनी शास्त्रोक्त क्रियाओंपर असिधाराके समान चला जा रहा है, वह पाप क्रियाओंसे कभी लिप्त नहीं होता ॥२॥

एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणे (णा) रया ॥ ३ ॥

अनेन श्रमणा मुक्ता, ये लोके सन्ति साधवः।
विहंगमा इव पुष्पेषु, दानभक्तैषणारताः ॥ ३ ॥

* "आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति" का जबर सिद्धान्त जैन साहित्य स्वीकार नहीं करता।—प्रकाशक।

इस शङ्काके उत्तरमें कहा जाता है कि पाप कर्म करनेके तीन हेतु हैं। करना, कराना और अनु
मोदन करना। सो जब कि भिक्षु तीनों कारणोंका निरोध कर चुका है तो फिर उसको पाप क्यों
लगेगा? इसके अतिरिक्त गृहस्थ लोग उस कार्यको स्वय ही करते हैं। क्योंकि जिन ग्राम नगर
ग्रामोंमें भिक्षु नहीं आते तो क्या उन स्थानोंपर लोग अन्नादि नहीं पकाते? अपि तु पकाते ही हैं।
तो बतलाइये कि क्या वह पाप भी भिक्षुकको ही लगता है? अतः यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। इसके
अतिरिक्त जिस प्रकार वर्षा तृण आदिकेलिये ही नहीं बरसती, तृणादि मृगादिके खानेकेलिये ही वृद्धि
नहीं पाते, वृक्षोंकी शाखायें केवल मधुकरोंकेलिये ही नहीं विकसित होतीं, उसी प्रकार गृहस्थ लोग
भी साधुओंकेलिये ही अन्नादि नहीं पकाते।

जिस प्रकार उक्त कार्य्य स्वाभाविक और समयपर होते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार
भिक्षु जन भी समयका पूर्ण बोध रखते हुए समयपर ही भिक्षादिकेलिये गृहस्थ लोगोंके गृहादि
में जाते हैं। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि जिस प्रकार वृक्षादि को कोई मदद
शक्ति विकसित नहीं करती, केवल काल (समय) और उन वृक्षोंका स्वभाव ही उन्हें विकसित
करता है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्तिके क्षुधा वेदनीयका स्वभाव और उसके शान्त करनेका
समय भिक्षाचरीमें मुख्य कारण होता है। क्योंकि जहाँपर भ्रमरादि नहीं आते तो क्या वहांपर
वृक्षादि विकसित नहीं होते? अपि तु होते ही हैं। इसी प्रकार जिन २ स्थानोंपर भिक्षु भिक्षाकेलिये
नहीं आते, तो क्या उन स्थानोंपर अन्नादि नहीं पकाये जाते? अपि तु अवश्यमेव पकाये जाते हैं।
इससे भिक्षु सर्वथा निर्दोष हैं।

परिग्रह न रहित आत्मा। 'मुच्यत इति मुक्त ।' उपरोक्त पांचों प्रकारके श्रमण परीषह तो सहते हैं लेकिन अन्तरङ्ग परिग्रहके त्यागी नहीं होते। अन्तरङ्ग परिग्रहका त्याग सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेके बाद होता है।

यही नहीं, बल्कि 'श्रमण' के साथ 'साधु' शब्दका एक और प्रयोग किया गया है। वह इसलिये कि मुक्तबन्धन तो निह्नवादि भी हो जाते हैं लेकिन वे निर्वाण पदकी साधना नहीं कर सकते। उनके व्यवच्छेदकेलिये 'श्रमण' के साथ 'मुक्त' के अतिरिक्त 'साधु' शब्दका विशेषण और लगाना आवश्यक हुआ। 'साधु' का अर्थ है—'साधयतीति साधुः' अर्थात् जो ज्ञान और निर्वाणपद की साधना करता है, वह साधु है।

गाथामें आये हुए 'लोक' शब्दका अर्थ 'ढाई द्वीप' इसलिये किया गया है कि मनुष्य सिवा इन ढाई द्वीपोंके अन्यत्र पैदा नहीं होते। तथा जो सूत्रकर्ता ने "दानभत्तेसणारया" 'दान भक्तैषणारताः' यह पद ग्रहण किया है। इसका भी अर्थ इस प्रकारसे जानना चाहिये। जैसे कि दान शब्दसे यह आशय है कि—दाताके देनेसे ही दान कहा जाता है। जिससे अदत्तादानका निषेध किया गया अर्थात् आहार विधिमें तृतीय महाव्रतके पालनेकी परमोपयोगिता दिखलाई गई है तथा 'भक्त' शब्दसे प्रासुक आहारके ग्रहण करनेका उपदेश दिया गया है। अर्थात्—प्रथम महाव्रतको सम्यक्तया पालन करते हुए आधाकर्मादि दोषयुक्त आहारका निषेध किया गया है। साथ ही 'एषणा' शब्द से तीनों एषणाओंका ग्रहण किया गया है अर्थात् एषणासमितिके

पदार्थ—(एमेए) इस प्रकारसे (लोए) लोकमें (जे) जो (मुत्ता) मुक्त बधन (समणा) श्रमण (साहुणो) साधु लोग (सति) हैं, वे (पुप्फेसु) पुष्पोंमें (विहगमा व) पक्षियोंके समान (दाणभत्तेसणा) दाताके दिये हुए दान, प्रासुक आहार-पानी और एषणामें (रया) रत होते हैं ॥३॥

मूलार्थ—इस प्रकार आरम्भादिसे मुक्त, लोकमें विद्यमान साधु-श्रमण दाताके दान, प्रासुक आहार-पानी और एषणामें इस प्रकार आसक्त होते हैं जिस प्रकार भ्रमर पुष्पोंमें लीन होता है ॥३॥

भाष्य—पूर्व गाथामें दृष्टान्तका वर्णन किया गया था। इस गाथामें सूत्रकार दार्ष्टान्तिक (उपमेय) का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार भ्रमरगण फूलोंके रस लेनेकी इच्छासे उनके पास जाता है ठीक उसी प्रकार अढ़ाई द्वीपमें जो साधु विद्यमान हैं, वे भी गृहस्थोंके घरोंमें भिक्षाकेलिये जावें।

उक्त गाथामें 'श्रमण' और 'मुक्त' ये दो शब्द दिये गये हैं। यह इसलिये कि 'श्रमण' शब्द का अर्थ 'श्राम्यतीति श्रमणः' अर्थात् जो परीषह सहे, वह 'श्रमण' यह होता है। इस तरह 'श्रमण' शब्दसे निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक और आजीवक भी ग्रहण किये जा सकते हैं। अतः उसके संग 'मुक्त' शब्द लगाना आवश्यक है। 'मुक्त' शब्दका अर्थ है—अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग

वय च वृत्तिं लप्स्यामः, न च कोऽपि उपहन्यते ।
यथाकृतेषु रीयन्ते, पुष्पेषु भ्रमराः यथा ॥ ४ ॥

पदार्थ— (**अहागडेसु**) जिन घरोंमें अपने लिये भोजन तैयार किया है, उनमें (**वयं**) हम (**वित्तिं**) वृत्तिको (**लब्भामो**) प्राप्त करेंगे, जिससे (**कोइ**) कोई भी जीव (**न उवहम्मइ**) हनन क्रियाको प्राप्त न हो । (**जहा**) जिस प्रकार कि (**पुप्फेसु**) पुष्पोंमें (**भमरा**) भ्रमर (**रीयंते**) जाते हैं (**च,य**) चकार पादपूर्णार्थमें हैं ॥४॥

मूलार्थ—गृहस्थीने जो आहारादि अपने वास्ते बनाये हैं, उनके यहा हम वृत्तिको इस तरह प्राप्त करेंगे, जिससे कोई भी जीव विराधित न हो । जिस प्रकार कि भ्रमर पुष्पों से रस लेनेमें किसीको नही सताते ॥४॥

भाष्य—इस गाथामें पूर्व शंकाका समाधान किया गया है । जैसे कि–जब यह शंका उत्पन्न की गई थी कि–आहारादि भक्तिभावसे लिया हुआ अवश्यमेव आधाकर्मादि दोषोंसे युक्त हो जायगा । तब इस शंकाके उत्तरमें शंकाकारके प्रति कहा गया है कि–हम मुनिकी आहारादि वृत्तिको उसी प्रकार प्राप्त करेंगे जिस प्रकार षट्कायमें किसी भी जीवकी विराधना होनेकी सम्भावना न की जा सके । जिस प्रकार कि पुष्पोंपर रस लेनेकेलिये भ्रमर आते हैं

द्वारा निर्दोष आहारके आसेवनसे शरीरकी रक्षाका उपदेश किया गया है। इस प्रकार इन गाथाओंके शब्दोंपर सूक्ष्मबुद्धिसे विचार करते रहना चाहिये।

सूत्रकर्त्ताने 'भ्रमर' शब्दके स्थानपर जो 'विहंगम *' शब्द ग्रहण किया है, उसका तात्पर्य्य यह है कि जिस प्रकार आकाशमें भ्रमर (विहंगम) भ्रमण करता है, ठीक उसी तरह आत्मा कर्मों के वश होकर लोकाकाशमें परिभ्रमण कर रहा है। उस परिभ्रमणकी निवृत्तिकेलिये मधुकरी वृत्तिकी अत्यन्त आवश्यकता है। संसारचक्रसे विमुक्त होनेकेलिये यह मधुकरी वृत्ति उस समय ग्रहण की जाती है, जब कि अहिंसादि महाव्रत धारण कर लिये जाते हैं ॥ ३ ॥

यदि कहा जावे कि—भक्ति आदिके वशसे जब किसीके यहां आहार लिया जावे तब तो जीव हिंसाके होनेकी सम्भावना की जा सकेगी। यदि न लिया जावे तब स्ववृत्तिके अलाभसे मृत्यु आदि दोषोंकी प्राप्ति हो जावेगी ? इसी प्रकारकी शंकाओंके समाधान सूत्रकार करते हैं—

वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा ॥ ४ ॥

---

* विहायसि–आकाशे गच्छति गमनशीलः इति 'विहंगमः' —प्रकाशक।

चारित्रसे परितृप्त करते हैं। जिस तरह कर्ताकी क्रियामें करण साधकतम है, उसी तरह आत्माके ज्ञान-दर्शन-चारित्रकेलिये शरीर कारण है और शरीरकी स्थितिकेलिये आहार कारण है।

इस तरह रत्नत्रयके साधक निरवद्य आहारको लेता हुआ मुनि अपने आत्मिक गुणोंके विकास करनेमें लवलीन रहे। मुनिको यह ख्याल रखना चाहिये कि 'रसमूर्छित' आदि दोषोंसे उस आहार को वह दूषित न करे ॥४॥

इस प्रकार आहार ग्रहण करते हुए मुनिको अब आगाडी क्या करना चाहिये ? वह कहते हैं --

महुगारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया।
नाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥५॥
त्तिबेमि। पढमं दुमपुप्फियज्झयणं सम्मत्तं ॥१॥

मधुकरसमा बुद्धाः, ये भवन्ति अनिश्रिताः।
नानापिण्डरता दान्ता, तेन उच्यन्ते साधवः ॥५॥
इति ब्रवीमि। प्रथमं द्रुमपुष्पिताध्ययनं समाप्तम् ॥१॥

ठीक उसी प्रकार मुनि भिक्षाचरीमें गमनक्रिया करते हैं अर्थात् गृहस्थ लोगोंने अपने निमित्त जो भोजन तय्यार किया है उसीमें भ्रमरवत् मुनि भिक्षाचरीमें प्रवृत्त होते हैं।

क्योंकि–जो भोजन केवल मुनिके वास्ते ही तय्यार किया गया है वह दोषोंसे विमुक्त नहीं है। इस वास्ते दोषोंकी शुद्धि करनेकेलिये मुनि उसी आहारको लेनेकेलिये आते हैं, जिसे कि गृहस्थ लोग अपने ही निमित्त तैयार करवाते हैं। जिस तरह वृक्षोंके समूह अपने स्वभावसे पुष्पित और फलित होते हैं, उसी तरह गृहस्थ लोग अपने स्वभावसे ही अन्नादि पकाते हैं। अन्तर है तो केवल इतना ही कि भ्रमर उन पुष्पोंका रस लेते समय वृक्षोंकी आज्ञा नहीं लेता—उनका दिया हुआ नहीं लेता, और मुनि, दाताका दिया हुआ ही ग्रहण करते हैं। इसमें दोनों समान हैं कि भ्रमर पुष्पोंका रस लेनेमें वृक्षोंको कष्ट नहीं पहुँचाते और मुनि आहार लेनेमें गृहस्थोंको कष्ट नहीं पहुँचाते। वे इतना लेते ही नहीं कि जिसमें गृहस्थोंको दुबारा रसोई बनानेकी आवश्यकता पड़े।

सूत्रकारने उक्त गाथाके तृतीय पादमें 'रीयन्ते' यह वर्तमान कालका और प्रथम पादमें 'लब्भामो' यह भविष्यत्कालका पद दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि मुनियोंकी उक्त वृत्ति त्रिकालवर्ती है। अर्थात् मुनिकी मधुकरी वृत्ति तीनों कालमें एक समान है।

जिस प्रकार भ्रमर पुष्पोंसे रस लेकर अपनी आत्माको तृप्त करता है, उसी तरह मुनि भी गृहस्थोंके घरोंसे आहार लेकर शरीर साधन करते हुए अपनी आत्माको ज्ञान, दर्शन और

किसी तपोविशेषके निमित्त से यदि किसी प्रकारके आहारका अभिग्रह कर लिया गया हो तो यह बात अलग है। वैसा करना हानिकारक नहीं है। किन्तु रसगृद्धिसे किया हुआ किसी प्रकार के आहारका अभिग्रह मुनिधर्मसे विरुद्ध है।

इनसे साधुको उचित है कि वे नाना प्रकारके अभिग्रह तथा अन्त प्रान्त आदि प्रासुक आहारके ग्रहण करनेमें ही रत रहें—उद्गमयुक्त न हों। साथ ही पाँचों इन्द्रियों और छठे मनको तथा क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि अध्यात्मदोषोंके दमन करनेमें तत्पर रहें। इस तरहकी वृत्तिसे अपना जीवन करनेवाले व्यक्ति ही आत्मसाधक बन सकते हैं और वे ही 'साधु' कहलानेके योग्य हैं। उन्हें एषणासमिति तथा ईर्यापथमें यत्न करना चाहिये। और सदैव परमार्थ में लगे रहना चाहिये।

इस अध्ययनके अध्ययनसे यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञान और क्रिया, दोनोंसे ही निर्वाण पदकी प्राप्ति होती है। जब जीवको सम्यक् ज्ञान हो जायगा, तभी वह चारित्रकी ओर रुचि कर सकता है। सिद्धान्तमें चारित्रकी व्युत्पत्ति की गई है--" चयरित्तीकरं चारित्त आहिय " अर्थात् कर्म-चय (संचय) को जो रिक्त (खाली) करे, वह 'चारित्र' है।

यहां यदि कहा जाय कि तत्त्वके जाननेवाले साधुको चतुरिन्द्रिय भ्रमरकी उपमा क्यों दी? इसका उत्तर यह है कि उपमा एकदेशीय होती है। जैसे—"चन्द्रमुखी कन्या"। यहां सिर्फ सौम्य गुणको अपेक्षासे ही कन्याके मुखको चन्द्रकी उपमा दी है। उसी तरह पुष्पोंसे रस लेते हुए उन्हें

पदार्थ—(जे) जो (बुद्धा) तत्त्वके जाननेवाले हैं और (महुगारसमा) भ्रमरके समान (अणिस्सिया) कुलादिके प्रतिबन्धसे रहित (भवंति) हैं (नाणापिंडरया) अनेक थोडा थोडा कई घरोंसे प्रासुक आहारादिके लेने में (रया) रक्त हैं तथा (दंता) इन्द्रिय और नोइन्द्रियके दमन करनेवाले हैं, (तेण) इसी वृत्तिके कारण वे (साहुणो) साधु (वुच्चंति) कहे जाते हैं। (त्तिबेमि) इस प्रकार मैं कहता हूं ॥५॥

मूलार्थ—जो तत्त्वको जाननेवाले हैं, भ्रमरके समान कुलादिके प्रतिबन्धसे रहित हैं और थोडा २ प्रासुक आहार अनेक जगहसे एकत्रित करके अपनी उदरपूर्ति करनेवाले हैं तथा इन्द्रियादिके दमन करनेमें जो समर्थ हैं, वे ही 'साधु' कहे जाते हैं। अर्थात् इन गुणोंकी वजह से ही वे 'साधु' कहलानेके योग्य होते हैं ॥५॥

भाष्य—इस गाथामें उक्त विषयका उपसंहार किया गया है। भ्रमरके दृष्टान्तको दार्ष्टान्तिकपर घटा कर उपमाको स्पष्ट कर दिया है। जिस तरह भ्रमर यह प्रतिबन्ध नहीं रखता कि मैं अमुक पुष्पवाटिकासे या अमुक पुष्पसे ही रस लूंगा, उसी तरह साधु भी ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं रखता कि मैं अमुकके ही घरसे अथवा अमुक ही प्रकारका आहार लूंगा। हां! यदि

किसी तपोविशेषके निमित्त से ... यह बात अलग है। ऐसा करना हानिकारक नहीं है। किन्तु रसगृद्धिसे किया हुआ ... के आहारका अभिग्रह मुनिधर्मसे विरुद्ध है।

इससे साधुको उचित है कि वे नाना प्रकारके अभिग्रह तथा अन्त प्रान्त आदि प्रासुक आहारके ग्रहण करनेमें ही रत रहें—उद्वेगयुक्त न हों। साथ ही पाँचों इन्द्रियों और छठे मनको तथा क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि अध्यात्मदोषोंके दमन करनेमें तत्पर रहें। इस तरहकी वृत्तिसे अपना जीवन करनेवाले व्यक्ति ही आत्मसाधक बन सकते हैं और वे ही 'साधु' कहलानेके योग्य हैं। उन्हें एषणासमिति तथा ईर्यापथमें यत्न करना चाहिये। और सदैव परमार्थ में लगे रहना चाहिये।

इस अध्ययनके अध्ययनसे यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञान और क्रिया, दोनोंसे ही निर्वाण पदकी प्राप्ति होती है। जब जीवको सम्यक् ज्ञान हो जायगा, तभी वह चारित्रकी ओर रुचि कर सकता है। सिद्धान्तमें चारित्रकी व्युत्पत्ति की गई है—"चयरित्तीकरं चारित्त आहिय" अर्थात् कर्म... चय (संचय) को जो रिक्त (खाली) करे, वह 'चारित्र' है।

यहां यदि कहा जाय कि तत्त्वके जाननेवाले साधुको चतुरिन्द्रिय भ्रमरकी उपमा क्यों दी? इसका उत्तर यह है कि उपमा एकदेशीय होती है। जैसे—"चन्द्रमुखी कन्या"। यहां सिर्फ सौम्य गुणकी अपेक्षासे ही कन्याके मुखको चन्द्रकी उपमा दी है। उसी तरह पुष्पोंसे रस लेते हुए उन्हें

पीड़ित न करना तथा किसी अमुक पुष्पसे या पुष्पवाटिकासे ही रस लेने का नियम न होना, सिर्फ इन्हीं दो गुणोंकी अपेक्षासे साधुको भ्रमरकी उपमा दी गई है ॥५॥

" श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं कि हे शिष्य ! श्रमण भगवान् श्रीमहावीर स्वामीके मुखारविन्दसे मैंने जैसा अर्थ इस अध्ययनका सुना है, वैसा ही मैंने तुझसे कहा है। अपना बुद्धिसे कुछ भी नहीं कहा। * "

इति श्रीदशवैकालिक सूत्रके द्रुमपुष्पित नामक प्रथमाध्ययनकी "आत्मज्ञानप्रकाशिका" नामकी हिन्दी भाषा टीका समाप्त हुई।

—:॥:—

* यद्यपि इस पाठका मूल नहीं है, फिर भी प्रत्येक सूत्रके प्रत्येक अध्ययनके अन्तमें इस प्रकारसे कहनेकी परिपाटी पुराने चली आ रही है। इससे किसी ऐतिहासिक बातका पता लगना सम्भव है, इसलिये इसे यहां दे देना मुनासिब समझा गया है।—प्रकाशक।

अह सामरणपुव्विया विजिय अज्झयण ।

अथ श्रामण्यपर्विका नामक द्वितीय अध्ययन ।

गत अध्ययनमें चारित्रधर्मके माहात्म्यका दिग्दर्शन कराया गया है । परन्तु स्मरण रहे कि चारित्रधर्म को वही वीर पालन कर सकता है जिसका आत्मा परम धैर्यवान् और सम्यग्दर्शन सम्पन्न हो। क्योंकि अतिदुस्सह सर्वविरतिरूप चारित्र केवल जैनशासनमें ही उपलब्ध होता है, अन्य दर्शनोंमे नहीं। चारित्र धारण किये विना न तो परिणामोंमें दृढता आती है और न किसी कार्यमें सफलता प्राप्त होती है । जिस कार्यकेलिये जिस प्रकारका चारित्र—जैसी क्रियारूप आचरण आवश्यक है, उसको धारण किये विना, वह कार्य कभी सफल नहीं हो सकता। यदि उसके विना वह कार्य सफल हो सकता होता तो वह उसकेलिये आवश्यक—कारण ही क्यों कहलाता ' इसीलिये शास्त्र कारोंने जगह-व जगह चारित्रकी अपरपार महिमा गाई है ।

चारित्रकी जितनी महिमा है, उतनी ही उसकी आवश्यकता है । और जितना वह आवश्यक है, उतना ही वह कठिन है । परम धैर्यवान् ही उसे धारण कर सकता है, और वही उसे पाल सकता—निभा सकता है ।

चारित्रके जो अनेक भेद हैं, वे सब कामके जीतनेपर ही सफल होते हैं। चारित्रको पालनेकेलिये कामदेवको, जो कि 'त्रिभुवनजयी' कहलाता है, जीतना आवश्यक है। इसकी उत्पत्तिभूमि मन है, जो कि अतिचंचल है, और चिरतनके सकल्प उसके कारण हैं, जो कि वार-वार आकर उसे सताते हैं। इसीलिये सबका जीतना सरल है, मगर इस त्रिभुवनजयीका जीतना अति-कठिन है। और नवदीक्षित शिष्योंकेलिये तो और भी कठिन है। इसलिये उनको लक्ष्यमें रखकर सूत्रकार गाथा पढते हैं:—

कह नु कुज्जा सामरण्णं, जो कामे न निवारए।
पए पए विसीदतो, सकप्पस्स वस गओ ॥ १ ॥

कथ नु कुर्याच्छ्रामण्य, य॰ काम न निवारयति।
पदे पदे विषीदन्, सकल्पस्य वश गत ॥१॥

…र्थ—(जो) जो पुरुष (कामे) काम (न निवारए) निवारण नहीं करता है वह (पए पए) पद पदमें (विसीदतो) विषाद पाता हुआ (सकप्पस्स) सकल्पोंके (वस गओ)

वश होता हुआ (सामण्णं) श्रामण्यभावकी (कहं नु) किस प्रकारसे पालना कर सकता है ॥१॥

मूलार्थ—जो कामोंको निवारण नहीं करता है, वह पुरुष पद पदमें संकल्पोंसे खेद-खिन्न होता हुआ किस प्रकार संयमभावकी पालना कर सकता है ? ॥ १ ॥

भाष्य—इस गाथामें आक्षेपपूर्वक शिक्षा दी गई है कि जिस पुरुषने कामभोगेच्छा का निवारण नहीं किया है, वह पग पगमें संयममार्गसे पतित होता है । क्योंकि जब उस व्यक्ति को कामभोगकी आशा तो बनी हुई है, परन्तु वे उसको प्राप्त होते नहीं हैं तो फिर संकल्प और विकल्पोंके वश होता हुआ किस प्रकार वह श्रामण्यभावकी पालना कर सकता है ? अपि तु नहीं कर सकता ।

यहांपर "नु" अव्यय आक्षेप अर्थमें आया हुआ है* ।

'काम' शब्दसे यहां शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्श इन सबका ही ग्रहण किया गया है । ये सब मोहनीय कर्मके उत्तेजक हैं । इन द्रव्यकामोंसे इच्छाकाम और मदनकाम, इस प्रकार दोनों भावकामोंकी वासना जीवको लग जाती है । जिससे कि वह प्राणी इच्छाके वश होता हुआ मदनकामकी आसेवनामें प्रतिबद्ध हो जाता है । उसे कामी वा कामरागी कहा जाता है ।

*यथा—कथं नु स राजा, यो न रक्षति प्रजाम् । कथं नु स वैयाकरणो योऽपशब्दान् प्रयुङ्क्ते ।

काममोगोंको शास्त्रकारोंने रोग प्रतिपादन किया है। इससे जो व्यक्ति कामकी प्रार्थना करता है, वह वास्तवमें रोगोंकी प्रार्थना कर रहा है।

जब तक आत्मा उक्त पांचों ही विषयोंसे पराङ्मुख नहीं हो जाता, तब तक वह सम्यग् विचारणा भी नहीं कर सकता। कामी पुरुष पगपगपर विषाद पाता है और वस्तुके न मिलनेसे संकल्प-विकल्पोंके वश होकर आर्त्तध्यान वा रौद्रध्यानके वशीभूत सदा बना रहता है।

इस गाथासे यह भी शिक्षा प्राप्त होती है कि सम्यग् विचारणा वही आत्मा कर सकता है, जिसका कि आत्मा काममोगोंसे उपरत हो गया हो। जो विषयी आत्मा, पदार्थोंके निर्णय करनेकी आशा रखते हैं, वे आकाशपुष्पोंके पानेकेलिए निरर्थक क्रिया कर रहे हैं। तथा जिन्होंने द्रव्य लिंग धारण कर रक्खा है और द्रव्य क्रियाएँ भी कर रहे हैं परन्तु जिनकी अन्तरङ्ग आत्मा विषयोंकी ओर ही लगी हुई है, वे वास्तव में अश्रमण ही हैं ॥ १ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार इसी बातका प्रकाश करते हुए कहते हैं –

वत्थ गंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ ॥ २ ॥

वस्त्र गन्धमलंकारं, स्त्रियः शयनानि च।
अच्छन्दाः ये न भुञ्जन्ते, नासौ त्यागीत्युच्यते ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(ज) जो पुरुष (अच्छन्दा) पदार्थोंके वश होते हुए (वत्थ) वस्त्र (गन्ध) गन्ध (अलङ्कार) आभूषण (इत्थीओ) नाना प्रकारकी स्त्रियां (सयणाणि) शय्याएं (य) अन्य आसनादि, इनका (न भुंजन्ति) नहीं भोगते हैं, (से) वह पुरुष (चाइत्ति) 'त्यागी' इस प्रकारसे (न वुच्चइ) नहीं कहा जाता ॥ २ ॥

मूलार्थ—वस्त्र, गन्ध, आभूषण, स्त्रियाँ तथा शय्याओं आदि का जो पुरुष भोगता तो नहीं है, लेकिन जिसके उक्त पदार्थ वशमें भी नहीं हैं वह वास्तवमें 'त्यागी' नहीं कहा जाता ॥ २ ॥

भाष्य—इस गाथामें इस बातका प्रकाश किया है कि वास्तवमें भावप्रधान ही संयमक्रिया मोक्षसाधक होती है। क्योंकि जिसने द्रव्यलिङ्ग तो धारण कर लिया है, परन्तु उसके अन्तःकरणमें इच्छाका रोग लगा हुआ है। इस प्रकारके व्यक्तिको शास्त्रकार 'त्यागी' नहीं कहते हैं। जैसे कि किसी व्यक्तिके भाव हैं कि मैं सुन्दर २ वस्त्र पहरूं, सुगन्धका आसेवन करूं आभूषणोंसे अलङ्कृत हो जाऊं, नाना प्रकारके ऋतुओंके अनुसार सुख देनेवाली शय्याओं में नाना देशोंकी उत्पन्न हुई स्त्रियोंके साथ कामक्रीड़ाएं करूं तथा नाना प्रकारके आसनों द्वारा अपने मनको प्रसन्न करूं, ऐसी दशामें वह यदि इन पदार्थोंका त्याग कर दे तो फल यह होगा कि पदार्थ तो उसको प्राप्त होंगे ही नहीं और इच्छा बनी ही रहेगी। तब इच्छा उसके चित्तमें नाना

काममोगोंको शास्त्रकारोंने रोग प्रतिपादन किया है। इससे जो व्यक्ति कामकी प्रार्थना करता है, वह वास्तवमें रोगोंकी प्रार्थना कर रहा है।

जब तक आत्मा उक्त पाँचों ही विषयोंसे पराङ्मुख नहीं हो जाता, तब तक वह सम्यग् विचारणा भी नहीं कर सकता। कामी पुरुष पगपगपर विषाद पाता है और वस्तुके न मिलनेसे संकल्प-विकल्पोंके वश होकर आर्त ध्यान वा रौद्रध्यानके वशीभूत सदा बना रहता है।

इस गाथासे यह भी शिक्षा प्राप्त होती है कि सम्यग् विचारणा वही आत्मा कर सकता है, जिसका कि आत्मा काममोगोंसे उपरत हो गया हो। जो विषयी आत्मा, पदार्थोंके निर्णय करनेकी आशा रखते हैं, वे आकाशपुष्पोंके पानेकेलिए निरर्थक क्रिया कर रहे हैं। तथा जिन्होंने द्रव्य लिंग धारण कर रक्खा है और द्रव्य क्रियाएँ भी कर रहे हैं परन्तु जिनकी अन्तरङ्ग आत्मा विषयोंकी ओर ही लगी हुई है, वे वास्तव में अश्रमण ही हैं ॥ १ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार इसी बातका प्रकाश करते हुए कहते हैं –

वत्थ गन्धमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छन्दा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ ॥ २ ॥

वस्त्र गन्धमलंकारं, स्त्रियः शयनानि च।
अच्छन्दा ये न भुञ्जन्ते, नासौ त्यागीत्युच्यते ॥ २ ॥

मूलार्थ—जो पुरुष प्रिय और कमनीय भोगोंके मिलनेपर भी उन्हें पीठ दे देता है तथा स्वाधीन भोगोंको छोड देता है वास्तवमें वही पुरुष 'त्यागी' कहा जाता है ॥ ३ ॥

भाष्य – इस गाथामें त्यागी पुरुषका स्वरूप वर्णन किया गया है। जो पुरुष शोभनरूप और परम इच्छित भोगोंके मिल जानेपर भी नाना प्रकारकी शुभ भावनाओं द्वारा उनकी ओर पीठ कर देता है तथा स्वाधीन कामभोगोंको छोड देता है, वास्तवमें उसी पुरुषको त्यागी कहा जाता है।

जो भोग इन्द्रियोंको प्रिय नहीं हैं, या प्रिय हैं, पर स्वाधीन नहीं हैं और स्वाधीन भी हैं, लेकिन किसी समय प्राप्त नहीं होते तो उनको मनुष्य स्वयं ही नहीं भोगता या नहीं भोग सकता। लेकिन जो इन्द्रियोंको प्रिय हैं, स्वाधीन हैं और प्राप्त भी हैं, उन्हें जो छोड़ता है–उनसे विमुख रहता है, वास्तवमें त्यागी वही है। ऐसा त्याग करना धीर वीर पुरुषोंका काम है।

गाथामें 'पिट्ठीकुव्वई' शब्द आजानेपर भी उसका समानार्थक ही दूसरा जो 'चयइ' पद और दिया है, वह इसलिये कि जब शुभ भावनाओं द्वारा उन कामभोगोंसे मनको पीछे कर लिया जाय तो फिर उन काम भोगोंका त्याग ही कर दिया जाय तब तो मनोवृत्ति ठीक रह सकती है, नहीं तो न मालूम किस समय मनोवृत्ति फिर उनकी उस ओर लग जाय, यह सूचित करनेकेलिये है।

गाथामें 'य' और 'हु' शब्द अवधारणार्थमें आया हुआ है ॥ ३ ॥

प्रकारके सङ्कल्प-विकल्प होते रहेंगे अर्थात् तीव्यास हमेशा बना रहेगा। इसलिये द्रव्यलिङ्ग धारण किये आनेपर भी वह 'त्यागी' नहीं कहा जा सकता। इस गाथामें धैर्यके रखनेकलिये उपदेश दिया गया है और साथ ही वास्तविक त्यागीका लक्षण भी प्रतिरूपण किया गया है ॥ २ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार त्यागीका स्वरूप वर्णन करते हुए कहते हैं—

जे य कंते× पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठीकुव्वइ ।

साहीणे चयई भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ ॥ ३ ॥

यश्च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धानपि पृष्ठीकरोति ।

स्वाधीनान् त्यजति भोगान्, स खलु त्यागीत्युच्यते ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो पुरुष (कंते) मनका आकर्षण करनेवाले (पिये) प्रिय (लद्धे) मिल जानेपर (य) और (साहीणे) वशवर्ती हो जानेपर (वि) भी (भोए भोगोंको पिट्ठीकुव्वइ) पीठ करता है और (चयइ) छोडता है, (से) वही पुरुष (हु) वास्तवमें (चाइ) त्यागी (त्ति) इस प्रकार (वुच्चइ) कहा जाता है ॥ ३ ॥

× "कंते" यथा कान्तेत" इत्यनेन ... पद ।

मूलार्थ—जो पुरुष प्रिय और कमनीय भोगोंके मिलनेपर भी उन्हें पीठ दे देता है तथा स्वाधीन भोगोंको छोड़ देता है वास्तवमें वही पुरुष 'त्यागी' कहा जाता है ॥ ३ ॥

भाष्य – इस गाथामें त्यागी पुरुषका स्वरूप वर्णन किया गया है। जो पुरुष शोभनरूप और परम इच्छित भोगोंके मिल जानेपर भी नाना प्रकारकी शुभ भावनाओं द्वारा उनकी ओर पीठ कर देता है तथा स्वाधीन कामभोगोंको छोड़ देता है, वास्तवमें उसी पुरुषको त्यागी कहा जाता है।

जो भोग इन्द्रियोंको प्रिय नहीं हैं, या प्रिय हैं, पर स्वाधीन नहीं हैं और स्वाधीन भी हैं, लेकिन किसी समय प्राप्त नहीं होवे तो उनको मनुष्य स्वयं ही नहीं भोगता या नहीं भोग सकता। लेकिन जो इन्द्रियोंको प्रिय हैं, स्वाधीन हैं और प्राप्त भी हैं, उन्हें जो छोड़ता है–उनसे विमुख रहता है, वास्तवमें त्यागी वही है। ऐसा त्याग करना धीर वीर पुरुषोंका काम है।

गाथामें 'पिट्ठीकुव्वई' शब्द आजानेपर भी उसका समानार्थक ही दूसरा जो 'चयइ' पद और दिया है, वह इसलिये कि जब शुभ भावनाओं द्वारा उन कामभोगोंसे मनको पीछे कर लिया जाय तो फिर उन काम भोगोंका त्याग ही कर दिया जाय तब तो मनोवृत्ति ठीक रह सकती है, नहीं तो न मालूम किस समय मनोवृत्ति फिर उनकी उस ओर लग जाय, यह सूचित करनेकेलिये है।

गाथामें 'य' और 'हु' शब्द अवधारणार्थमें आया हुआ है ॥ ३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार कहते हैं कि यदि त्यागी पुरुषको कदाचित् रागकी संभावना हो जाय तो वह उस कामरागको अपने मनसे किस प्रकारसे हटावे—

समाइपेहाइ परिव्वयतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा ।
न सा महं नो वि अहं पि तीसे, इच्चेव ताओ विणइज्ज रागं ॥ ४ ॥

समयाप्रेक्षया परिव्रजतः, स्यात् मनो निःसरति बहिर्धा ।
न सा मम नाप्यहं तस्याः, इत्येव तस्या व्यपनयेत् रागम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(**समाइपेहाइ**) समभावकी दृष्टिसे (**परिव्वयतो**) विचरते हुए साधु का (**मणो**) मन (**सिया**) कदाचित् (**बहिद्धा**) बाहिर (**निस्सरई**) निकले तो (**सा**) वह (**महं**) मेरी (**न**) नहीं है तथा (**अहं पि**) मैं भी (**तीसे**) उसका (**नो वि**) नहीं हूं (**इच्चेव**) इस प्रकारसे (**ताओ**) उस स्त्रीपरसे (**रागं**) रागको (**विणइज्ज**) दूर करे ॥४॥

मूलार्थ—समभावकी विचारणासे विचरते हुए मुनिका मन कदाचित् संयमरूपी गृहसे बाहर निकल जाय तो मुनि 'वह स्त्री आदि मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूं,' इस प्रकारकी विचारणासे उस स्त्रीपरसे रागको हटा ले ॥ ४ ॥

भाष्य—इस काव्यमें मोहकर्मके उदय हो आनेपर कामरागके निवृत्त होनेका उपदेश दिया गया है। अपने आत्माके समान प्रत्येक जीवको मानते हुए मुनिका मन कदाचित् कर्मोदय से संयमरूपी घरसे या मार्गसे निकलता हो तो मुनिको इस प्रकारकी भावनासे मनको फिर संयम मार्गमें ही लाना चाहिये। मुनि यदि भुक्तभोगी होकर दीक्षित हुआ है, तब तो पूर्व विषयों की स्मृति मात्रसे मनके विषम हो जानेकी संभावना रहती है। यदि अभुक्तभोगी रूपमें ही दीक्षित हो गया है, तब कामरागके उत्पादक ग्रन्थोंके—कथाओंके सुननेसे तथा कुतूहलादिके कारणसे कामरागका उदय हो जाता है। तब उसे इस प्रकारकी विचारणासे मनको शान्त करना चाहिये कि 'जिस स्त्री आदिको मैं कामदृष्टिसे देखता हूँ, वह स्त्री मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूं। तात्पर्य यह है कि जब मेरा उससे कुछ सम्बन्ध ही नहीं है, तो फिर मेरा उसपर राग करना व्यर्थ है।'

यहां यह शङ्का की जा सकती है कि रागद्वेषके अभावको समभाव कहते हैं। स्त्री आदि भोगोपभोगोंकी अभिलाषा रागभावके होनेसे ही पैदा होती है। तो फिर जो व्यक्ति 'समाइपेहाइ परिव्वयंतो'—समानभावसे संसारमें विचरण करनेवाले हैं, उनके स्त्री आदि भोगोपभोगोंकी अभिलाषा पैदा हो कैसे सकती है? इसका उत्तर यह है कि कर्मों की बड़ी विचित्रता है। जबतक आत्माके साथ कर्मोंका सम्बन्ध लगा हुआ है, तबतक समभाववाले मुनिके भी कदाचित् वैसा कर्मोदय हो सकता है।

गाथामें 'सा' और 'तीसे' स्त्रीलिङ्ग शब्दोंका जो प्रयोग किया गया है, वह उपलक्षण है। जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्षताम्'—'कौओंसे दहीको बचाना' यहांपर 'काकेभ्यः' पद उपलक्षण है।

शास्त्रमें सभी प्रकारके पदार्थोंसे पृथ्वीकी रक्षा करना उसका अर्थ है। इसी प्रकार यहाँपर भी सभी प्रकारके पदार्थोंसे रागभावको हटाना चाहिये, यह अर्थ है ॥ ४ ॥

उत्थानिका—इस प्रकार सूत्रकर्ताने मनोनिग्रहकी अन्तरंग विधि तो बतलाई परन्तु बाह्य विधिके आसेवन किये बिना प्रायः पूर्ण मनोनिग्रह नहीं किया जा सकता। अत एव सूत्रकार अब बाह्य विधिका बतलाते हैं और साथ ही उसके फलका भी निरूपण करते हैं—

आयावयाही चय सोगमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए ॥ ५ ॥

आतापय त्यज सौकुमार्यं, कामान् क्राम क्रान्तं खलु दुःखम्।
छिन्धि द्वेषं व्यपनय रागं, एवं सुखी भविष्यसि संपराये ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(आयावयाही) आतापना ले (सोगमल्लं) सौकुमार्य भावको (चय) छोड़ (कामे) काममोगोंको (कमाही) अतिक्रम कर (दुक्खं) दुःख (कमियं खु) निश्चय ही अतिक्रान्त हो जाता है (दोसं) द्वेषको (छिंदाहि) छेदन कर तथा (रागं) रागको (विणएज्ज) दूर कर (एवं) इस प्रकारसे (संपराए) संसारमें (सुही) सुखी (होहिसि) हो जायगा ॥ ५ ॥

मूलार्थ— गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! आतापना ले, सुकमार भावको छोड, कामोंको अतिक्रम कर। इनके त्यागनेसे दुःख निश्चय ही अतिक्रान्त हो जाता है। द्वेषको छेदन कर, रागको दूर कर, इस प्रकारके करनेसे संसारमें तू सुखी हो जायगा ॥ ५ ॥

भाष्य — आतापनादि तप और सुकुमारताका अभाव कामको रोकनेकेलिये बाह्य कारण हैं और रागद्वेषको छोड़ना अन्तरङ्ग कारण। इन दोनों निमित्त कारणोंके आसेवन करनेसे मनुष्य कामको जीत सकता है, और सुखी हो सकता है।

यहांपर 'आतपन तप' उपलक्षण है। वास्तवमें ऊनोदरी आदि बारहों प्रकारका तप कामके जीतनेमें सहायता पहुँचाता है। शरीरकी सुकुमारता भी कामकी वृद्धि करती है। अतः उसको भी छोड़ना चाहिये।

गाथामें आए हुए 'संपराए' शब्दका अर्थ कोई २ 'परीषहोपसर्गसंग्राम' भी करते हैं। यह भी ठीक है। क्योंकि जो कामको जीत सकेगा, वही पुरुष परीषह और उपसर्गोंको आसानीसे जीत सकता है।

यहांपर 'खु' शब्द अवधारण अर्थमें आया हुआ है। जिसका तात्पर्य यह है कि निश्चयसे यावन्मात्र दुःखोंका कारण एक 'काम' ही है ॥ ५ ॥

उत्थानिका—फिर संयमरूपी गृहसे मन निकल न जाय, इसकेलिये मुनि इस प्रकारकी विचारणा करे। जैसे कि—

वास्तवमें सभी प्रकारके पदार्थोंसे वहीकी रक्षा करना उसका अर्थ है। उसी प्रकार यहांपर भी सभी प्रकारके पदार्थोंसे रागभावको हटाना चाहिये, यह अर्थ है ॥ ४ ॥

उत्थानिका—इस प्रकार सूत्रकर्ताने मनोनिग्रहकी अन्तरग विधि तो बतलाई परन्तु बाह्य विधिके आसेवन किये बिना प्राय पूर्ण मनोनिग्रह नहीं किया जा सकता। अत एव सूत्रकार अब बाह्य विधिको बतलाते हैं और साथ ही उसके फलका भी निदर्शन करते हैं—

आयावयाही चय सोगमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए ॥ ५ ॥

आतापय त्यज सौकुमार्यं, कामान् क्राम क्रान्तं खलु दुःखम्।
छिन्धि द्वेषं व्यपनय रागं, एवं सुखी भविष्यसि संपराये ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(आयावयाही) आतापना ले (सोगमल्लं) सौकुमार्य भावको (चय) छोड (कामे) कामभोगोंको (कमाही) अतिक्रम कर (दुक्खं) दुःख (कमियं खु) निश्चय ही अतिक्रान्त हो जाता है (दोसं) द्वेषको (छिंदाहि) छेदन कर तथा (रागं) रागको (विणएज्ज) दूर कर (एवं) इस प्रकारसे (संपराए) संसारमें (सुही) सुखी (होहिसि) हो जायगा ॥ ५ ॥

मूलार्थ – गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! आतापना ले, सुकमार भावको छोड, कामोंको अतिक्रम कर। इनके त्यागनेसे दु ख निश्चय ही अतिकान्त हो जाता है। द्वेषको छेदन कर, रागको दूर कर, इस प्रकारके करनेसे ससारमें तू सुखी हो जायगा ॥ ५ ॥

भाष्य – आतापनादि तप और सुकुमारताका अभाव कामको रोकनेकेलिये बाह्य कारण हैं और रागद्वेषको छोड़ना अन्तरङ्ग कारण। इन दोनों निमित्त कारणोंके आसेवन करनेसे मनुष्य कामको जीत सकता है, और सुखी हो सकता है।

यहांपर 'आतपन तप' उपलक्षण है। वास्तवमें ऊनोदरी आदि बारहों प्रकारका तप कामके जीतनेमें सहायता पहुँचाता है। शरीरकी सुकुमारता भी कामकी वृद्धि करती है। अतः उसको भी छोड़ना चाहिये।

गाथामें आए हुए 'सपराए' शब्दका अर्थ कोई २ 'परीषहोपसर्गसग्राम' भी करते हैं। यह भी ठीक है। क्योंकि जो कामको जीत सकेगा, वही पुरुष परीषह और उपसर्गोंको आसानीसे जीत सकता है।

यहांपर 'खु' शब्द अवधारण अर्थमें आया हुआ है। जिसका तात्पर्य यह है कि निश्चयसे यावन्मात्र दुःखोंका कारण एक 'काम' ही है ॥ ५ ॥

उत्थानिका—फिर सयमरूपी गृहसे मन निकल न जाय, इसकेलिये मुनि इस प्रकारकी

पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥ ६ ॥

प्रस्कन्दन्ति ज्वलितं ज्योतिषं, धूमकेतुं दुरासदम् ।
नेच्छन्ति वान्तं भोक्तुं, कुले जाता अगन्धने ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(अगंधणे) अगंधन नामक (कुले) कुलमें (जाया) उत्पन्न हुए सर्प (दुरासयं) दुष्करसे जो सहन की जाय, इस प्रकारकी (जलियं) ज्वलित (जोइं) ज्योति जो (धूमकेउं) धूम है केतु-ध्वजा जिसकी अर्थात् अग्नि, उसमें (पक्खंदे) गिर जाते हैं परन्तु (वंतयं) वमन किये हुए विषके (भोत्तुं) भोगनेकेलिये अर्थात् वान्त विषको पीना (नेच्छंति) नहीं चाहते ॥ ६ ॥

मूलार्थ—अगंधन कुलमें उत्पन्न हुए सर्प, जिसके पास तक जाना भी कठिन हो और धुंयेके गुब्बार जिसमें उठ रहे हों ऐसी जाज्वल्यमान प्रचण्ड अग्निमें गिरनेकी तो इच्छा कर लेते हैं परन्तु वमन किए हुए विषके पीनेकी इच्छा नहीं करते ॥ ६ ॥

भावार्थ— सर्पोकी दो जातियां हैं—१ गन्धन और २. अगन्धन। इनमेंसे अगन्धन' नामके सर्पकी यह आदत होती है कि वह जिसे काट खाय, उसका विष फिर नहीं चूसता। भले ही उसे प्रचण्ड अग्निमें जलना पड़े।

एक अशिक्षित तिर्यञ्चकी जब इतनी प्रबल दृढ़ता होती है तो फिर विवेकी पुरुषोंकेलिये क्या कहा जाय! अर्थात् व्रत स्वीकार कर लेनेके बाद-स्त्री आदि भोगोपभोगोंका त्याग कर देनेके बाद उसे फिर कभी ग्रहण न करना चाहिये। कर्मोदयकी विचित्रतासे यदि कभी मन चलायमान भी हो जाय तो उसे धैर्यपूर्वक सँभालना चाहिये।

इस द्वितीय अध्ययनकी ७ वीं, ८ वीं आदि गाथाओंमें शास्त्रकारने श्रीराजीमतीके उपालम्भ पूर्वक इस विषयका निदर्शन किया है। अतः उस कथाका पूर्वरूप यहां लिख देना अच्छा होगा,—

सोरठ देशमें 'द्वारिका' नामकी एक नगरी थी। विस्तारमें वह बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी थी। उस समय नौवें वासुदेव श्रीकृष्ण महाराज राज्य करते थे। उनके पिताके एक श्रीसमुद्रविजय भाई थे। इनके शिवा नामकी रानीसे भगवान् श्रीअरिष्टनेमि जन्मे। युवा हुए। उग्रसेन राजाकी पुत्री श्रीराजीमतीसे उनका विवाह होना तय हुआ। धूमधामके साथ जब वे बरात लेकर जारहे थे तो उन्होंने जूनागढ़के पास बहुतसे पशुओंको बाड़े और पिंजरोंमें बन्द हुआ देखा। श्रीअरिष्टनेमिने जानते हुए भी जनताको बोधकरानेकेलिये सारथिसे पूछा—ये पशु यहां किस लिये बँधे हुए हैं? सारथिने कहा—हे भगवन्! ये पशु आपके विवाहमें साथ आये हुए मांसाहारी बरातियोंके भोजनार्थ यहां लाये गये हैं। यह सुनते ही भगवान् अरिष्टनेमिजीका चित्त बड़ा

उदासीन हुआ। आपने विचार किया कि मेरे विवाहकेलिये इतने पशुओंका वध कराना मुझे इष्ट नहीं है। इस पापके बदले न जाने मुझे कितने जन्म धारण कर कष्ट उठाना पड़ेगा। इस तरह विचार करनेपर उनके चित्तकी वृत्ति विवाह करनेसे ही हट गई। तब सारथिको मुकुट और राज्य-चिन्ह छोड़कर, सम्पूर्ण भूषण उतार कर प्रीति-दानमें दे दिये और आप उन पशुओंको बन्धनोंसे छुड़ाकर विवाह न कराते हुए अपने घरको वापिस चले आये। एक वर्ष पर्य्यन्त सारे करोड़ सुवर्ण मुद्राओंका दान देकर एक सहस्र पुरुषोंके साथ आपने साधु वृत्ति ग्रहण की। तदनन्तर वे विदुषी श्रीराजीमती कन्या भी अपने अविवाहित पतिके वियोगके कारण वैराग्यभावको धारण कर सात सौ सखियोंके साथ स्वयमेव दीक्षित हो गई। और भगवान् श्रीअरिष्टनेमिजीके दर्शनार्थ रैवती पर्वतपर जहां कि वे तपश्चर्य्या कर रहे थे, चलीं। अकस्मात् रास्तेमें अति वायु और वृष्टि होनेके कारण सब सखियां तितर-बितर होगईं। श्रीराजीमती ने वायु-वर्षाकी घबराहटके कारण एक गुफामें प्रवेश किया। वहां जाकर उन्होंने निर्जन स्थान जान व्याकुलताके कारण अपने सर्व वस्त्र उतार कर भूमिपर रख दिये। वहां श्रीअरिष्टनेमिके छोटे भाई श्रीरथनेमि पहिलेसे ही समाधि लगाकर खड़े थे। बिजलीकी चमकमें नग्न श्रीराजीमती पर श्रीरथनेमिकी दृष्टि पड़ी। देखते ही श्रीरथनेमिका चित्त कामभोगोंकी ओर आकर्षित हो गया और श्रीराजीमतीसे प्रार्थना करने लगे। इसपर विदुषी श्रीराजीमतीने श्रीरथनेमिको समझाया कि देखो, अगन्धन जातिका सर्प एक पशु होता हुआ भी अपनी जातीय हठसे जाज्वल्यमान और दुरासद अग्निमें कूद तो पड़ता है पर यह यहइच्छा नहीं करता कि मैं वमन किये हुए विषको फिरसे

अंगीकार कर लूं । परन्तु शोक है कि तुम अहरकी तरह विषय भोगोंको समझ त्याग कर चुके हो फिर भी उसे अंगीकार करना चाहते हो ॥ ६ ॥

उत्थानिका—इस विषयका उपदेश कर अब श्रीराजीमती आक्षेपपूर्वक उपदेश करती हुई कहती हैं कि—

धिरत्थु ते जसोकामी, जो त जीवियकारणा ।
वंत इच्छसि आवेउ, सेय ते मरण भवे ॥ ७ ॥

धिगस्तु तेऽयशस्कामिन् !, यस्त्वं जीवितकारणात् ।
वान्तमिच्छस्यापातुं, श्रेयस्ते मरणं भवेत् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(अजसोकामी) हे अयशकी कामना करनेवाले ! (ते) तुझे (धिरत्थु) धिक्कार हो । (जो) जो (तं) तू (जीवियकारणा) असंयमरूप जीवनके वास्ते (वांत) वमनको (आवेउ) पान करनेकी (इच्छसि) इच्छा करता है अत (ते) तेरेलिये (मरणं) मृत्यु (सेय) कल्याण रूप (भवे) है ॥ ७ ॥

उदासीन हुआ। आपने विचार किया कि मेरे विवाहकेलिये इतने पशुओंका वध कराना मुझे इष्ट नहीं है। इस पापके वशसे न जाने मुझे कितने जन्म धारण कर कष्ट उठाना पड़ेगा। इस तरह विचार करनेपर उनके चित्तकी वृत्ति विवाह करनेसे ही हट गई। तब सारथिको मुकुट और राज्य-चिन्ह छोड़कर, सम्पूर्ण भूषण उतार कर प्रीति-दानमें दे दिये और आप उन पशुओंको बन्धनोंसे छुड़ाकर विवाह न करते हुए अपने घरको वापिस चले आये। एक वर्ष पर्य्यन्त भारी करोड़ सुवर्ण मुद्राओंका दान देकर एक सहस्र पुरुषोंके साथ आपने साधु वृत्ति ग्रहण की। तदनन्तर वे विदुषी श्रीराजीमती कन्या भी अपने अविवाहित पतिके वियोगके कारण वैराग्यभावको धारण कर सात सौ सखियोंके साथ स्वयमेव दीक्षित हो गई। और भगवान् श्रीअरिष्टनेमिजीके दर्शनार्थ रैवती पर्वतपर जहां कि वे तपश्चर्य्या कर रहे थे, चलीं। अकस्मात् रास्तेमें अति वायु और वृष्टि होनेके कारण सब सखियां तितर-बितर होगईं। श्रीराजीमती ने वायु-वर्षाकी घबराहटके कारण एक गुफामें प्रवेश किया। वहां जाकर उन्होंने निर्जन स्थान जान व्याकुलताके कारण अपने सर्व वस्त्र उतार कर भूमिपर रख दिये। वहां श्रीअरिष्टनेमिके छोटे भाई श्रीरथनेमि पहिलेसे ही समाधि लगाकर खड़े थे। बिजलीकी चमकमें नग्न श्रीराजीमती पर श्रीरथनेमिकी दृष्टि पड़ी। देखते ही श्रीरथनेमिका चित्त कामभोगोंकी ओर आकर्षित हो गया और श्रीराजीमतीसे प्रार्थना करने लगे। इसपर विदुषी श्रीराजीमतीने श्रीरथनेमिको समझाया कि देखो, अगन्धन जातिका सर्प एक पशु होता हुआ भी अपनी जातीय हठसे जाज्वल्यमान और दुरापद अग्निमें कूद तो पड़ता है पर यह यहइच्छा नहीं करता कि मैं वमन किये हुए विषको फिरसे

उत्थानिका — श्रीराजीमतीने और भी कहा —

अह च भोगरायस्स त चऽसि अधगवरिहणो ।
मा कुले गधणा होमो, सजम निहुओ चर ॥ ८ ॥

अह च भोगराज्ञ, त्व चास्यन्धकवृष्णे ।
मा कुले गधनौ भूव, सयम निभृतश्चर ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(अह) मैं (भोगरायस्स) उग्रसेनकी पुत्री हू (च) और (त) तू (अधगवण्हिणो) समुद्रविजयका पुत्र (आसि) है (गधणाकुले) गन्धन कुलमें उत्पन्न हुए के समान (मा होमो) हम दोनों न हों बल्कि (निहुओ) मनको स्थिर रखते हुए (सजम) सयमको (चर) पाल ॥ ८ ॥

मूलार्थ—हे रथनेमि ! मैं उग्रसेन राजाकी पुत्री हू और तू समुद्रविजय राजाका पुत्र है । अत गन्धन कुल में उत्पन्न हुए सर्पके समान हम दोनों न हों । किन्तु तू चित्त निश्चल कर और संयम पाल ॥ ८ ॥

मूलार्थ— रे अपयश चाहनेवाले ! अपने असंयमरूप जीवनकेलिये जो तू वमनको पुनः पीना चाहता है, उससे तो तेरा मरण हो जाना ही अच्छा है ॥ ७ ॥

भाष्य — उपालम्भपूर्वक श्रीराजीमतीका श्रीरथनेमिको समझाना है। गाथाका जो अर्थ ऊपर किया गया है वह पहिले चरणमें 'ते ऽजसोकामी' पदमें अकारका प्रश्लेष मानकर किया गया है। कोई २ अकार-प्रश्लेष नहीं भी मानते। उस पक्षमें भी उक्त पदका सुन्दर अर्थ घट जाता है। तब उसका असूयापूर्वक आमन्त्रण अर्थ होगा। जैसे — 'हे यशकी चाहनावाले !' अर्थात् तू यशकी चाहना करता है और ऐसा तेरा विचार है। इसलिये तुझे धिक्कार है।'

मरण श्रेयस्कर इसलिये कहा जाता है कि अकार्य सेवनसे व्रतोंका भङ्ग होता है। व्रतों की रक्षा करता हुआ जीव यदि मरणको प्राप्त हो जाय तो वह आत्मघाती नहीं कहलाता, किन्तु 'व्रतरक्षक' कहा जाता है।

गाथामें 'धिरत्थु' और 'सेयं' 'धिगस्तु' और 'श्रेयः' दोनों शब्द साथ-ही-साथ काममें लाये गये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि एक संयमी पुरुषको जिस प्रकार कामवासना धिक्कारका हेतु है, उसी प्रकार संयमकी रक्षाकेलिये उसका मरण हो जाना कल्याणका कारण है। 'धिरत्थु' का अर्थ धिक्कार और 'सेयं' का अर्थ कल्याण है। अतः आचार्यने अन्वय और व्यतिरेक दोनों हेतुओं से पक्ष-समर्थन किया है ॥ ७ ॥

जइ त काहिसि भाव जा जा दिच्छसि नारीओ।
वायाविद्धु व्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥ ६ ॥

यदि त्वं करिष्यसि भावं, या या द्रक्ष्यसि नारीः।
वाताविद्ध इव वृक्ष, अस्थिरात्मा भविष्यसि ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(त) तू (जा जा) जिन २ (नारीओ) नारियोंको (दिच्छसि) देखेगा (भाव) विषयक भावको (जइ) यदि (काहिसि) करेगा तो (वायाविद्धु) वायुसे प्रेरित (हडो व्व) अबद्धमूल वृक्षवत् (अट्ठिअप्पा) अस्थिरात्मा (भविस्ससि) हो जायगा ॥ ० ॥

मूलार्थ—हे रथनेमि! तू जिन २ स्त्रियों को देखेगा फिर यदि उनमें विषयके भाव करेगा, तो तू वायुसे प्रेरित अबद्धमूल वृक्षवत् अस्थिर आत्मावाला हो जायगा ॥ ९ ॥

भाष्य—ध्यानका लक्षण है—"एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्"—एक पदार्थकी ओर चित्त का लगाना—मनका एकाग्र करना। विषयोंकी ओर जब मन आकृष्ट होता है, तब वह एकाग्रतारो

भाष्य—इस गाथामें श्रीराजीमतीने अपने और श्रीरथनेमिके कुलकी प्रधानतापर श्रीरथनेमिका ध्यान आकर्षित किया है। क्योंकि शुचवंशीय पुरुष प्रायः अकृत्योंसे बच जाता है। यह कथसाहनमें कुछ स्वाभाविक ही धीर होता है।

गाथामें 'भोयरायस्स' और 'अंधगवण्हिणो' दोनों षष्ठ्यन्त पद दिये हैं जो कि सम्बन्ध-वाचक हैं लेकिन गाथामें उसका सम्बन्धी कोई पद नहीं दिया है। इसलिये उनके साथ क्रमसे 'पुत्री' और 'पुत्र' शब्द का अध्याहार पारिशेष्यात् कर लेना चाहिये।

भोगराजका अर्थ 'उग्रसेन' और अन्धकवृष्णि का अर्थ समुद्रविजय' होता है। यथा——

"अंधगवण्हि-पु० (अन्धकवृष्णि) समुद्रराजानु अमर नाम, पृष्ठ १२। भोगराय-पुं० (भोगराज) भोगकुलना एक राजा, यदुवंशी उग्रसेन राजा, पृष्ठ ५६९।" - अर्ध मागधी गुजराती कोष।

गाथाका 'निहुओ'—'निभृतः' पद यह सूचित करता है कि सर्व-दुःख-निवारक संयमके विधि विधान या क्रिया-कलापको वही जीव पालन कर सकता है, जिसका चित्त अव्याक्षिप्त हो, व्याक्षिप्त चित्तवाला पुरुष धैर्यच्युत हो जाता है और संयमकी विराधना कर बैठता है॥ ८॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार धैर्यगुणके न होनेसे जिस दशाके हो जाने की संभावना की जा सकती है, उसी विषय में कहते हैं —

अन्वयार्थं—(सो) वह (तीसे) उस (संजयाइ) संयमिनीके (सुभासियं) सुन्दर (वयणं) वचनको (सोच्चा) सुनकर (अंकुसेण) अंकुशसे (नागो) हाथीकी (जहा) तरह (धम्मे) धर्ममें (संपडिवाइओ) स्थिर हो गया ॥ १० ॥

मूलार्थ—वह रथनेमि उस आर्या श्रीराजीमतीके सुन्दर वचनोंको सुनकर, जिस प्रकार अंकुश से हस्ती वश हो जाता है, उसी प्रकार धर्ममें स्थिर हो गया ॥ १० ॥

भाष्य—इस गाथामें उपदेशकी सफलता दृष्टान्तपूर्वक दिखलाई गई है। स्वयं आचरणपर दृढ़ एक स्त्रीके वचनोंकी सफलता इस बातको सिद्ध करती है कि चारित्रवान् आत्माका प्रभाव अवश्य होता है।

श्रीरथनेमिका एक स्त्रीकी बातको स्वीकार करना इस बातको सिद्ध करता है कि कुलीन-प्रधान पुरुष शिक्षासे ही मान जाते हैं।

हाथीका उदाहरण एक प्रधान पुरुषकेलिये सर्वथा उपयुक्त है। वह स्वभावसे ही धैर्यशाली होता है। धैर्यशाली व्यक्तिको थोड़ासा इशारा ही काफ़ी होता है ॥ १० ॥

हट जाता है और चञ्चल हो जाता है। यों तो संसारके जितने भर पदार्थ हैं, वे सभी मन की चञ्चलताको बढ़ानेवाले हैं, परन्तु उन सबमें स्त्री बड़ी प्रबल है। इसका संसर्ग होते ही मनकी एकाग्रता एक दम काफूर हो जाती है।

कोई स्त्री सुन्दर है तो उस ओर अनुराग और कोई असुन्दर है तो उस ओर अरुचि बस यही तो चञ्चलता है। ऐसे चञ्चल पुरुष की हालत, आंधी के प्रबल झोकोंसे उखड़े हुए वृक्षके समान है। वह शीघ्र ही गिर जाता है।

गाथामें आए हुए 'हडो' शब्द का अर्थ 'अबद्धमूलो वनस्पतिविशेषः' है। और 'व्व' का अर्थ 'इव' है॥९॥

उत्थानिका इस उपदेशके बाद क्या हुआ ? यह सूत्रकार कहते हैं—

तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाइ सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥ १० ॥

तस्याः असौ वचनं श्रुत्वा संयतायाः सुभाषितम्।
अंकुशेन यथा नागः, धर्मे संप्रतिपादितः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(**सो**) वह (**तीसे**) उस (**सजयाइ**) सयमिनीके (**सुभासिय**) सुन्दर (**वयण**) वचनको (**सोच्चा**) सुनकर (**अकुसेण**) अकुशसे (**नागो**) हाथीकी (**जहा**) तरह (**धम्मे**) धर्ममें (**सपडिवाइओ**) स्थिर हो गया ॥ १० ॥

मूलार्थ —वह रथनेमि ! उस आर्या श्रीराजीमतीके सुन्दर वचनोंका सुनकर, जिस प्रकार अकुश से हस्ती वश हो जाता है, उसी प्रकार धर्ममें स्थिर हो गया ॥ १० ॥

भाष्य – इस गाथामें उपदेशकी सफलता दृष्टान्तपूर्वक दिखलाई गई है। स्वय आचरणपर दृढ एक स्त्रीके वचनोंकी सफलता इस बातको सिद्ध करती है कि चारित्रवान् आत्माका प्रभाव अवश्य होता है।

श्रीरथनेमिका एक स्त्रीकी बातको स्वीकार करना इस बातको सिद्ध करता है कि कुलीन-वशज पुरुष शिक्षासे ही मान जाते हैं।

हाथीका उदाहरण एक वशज पुरुषकेलिये सर्वथा उपयुक्त है। वह स्वभावसे ही धैर्यशाली होता है। धैर्यशाली व्यक्तिको थोड़ासा इशारा ही काफ़ी होता है ॥ १० ॥

उत्थानिका—अब उक्त विषयका उपसहार करते हुए कहते हैं—

एव करांति सबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टति भोगेसु, जहा से पुरिसुत्तमो ॥११॥ त्तिबेमि ।

एव कुर्वन्ति सम्बुद्धा, पण्डिता प्रविचक्षणा ।
विनिवर्त्तन्ते भोगेभ्य, यथाऽसौ पुरुषोत्तम ॥ ११ ॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ—(सबुद्धा) तत्त्वके जाननेवाले (पंडिया) पण्डित–दोषज्ञ–विषयसेवन के दोषोंको जाननेवाले (पवियक्खणा) सावद्य कर्मसे भय माननेवाले पुरुष (एव) पूर्वोक्त प्रकारसे (करांति) करते हैं। अर्थात् वे (भोगेसु) भोगोंसे (विणियट्टंति) निवृत्त हो जाते हैं (जहा) जिस प्रकार (पुरिसुत्तमो) पुरुषोंमें उत्तम (से) वह रथनेमि ॥ ११ ॥

(त्तिबेमि) इस प्रकार मैं कहता हू ।

मूलार्थ—तत्त्वके जाननेवाले प्रविचक्षण पण्डित उसी प्रकार भोगोंसे विरक्त हो जाते हैं, जिस प्रकार कि पुरुषोत्तम श्रीरथनेमि ॥ ११ ॥

भाष्य—इस गाथामें चालू विषयका उपसंहार करते हुए उपदेश भी दिया गया है। क्योंकि इस द्वितीयाध्ययनकी यह अन्तिम गाथा है।

यहां यह शङ्का हो सकती है कि गाथामें 'संबुद्धा', 'पण्डिया', और 'पवियक्खणा', ये एकार्थ वाचक तीन शब्द क्यों दिये ? उसका उत्तर यह है कि यद्यपि स्थूल दृष्टिसे ये एकार्थवाचक ही हैं फिर भी सूक्ष्म विचारसे इनके अर्थोंमें अन्तर है। यथा सम्यग्दर्शनकी प्रधानतासे आत्मा 'संबुद्ध' कहलाता है। सम्यक्ज्ञानकी प्रधानतासे आत्मा 'पण्डित' कहलाता है। और चारित्रकी प्रधानतासे आत्मा 'प्रविचक्षण' कहलाता है। इस तरहसे गाथामें शास्त्रकारने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप तीनों रत्नोंका वर्णन कर दिया है। जिसका कि तात्पर्य यह निकलता है कि जो इन तीनोंको धारण करता है, वही पुरुषोत्तम है।

एक शङ्का यहा और हो सकती है। और वह यह कि जब श्रीराजीमतीका नग्नावस्थामें दर्शन पाकर श्रीरथनेमिका चित्त चलायमान—चंचल हो गया, तो गाथामें उसे 'पुरुषोत्तम' क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि उसके भाव डिगमिगा गये थे, लेकिन फिर भी श्रीराजीमतीके शिक्षो पदेशसे वह कुपथसे हट गया और प्रायश्चित्तपूर्वक अपने मतमें दृढ़ हो गया। सर्वोत्तम तो वही है, जो चाहे जैसी डिगानेवाली परिस्थितिके उपस्थित हो जानेपर भी न डिगे। लेकिन वह भी

उत्थानिका—अब उक्त विषयका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसुत्तमो ॥११॥ त्तिबेमि ।

एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।
विनिवर्त्तन्ते भोगेभ्यः, यथाऽसौ पुरुषोत्तमः ॥ ११ ॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ—(**संबुद्धा**) तत्त्वके जाननेवाले (**पंडिया**) पण्डित-दोषज्ञ-विषयसेवन के दोषोंको जाननेवाले (**पवियक्खणा**) सावद्य कर्मसे भय माननेवाले पुरुष (**एवं**) पूर्वोक्त प्रकारसे (**करंति**) करते हैं । अर्थात् वे (**भोगेसु**) भोगोंसे (**विणियट्टंति**) निवृत्त हो जाते हैं (**जहा**) जिस प्रकार (**पुरिसुत्तमो**) पुरुषोंमें उत्तम (**से**) वह रथनेमि ॥ ११ ॥

(**त्तिबेमि**) इस प्रकार मैं कहता हूं ।

मूलार्थ—तत्त्वके जाननेवाले प्रविचक्षण पण्डित उसी प्रकार भोगोंसे विरक्त हो जाते हैं, जिस प्रकार कि पुरुषोत्तम श्रीरथनेमि ॥ ११ ॥

भाष्य—इस गाथामें चालू विषयका उपसंहार करते हुए उपदेश भी दिया गया है। क्योंकि इस द्वितीयाध्ययनकी यह अन्तिम गाथा है।

यहां यह शङ्का हो सकती है कि गाथामें 'संबुद्धा', 'पण्डिया', और 'पवियक्खणा', ये एकार्थवाचक तीन शब्द क्यों दिये ? उसका उत्तर यह है कि यद्यपि स्थूल दृष्टिसे ये एकार्थवाचक ही हैं फिर भी सूक्ष्म विचारसे इनके अर्थोंमें अन्तर है। यथा सम्यग्दर्शनकी प्रधानतासे आत्मा 'संबुद्ध' कहलाता है। सम्यक्ज्ञानकी प्रधानतासे आत्मा 'पण्डित' कहलाता है। और चारित्रकी प्रधानतासे आत्मा 'प्रविचक्षण' कहलाता है। इस तरहसे गाथामें शास्त्रकारने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप तीनों रत्नोंका वर्णन कर दिया है। जिसका कि तात्पर्य यह निकलता है कि जो इन तीनोंको धारण करता है, वही पुरुषोत्तम है।

एक शङ्का यहां और हो सकती है। और वह यह कि जब श्रीराजीमतीका नग्नावस्थामें दर्शन पाकर श्रीरथनेमिका चित्त चलायमान—चंचल हो गया, तो गाथामें उसे 'पुरुषोत्तम' क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि उसके भाव डिगमिगा गये थे लेकिन फिर भी श्रीराजीमतीके शिक्षो पदेशसे वह कुपथसे हट गया और प्रायश्चित्तपूर्वक अपने मतमें दृढ़ हो गया। सर्वोत्तम तो वही है, जो चाहे जैसी डिगानेवाली परिस्थितिके उपस्थित हो जानेपर भी न डिगे। लेकिन वह भी

पुरुषोत्तम ही है, जो कि परिस्थितिके हिलाये हिल जाने पर भी सोच-समझकर अपने किया चरणरूप मतसे डिगे नहीं—अटल बना रहे। यह भी शूरवीर पुरुषोंका लक्षण है।

विषय-सेवनके त्यागका जो उपदेश दिया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि कामभोगोंका जनक आत्माके साथ अनादिकालसे संबद्ध एक मोहनीय कर्म है। जो कि नितान्त दुःखदायी है। उसके अभावसे अत्यन्त निराबाध सुखकी प्राप्ति होती है।

इसलिये सारांश यह निकला कि यदि पूर्व कर्मोदयके कारण कदाचित् किसीके विषय-सेवनके संकल्प-विकल्प उत्पन्न भी हो जायँ, तब भी उसका भला इसीमें है कि वह सदुपदेश, शुभ भावनाओंका स्मरण करके उनसे अलग रहे—उनमें लिप्त न हो। इसीमें उसके रत्नत्रयकी स्थिति है। इसीसे वह पुरुषोत्तम है। और इसी तरहसे वह मोक्षकी साधना कर सकता है ॥११॥

अध्यायकी समाप्तिपर 'त्तिबेमि' शब्द का यहां पर भी पूर्वकी भांति यही अर्थ लगाना चाहिये कि—

"श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं कि हे शिष्य ! श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामीके

मुखारविन्दसे मैंने जैसा अर्थ इस अध्ययनका सुना है, वैसा ही मैंने तुमसे कहा है। अपनी बुद्धिसे कुछ भी नहीं कहा।"

इय सामण्णपुव्वियज्झयणं सम्मत्तं।

इति श्रामण्यपूर्वक द्वितीयाध्ययन समाप्तम्।

इति श्रीदशवैकालिकसूत्रके श्रामण्यपूर्वक नामक द्वितीयाध्ययनकी "आत्मज्ञानप्रकाशिका" नामक हिन्दी भाषा टीका समाप्त हुई।

पुरुषोत्तम ही है, जो कि परिस्थितिके हिलाये हिल जाने पर भी सोच-समझकर अपने क्रिया चरणरूप मतसे डिगे नहीं—अटल बना रहे। यह भी शूरवीर पुरुषोंका लक्षण है।

विषय-सेवनके त्यागका जो उपदेश दिया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि कामभोगोंका जनक आत्माके साथ अनादिकालसे संबद्ध एक मोहनीय कर्म है। जो कि नितान्त दुःखदायी है। उसके अभावसे अत्यन्त निराबाध सुखकी प्राप्ति होती है।

इसलिये सारांश यह निकला कि यदि पूर्व कर्मोदयके कारण कदाचित् किसीके विषय-सेवनके संकल्प-विकल्प उत्पन्न भी हो जायँ, तब भी उसका भला इसीमें है कि वह सदुपदेश, शुभ भावनाओंका स्मरण करके उनसे अलग रहे—उनमें लिप्त न हो। इसीमें उसके रत्नत्रयकी स्थिति है। इसीसे वह पुरुषोत्तम है। और इसी तरहसे वह मोक्षकी साधना कर सकता है ॥११॥

अध्यायकी समाप्तिपर 'त्तिबेमि' शब्द का यहां पर भी पूर्वकी भांति यही अर्थ लगाना चाहिये कि—

"श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं कि हे शिष्य! श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामीके

खुड्डियायारकहा तइयमज्झयणं।

क्षुल्लकाचारकथा नामक तृतीय अध्ययन।

संजमे सुट्ठिअप्पाणं, विप्पमुक्काण ताइणं।
तेसिमेयमणाइण्णं, निग्गंथाण महेसिणं ॥ १ ॥

संयमे सुस्थितात्मानां, विप्रमुक्तानां तायिनाम्।
तेषामिदमनाचरितं, निर्ग्रन्थानां महर्षीणाम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(**संजमे**) संयममें (**सुट्ठिअप्पाणं**) भली प्रकारसे स्थित (**विप्पमुक्काणं**) सम्पूर्ण सांसारिक बन्धन रहित (**ताइणं**) षट्कायकी व अपने आत्माकी रक्षा करनेवाले (**निग्गंथाणं**) और परिग्रह रहित (**तेसिं**) उन (**महेसिणं**) महर्षियोंके (**एयं**) ये—वक्ष्यमाण (**अणाइण्णं**) अनाचीर्ण हैं ॥ १ ॥

उत्थानिका— गत अध्ययनमें मोहनीयकर्म-जन्य सकल्प-विकल्पोंको छोड़कर चित्त स्थिर करना चाहिये अर्थात् मनुष्यको धैर्यावलम्बी बनना चाहिये। धैर्य धारण किये बिना चारित्रकी पालना नहीं हो सकती। और बिना चारित्रके पाले मोक्ष नहीं हो सकती।

धैर्य आचारके विषयमें प्रयुक्त करना चाहिये। तभी जीवकी सुगति हो सकती है। अनाचारके विषयमें प्रयुक्त किया गया धैर्य दुर्गतिका कारण होता है।

'क्षुल्लकाचारकथा' नाममें जो 'क्षुल्लक' शब्द आया है, उसका अर्थ 'अल्प' होता है। 'अल्प' हमेशा 'महत्' की अपेक्षा रखता है। हालां कि वह अल्पता-महत्ता द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षासे अलहिदा-अलहिदा होती है। अस्तु। इस अध्ययनमें प्रधान चारित्रकी अपेक्षा संक्षेपसे कथन किया जायगा। अत एव इस अध्ययनका नाम 'क्षुल्लकाचारकथा' है।

साधुओंका संक्षेपसे चारित्र वर्णन करनेवाले 'क्षुल्लिकाचारकथा' नामक इस तीसरे अध्ययनमें प्रथम अनाचारका वर्णन सूत्रकार करते हैं—

इस अध्ययनकी यथ्यमाण वातें महर्पियोंकेलिये भयोग्य इसलिये हैं कि वे इनके संगममें बाधा पहुँचाती हैं। महर्षि अहोरात्र ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप-भाचार और वीर्याचारमें ही लीन रहते हैं। उनकेलिये स्त्रीकथा, देशकथा, भक्तकथा और राज्यकथा तथा मोहकथा, विप्रलापकथा और मृदुकारुणिक कथा भादि विकथा-कुकथा हैं।

महर्षि हमेशा धर्मकथामें तत्पर रहते हैं। यद्यपि धर्मकथाके अनेक भेद हैं, पर उन सबका मुख्य उद्देश्य आत्माको निर्मल करना—आत्माको निज स्वरूपमें लीन करना और अन्य भव्य जीवोंको तन्मय करके उनका उद्धार करना—उनका आत्माकी ओर लगाना है। श्रुतज्ञानके प्रभावसे आत्मा स्वपरके कल्याण करनेमें समर्थ होजाता है ॥ १ ॥

उत्थानिका—अब अनाचीर्ण क्रियाओंका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं,—

उद्देसियं कीयगड, नियागमभिहडाणि य।
राइभत्ते सिणाणे य, गंधमल्ले य वीयणे ॥ २ ॥

औद्देशिक क्रीतकृत, नियागमभ्याहृतानि च।
रात्रिभक्तं स्नानं च, गन्धमाल्यं च व्यञ्जनम् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(उद्देसिय) साधुके उद्देश्यसे बनाये गये आहारको लेना (कीयगडं)

मूलार्थ—संयममें स्थित, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रहित, स्वपररक्षक, निर्ग्रन्थ महर्षियोंके अयोग्य आचार अब वर्णन किये जायँगे ॥ १ ॥

भाष्य—इस गाथामें निर्ग्रन्थ मुनिके जो विशेषणपद दिये गये हैं, वे सब हेतुहेतुमद्भाव-पूर्वक हैं। 'यदि पढ़ेगा तो विद्वान् हो जायगा, यदि वर्षा अच्छी होगी तो संवत् हो जायगा,' यही हेतुहेतुमद्भावका उदाहरण है। इसी तरह उपरोक्त गाथा-प्रतिपादित निर्ग्रन्थ मुनिके विशेषणपदों का अर्थ करना चाहिये। यथा,—

निर्ग्रन्थ मुनि यदि भलीभांति संयममें स्थित होगा तभी वह संपूर्ण सांसारिक बन्धन रहित हो सकेगा। जो सांसारिक बन्धन-रहित अर्थात् बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रहित होगा, वही स्वपर का रक्षक हो सकेगा। और जो स्वपरका रक्षक होगा, वही महर्षि हो सकेगा।

आत्माएं तीन प्रकारकी होती हैं। स्वरक्षक, पररक्षक और स्वपररक्षक। इस प्रकरणमें 'रक्षक' शब्दका अर्थ मरनेसे या तकलीफ़से बचाना ही नहीं है, बल्कि क्रोध, मान, माया, लोभ, दुर्व्यसन, अपवित्र भावना आदि जीवके अन्तरङ्ग शत्रुओंके आक्रमणसे भी बचाना है। इस प्रकारकी अपनी रक्षा करनेमें जो मुनि तल्लीन हैं, वे स्वरक्षक हैं। दूसरेकी आत्माकी रक्षा करनेमें जो संलग्न हैं, वे पररक्षक हैं। और जो अपनी और साथ ही परकी भी रक्षा करनेमें समर्थ हैं अर्थात् अपनी आत्माके कल्याणके साथ २ पराई आत्माओंका भी जो कल्याण कर सकते हैं, वे ही 'महर्षि' कहलाते हैं।

साधुको निमित्त रखकर यदि भोजन तैयार कराया जाय और उसका पता उस साधुको लग जाय, और फिर उस आहारको वह साधु ग्रहण करले तो उस भोजनके बननेमें आरम्भादिजन्य जो हिंसा हुई थी, उसका वह भागी अवश्य होगा। क्योंकि साधुकी उसमें अनुमोदना हो गई। न मालूम हो और वह उस आहारको ले ले तो उसमें वह पापका भागी नहीं है।

२. क्रीतकृत—साधु स्वयं कहींसे भी कोई चीज़ खरीदे नहीं, खरीदवाये नहीं और बाज़ार से खरीदी हुई मिठाई आदि यदि कोई आहारमें दे तो उसे भी ले न। क्योंकि बाज़ारमें बनाये गये खाद्य पदार्थ पवित्र और प्राशुक नहीं कहे जा सकते।

३. नियाग—कोई गृहस्थ यदि किसी साधुको न्योता दे दे कि 'आप मेरे गृहसे नित्य आहार ले जाया कीजिये।' तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा करनेसे साधुके चित्तमें अन्य लोगोंके प्रति जिनके यहांसे उसे निमन्त्रण नहीं मिला है, घृणाका भाव पैदा हो सकता है। उनकी निन्दा करनेका भी विचार साधुके चित्तमें आ सकता है। और राग और द्वेषका अविनाभावी सम्बन्ध भी है। अर्थात् जब एकके प्रति द्वेष हो गया तो दूसरेके प्रति राग हो जाना स्वाभाविक है। इसलिये निमन्त्रण देनेवाले लोगोंसे उसका राग भाव भी हो सकता है और उनकी प्रशंसा करनेका भी उसका विचार हो सकता है।

'नियाग' का एक अर्थ यह भी है कि जो आहार ब्राह्मण आदि किसीकेलिये अलग निकाल कर रख दिया हो तो उसे भी साधु ग्रहण न करे। क्योंकि वह दूसरेके हिस्सेकी चीज़ होगई।

खरीदकर लेना (**नियागं**) आमंत्रित घरसे आहार लेना (**य**) और (**अभिहडाणि**) स्वग्रामादि से साधुके वास्ते लाकर पदार्थ साधुको देना (**राइ भत्ते**) रात्रिभोजन करना (**य**) और (**सिणाणे**) स्नान करना (**गंध**) सुगंधका लेना (**मल्ले**) पुष्पमालादि धारण करना (**य**) और (**वीयणे**) वीजना—पंखादि करना ॥ २ ॥

मूलार्थ—औद्देशिक आहारादि लेना १, खरीदकर लेना २, आमन्त्रित आहारादि ग्रहण करना ३, गृहादिसे लाया हुआ भोजनादि लेना ४, रात्रि भोजन करना ५, स्नान करना ६, सुगंधित पदार्थोंका सेवन करना ७, पुष्पमालादिका धारण करना ८, और वीजनादि करना ९ ये सब मुनिकेलिये अनाचीर्ण हैं ॥ २ ॥

भाष्य—इस गाथामें साधुके अनाचीर्ण पदार्थोंका वर्णन किया गया है अर्थात् जो जो पदार्थ मुनिवृत्तिके सेवन करनेके योग्य नहीं हैं, उन पदार्थोंका वर्णन किया गया है। और जिन पदार्थोंका नाम लिया गया है, वे दिग्दर्शनमात्र हैं। उपलक्षणसे तत्सदृश अन्य पदार्थ भी ग्रहण किये जा सकते हैं।

१ औद्देशिक—कोई भी काम किया जाय, आरम्भ, संरम्भ और समारम्भके बिना नहीं हो सकता। आरम्भ, सरम्भ और समारम्भ जहां होता है, वहां हिंसा होना स्वाभाविक है।

साधुको निमित्त रखकर यदि भोजन तैयार कराया जाय और उसका पता उस साधुको लग जाय, और फिर उस आहारको वह साधु ग्रहण करले तो उस भोजनके बननेमें आरम्भादिजन्य जो हिंसा हुई थी, उसका वह भागी अवश्य होगा। क्योंकि साधुकी उसमें अनुमोदना हो गई। न मालूम हो और वह उस आहारको ले ले तो उसमें वह पापका भागी नहीं है।

२. क्रीतकृत—साधु स्वयं कहींसे भी कोई चीज़ खरीदे नहीं, खरीदवावे नहीं और बाज़ार से खरीदी हुई मिठाई आदि यदि कोई आहारमें दे तो उसे भी ले न। क्योंकि बाज़ारमें बनाये गये खाद्य पदार्थ पवित्र और प्रासुक नहीं कहे जा सकते।

३. नियाग—कोई गृहस्थ यदि किसी साधुको न्यौता दे दे कि 'आप मेरे गृहसे नित्य आहार ले जाया कीजिये।' तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा करनेसे साधुके चित्तमें अन्य लोगोंके प्रति जिनके यहासे उसे निमन्त्रण नहीं मिला है, घृणाका भाव पैदा हो सकता है। उनकी निन्दा करनेका भी विचार साधुके चित्तमें आ सकता है। और राग और द्वेषका अविनाभावी सम्बन्ध भी है। अर्थात् जब एकके प्रति द्वेष हो गया तो दूसरेके प्रति राग हो आना स्वाभाविक है। इसलिये निमन्त्रण देनेवाले लोगोंसे उसका राग भाव भी हो सकता है और उनकी प्रशंसा करनेका भी उसका विचार हो सकता है।

'नियाग' का एक अर्थ यह भी है कि जो आहार ब्राह्मण आदि किसीकेलिये अलग निकाल कर रख दिया हो तो उसे भी साधु ग्रहण न करे। क्योंकि वह दूसरेके हिस्सेकी चीज़ होगई।

४. अभ्याहृत—यदि कोई किसी दूसरेके घरसे या किसी दूसरे ग्रामसे आहारको लाकर साधुको दे तो उसे भी साधु ग्रहण न करे।

'अभ्याहृत' केलिये गाथामें जो 'अभिहडाणि' बहुवचन पद दिया है, वह गाँव, नगर, पत्तन, देश, प्रान्त आदि अनेक भेदोंको प्रदर्शन करनेकेलिये दिया है।

५. रात्रिभोजन—इसमें जो दोषबाहुल्य है, वह तो संसारभरमें प्रसिद्ध है। इसमें इतनी दोषबहुलता है कि यह श्रावकों तकको निषिद्ध है, तो फिर साधुओंका कहना ही क्या ! यह तो एकदम सर्वथा त्याज्य है। जैनेतर शास्त्रों तकमें उसका पर्याप्त निषेध है। यहां तक लिखा है कि— 'रात्रिके समय भोजन गोमांसके बराबर और जल रुधिरके बराबर है।"

६ स्नान—शुचिमात्र स्नानको छोड़कर और सब प्रकारके स्नान—देशस्नान व सर्वस्नान त्याज्य हैं। स्नान शरीरसत्कार है और कामरागका वर्धक है। साधुकेलिये रागवर्धक पदार्थ व क्रियाएं सब हेय हैं।

७ गन्ध —इत्र-फुलेलादिका लगाना भी साधुकेलिये अयोग्य है। ये भी रागवर्धक हैं।

८. माला—पुष्प व माला भी वर्ज्य हैं। सचित्त और रागवर्धक होनेके कारण।

९. वीजना—पंखा आदिसे हवा करनेमें वायुकायिक जीवोंका विघात होता है। अतः वे भी साधुकेलिये त्याज्य हैं ॥ २ ॥

उत्थानिका—उसी विषयमें फिर भी कहते हैं, —

सन्निही गिहिपत्ते य रायपिंडे किमिच्छए ।
सवाहणा दंतपहोयणा य, संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥ ३ ॥

सन्निधि गृहिपात्र च, राजपिण्डः किमिच्छकः ।
संवाधन दन्तप्रधावन च, संप्रश्नः देहप्रलोकन च ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(**सन्निही**) वस्तुओंका संचय करना (**य**) और (**गिहिपत्ते**) गृहस्थीके पात्रमें भोजन करना (**रायपिंडे**) राजपिण्डका ग्रहण करना (**किमिच्छए**) दान देनेवाली शालासे दान लेना (**संवाहणा**) संवाधन—मर्दन करना (**य**) और (**दंतपहोयणा**) दन्त प्रधावन करना तथा (**संपुच्छणा**) गृहस्थसे सावद्यादि प्रश्न पूछने तथा मैं कैसा लगता हूं, इत्यादि पूछना (**य**) और आदर्शादिमें अपने देहका अवलोकन करना ॥ ३ ॥

मूलार्थ—घृत गुडादिका संचय करना १०, गृहस्थीके पात्रमें भोजन करना ११, राजाका आहार लेना १२, दानशालासे दान लेना १३, मर्दन करना-कराना १४, दांत मांजना १५, गृहस्थसे क्षेम कुशल पूछना १६, अपने शरीरके प्रतिविम्बको आदर्शादिमें देखना १७, ये सब साधुकेलिये अनाचरित हैं ॥ ३ ॥

४. अभ्याहृत—यदि कोई किसी दूसरेके घरसे या किसी दूसरे ग्रामसे आहारको लाकर साधुको दे तो उसे भी साधु ग्रहण न करे।

'अभ्याहृत' केलिये गाथामें जो 'अभिहडाणि' बहुवचन पद दिया है, वह गाँव, नगर, पत्तन, देश, प्रान्त आदि अनेक भेदोंको प्रदर्शन करनेकेलिये दिया है।

५. रात्रिभोजन—इसमें जो दोषबाहुल्य है, वह तो संसारभरमें प्रसिद्ध है। इसमें इतनी दोषबहुलता है कि यह श्रावकों तकको निषिद्ध है, तो फिर साधुओंका कहना ही क्या! यह तो एकदम सर्वथा त्याज्य है। जैनेतर शास्त्रों तकमें उसका पर्याप्त निषेध है। यहां तक लिखा है कि—'रात्रिके समय भोजन गोमांसके बराबर और जल रुधिरके बराबर है।"

६ स्नान—शुचिमात्र स्नानको छोड़कर और सब प्रकारके स्नान—देशस्नान व सर्वस्नान त्याज्य हैं। स्नान शरीरसंस्कार है और कामरागका वर्धक है। साधुकेलिये रागवर्धक पदार्थ व क्रियाएं सब हेय हैं।

७ गन्ध—इत्र-फुलेलादिका लगाना भी साधुकेलिये अयोग्य है। ये भी रागवर्धक हैं।

८. माला—पुष्प व माला भी वर्ज्य हैं। सचित्त और रागवर्धक होनेके कारण।

९. बीजना—पंखा आदिसे हवा करनेमें वायुकायिक जीवोंका विघात होता है। अतः ये भी साधुकेलिये त्याज्य हैं॥ २॥

उत्थानिका—उसी विषयमें फिर भी कहते हैं,—

सन्निही गिहिपत्ते य रायपिंडे किमिच्छए ।
सवाहणा दंतपहोयणा य, सपुच्छणा देहपलोयणा य ॥ ३ ॥

सन्निधि गृहिपात्र च, राजपिण्डः किमिच्छकः ।
संवाधन दन्तप्रधावन च, सप्रश्नः देहप्रलोकन च ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(**सन्निही**) वस्तुओंका संचय करना (**य**) और (**गिहिपत्ते**) गृहस्थीके पात्रमें भोजन करना (**रायपिंडे**) राजपिण्डका ग्रहण करना (**किमिच्छए**) दान देनेवाली शालासे दान लेना (**सवाहणा**) संवाधन—मर्दन करना (**य**) और (**दंतपहोयणा**) दन्त प्रधावन करना तथा (**सपुच्छणा**) गृहस्थसे सावद्यादि प्रश्न पूछने तथा मैं कैसा लगता हूं, इत्यादि पूछना (**य**) और आदर्शादिमें अपने देहका अवलोकन करना ॥ ३ ॥

मूलार्थ—घृत गुडादिका संचय करना १०, गृहस्थीके पात्रमें भोजन करना ११, राजाका आहार लेना १२, दानशालासे दान लेना १३, मर्दन करना-कराना १४, दांत मांजना १५, गृहस्थसे क्षेम कुशल पूछना १६, अपने शरीरके प्रतिबिम्बको आदर्शादिमें देखना १७, ये सब साधुकेलिये अनाचरित हैं ॥ ३ ॥

माध्य १० संनिधि—घृत गुड़ादिका संग्रह रखना, मुनिकी अतिगृद्धता और परिग्रहके प्रति ममत्वकी सूचक है।

११ गृहिपात्र—गृहस्थीके यहाँ पात्र प्रायः धातुके होते हैं। मुनिको धातुमात्रका स्पर्श वर्जित है।

१२. राजपिण्ड—अनेक राजा अव्रती भी होते हैं। उनके यहाँ भक्ष्याभक्ष्यका विवेक प्रायः नहीं होता। दूसरे, राजाओंके यहाँ प्रायः बलयुक्त भोजन बना करता है। मुनि संयममार्गके पथिक हैं। अतः उन्हें ऐसा आहार लेना उनके पथभ्रष्ट होनेका कारण है।

१३. किमिच्छक—जिन शालाओंमें 'तुम कौन हो?, क्या चाहते हो?' इत्यादि प्रश्न पूछे जाते हैं, वह किमिच्छक दानशाला कहलाती है। ऐसी शालाओंसे कोई भी चीज़ मुनिको नहीं लेना चाहिये। क्योंकि एक तो 'वह उनके निमित्त तैयार की गई,' मानी जाती है। दूसरे, मुनिको दान लेते समय जिन २ अन्तरायोंके टालनेकी शास्त्रमें आज्ञा है, उनके टलनेकी यहाँ संभावना नहीं है।

१४ संबाधन—शरीरका दाबना या दबवाना, ये दोनों ही काम, कामरागवर्धक हैं।

१५. दन्तप्रधावन—दाँत माँजना या दन्तमञ्जन लगाना, यह मुनिकी सौन्दर्यभावनाका द्योतक है।

१६. संप्रश्न—गृहस्थी गृहस्थीसे जैसे कुशल क्षेमके प्रश्न पूछा करते हैं वैसे साधुको नहीं

पूछना चाहिए। क्योंकि उत्तरमें गृहस्थीसे जो कुछ कहा जायगा, उसमें सत्यासत्यके सूक्ष्म विवेचन के अनुसार कुछ-न-कुछ असत्यांश भी हुए बिना न रहेगा। इस तरह मुनिका वाक्य असत्यो-त्तेजक हो जाता है। मुनिके असत्यका त्याग कृत-कारित अनुमोदनासे अर्थात् महाव्रतरूपसे होता है। अणुव्रतरूपसे नहीं। दूसरे, उनका पूछना निरर्थक भी है। क्योंकि जो कुछ तकलीफ़ या आराम गृहस्थको प्राप्त है, वह मुनिके पूछनेसे कुछ बदल नहीं सकता। और न वे दुःख-निवारणका कुछ उपाय ही बतला सकते हैं। क्योंकि जो वे बाह्य उपाय बतलायेंगे, वह सब सावद्य अन्य होगा। रहा, धर्मोपदेश; सो इसे तो वे देते ही हैं।

१७ देह-प्रलोकन—शरीर-सौन्दर्यका अभिलाषी ही प्रायः शरीरको दर्पणमें देखेगा। मुनि शरीर-सौन्दर्यके त्यागी होते हैं। वे तो आत्म-निर्मलताके योगी होते हैं ॥ ३ ॥

उत्थानिका—उसी विषयमें और भी कहते हैं—

अट्ठावए य नालीए छत्तस्स य धारणट्ठाए।
तेगिच्छं पाहणापाए, समारम्भं च जोइणो ॥ ४ ॥

अष्टापदं च नालिकया, छत्रस्य च धारणार्थाय।
चैकित्स्यमुपानहौ पादयोः, समारम्भ च ज्योतिषम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(अट्ठावए) जुआ खेलना (य) पुनः (नालीए) नालिकासे जुआ खेलना (य) तथा (छत्तस्स) छत्रका (धारणट्ठाए) अनर्थकेलिये धारण करना (तेगिच्छं) चिकित्सा करना (पाए) पैरोंमें (पाहणा) जूतादि पहिरना (च) और (जोइणो) अग्निका (समारम्भ) समारम्भ करना ॥ ४ ॥

मूलार्थ—जुआ खेलना १८, नालिकासे जुआ खेलना १९, सिरपर छत्र धारण करना २०, व्याधि आदिकी चिकित्सा करना २१, पैरोंमें जूतादि पहिरना २२, और अग्निका समारम्भ करना २३, ये सब साधुकेलिये अनाचरित हैं ॥ ४ ॥

भाष्य—१८, १९—प्राकृत भाषाके 'अट्ठावए' शब्दके दो अर्थ हैं। एक जुआ खेलना और दूसरा धनकेलिये निमित्तशास्त्रादिका सीखना। यहां ये दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं-दोनों ही साधुकेलिये अनाचीर्ण हैं।

यहां यह शङ्का हो सकती है कि 'अट्ठावए' शब्दका अर्थ भी जुआ खेलना है और 'नालीए' शब्दका भी यही अर्थ है। तो गाथामें एकार्थक दो शब्द क्यों दिये ? इसका समाधान यह है कि 'अट्ठावए' सामान्य जुएका बोधक है और 'नालीए' पाशोंके द्वारा जुआ खेलने तथा राग-शतरंज

मात्रिका बोधक है। इस तरह 'भट्ठावए' सामान्य-द्यूत-बोधक और 'नालीए' विशेष-द्यूत-बोधक है।

२० छत्रधारण—छाता साधु न स्वयके लगावे और न दूसरेके। यह कार्य साधुवृत्तिके लिये अयोग्य है।

यहां एक बात ध्यानमें रखने योग्य है कि ये सब अनाचीर्ण यहां उत्सर्ग मार्गसे बतलाये गये हैं। अपवाद मार्गसे वृद्ध व ग्लान साधुको छत्र लगानेकेलिये आज्ञा है।

प्राकृतभाषाके नियमानुसार 'धारणाए' में अनुस्वार, नकार और अकारका लोप मानकर उसकी छाया 'धारणानर्थाय' भी की जा सकती है। वृद्ध परम्परासे ऐसा सुनते चले आते हैं।

२१ चैकित्स्य—मुनि दो तरहके होते हैं। एक स्थविरकल्पी और दूसरे जिनकल्पी। उनमें से स्थविरकल्पीकेलिये सिर्फ सावद्य औषधिका निषध है। जिनकल्पीकेलिये क्या सावद्य और क्या निरवद्य सभी प्रकारकी औषधियोंका निषेध है। लेकिन बलकारक औषधियोंका निषेध स्थविरकल्पी मुनिकेलिये भी है।

२२, २३ जूतोंका पहिरना और अग्निका जलाना—सावद्य कर्म होनेके कारण मुनिकेलिये ये कर्म सर्वथा निषिद्ध हैं ॥४॥

उत्थानिका—फिर भी पूर्वोक्त विषयमें ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अट्ठावए) जुआ खेलना (य) पुनः (नालीए) नालिकासे जुआ खेलना (य) तथा (छत्तस्स) छत्रका (धारणट्ठाए) अनर्थकेलिये धारण करना (तेगिच्छं) चिकित्सा करना (पाए) पैरोंमें (पाहणा) जूतादि पहिरना (च) और (जोइणो) अग्निका (समारंभ) समारम्भ करना ॥ ४ ॥

मूलार्थ—जुआ खेलना १८, नालिकासे जुआ खेलना १९, सिरपर छत्र धारण करना २०, व्याधि आदिकी चिकित्सा करना २१, पैरोंमें जूतादि पहिरना २२, और अग्निका समारम्भ करना २३, ये सब साधुकेलिये अनाचरित हैं ॥ ४ ॥

भाष्य—१८, १९—प्राकृत भाषाके 'अट्ठावए' शब्दके दो अर्थ हैं। एक जुआ खेलना और दूसरा धनकेलिये निमित्तआदिका सीखना। यहां ये दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं-दोनों ही साधुकेलिये अनाचीर्ण हैं।

यहां यह शङ्का हो सकती है कि 'अट्ठावए' शब्दका अर्थ भी जुआ खेलना है और 'नालीए' शब्दका भी यही अर्थ है। तो गाथामें एकार्थक दो शब्द क्यों दिये ? इसका समाधान यह है कि 'अट्ठावए' सामान्य जुएका बोधक है और 'नालीए' पाशोंके द्वारा जुआ खेलने तथा राज-शतरंज

मात्रिका पोषक है। इस तरह 'भट्ठापए' सामान्य-द्यूत-पोषक और 'नालीए' विशेष-द्यूत-पोषक है।

२० छत्रधारण—छाता साधु न स्वयके लगाये और न दूसरेके। यह कार्य साधुवृत्तिके लिये अयोग्य है।

यहां एक बात ध्यानमें रखने योग्य है कि ये सब अनाचीर्ण यहां उत्सर्ग मार्गसे बतलाये गये हैं। अपवाद मार्गसे वृद्ध व म्लान साधुको छत्र लगानेकेलिये आज्ञा है।

प्राकृतभाषाके नियमानुसार 'धारणाए' में अनुस्वार, नकार और अकारका लोप मानकर उसकी छाया धारणामर्थाय' भी की जा सकती है। वृद्धपरम्परासे ऐसा सुनते चले आते हैं।

२१ चैकित्स्य—मुनि दो तरहके होते हैं। एक स्थविरकल्पी और दूसरे जिनकल्पी। उनमें से स्थविरकल्पीकेलिये सिर्फ सावद्य औषधिका निषेध है। जिनकल्पीके लिये क्या सावद्य और क्या निरवद्य सभी प्रकारकी औषधियोंका निषेध है। लेकिन बलकारक औषधियोंका निषेध स्थविरकल्पी मुनिकलिये भी है।

२२, २३. जूतोंका पहिरना और अग्निका जलाना—सावद्य कर्म होनेके कारण मुनिकेलिये ये कर्म सर्वथा निषिद्ध हैं ॥ ४ ॥

उत्थानिका—फिर भी पूर्वोक्त विषयमें ही कहते हैं—

सिज्जायरपिंडं च, आसंदीपलियंकए।
गिहंतरनिसिज्जा य, गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥ ५ ॥

शय्यातरपिण्डं च, आसन्दकपर्यंकौ ।
गृहान्तरनिषद्या च, गात्रस्योद्वर्त्तनानि च ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(सिज्जायरपिंडं) शय्यातरके घरसे आहार लेना (च) और (आसंदी-पलियंकए) आसंदी और पर्यंकपर बैठना (य) तथा (गिहंतरनिसिज्जा) गृहस्थके घर जाकर बैठना (च) च शब्दसे पाटकादिपर बैठना (गायस्सुव्वट्टणाणि) शरीरका मल दूर करनेकेलिये उबटना आदि करना (य) च शब्दसे यहां देहके अन्य संस्कारोंका भी ग्रहण करना चाहिये ॥ ५ ॥

मूलार्थ—शय्यातरके घरसे आहार लेना २४, आसंदीपर बैठना २५, पर्यंकपर बैठना २६, गृहस्थके घर जाकर बैठना २७, और गात्रकी उद्वर्त्तन क्रियाएं करना आदि २८, ये सब साधुकेलिये अनाचरित हैं ॥ ५ ॥

भाष्य--२४ शय्यातरपिण्ड—'शय्या-वसतिम्, तया तरति संसारमिति शय्यातरः।' अर्थात् साधुको ठहरनेकेलिये स्थान देकर जो गृहस्थ संसारसे पार उतरनेका साधन करता है, उसका नाम शय्यातर है। उसके घरसे उस साधुको आहार लेना निषिद्ध है। उस गृहस्थके चित्तसे साधुके प्रति श्रद्धा, भक्ति आदिका व्यवच्छेद न होजाय, इसलिये श्रीतीर्थंकर भगवान्ने ऐसी आज्ञा दी है।

२५, २६ आसन्दकपर्यङ्कनिषद्या—पीढ़ी और खाट आदिपर बैठना। इन जगहोंपर बैठनेसे अप्रमार्जितादि अनेक दोष साधुको लगते हैं।

२७ गृहान्तरनिषद्या—घरोंमें जाकर बैठना अथवा घरोंके बीचमें आकर बैठना। ऐसा करना साधुको अनेक लाञ्छन लगनेका कारण है। इसलिये यह अनाचीर्ण है।

२८. गात्रोद्वर्तन—शरीरके मलको हटानेकेलिये जो उबटना आदि किया जाता है, वह कामरागोत्तेजक है। इसलिये साधुकेलिये यह अनाचरित है॥ ५॥

उत्थानिका—अब फिर पूर्वोक्त विषयमें ही कहते हैं—

गिहिणो वेयावडियं, जा य आजीववत्तिया।
तत्तानिव्वुडभोइत्तं, आउरस्सरणाणि य ॥ ६ ॥

गृहस्थस्य वैयावृत्य, या च आजीववृत्तिता ।
तप्तानिर्वृतभोजित्वम्, आतुरस्मरणानि च ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(गिहिणो) गृहस्थकी (वेयावडिय) वैयावृत्त्य करना (य) और (जा) जो (आजीववत्तिया) अपनी जाति आदि बतलाकर आहारादि लेना (तत्तानिऽवुड-भोइत्तं) मिश्रित जलादिका पान करना अर्थात् जो सर्व प्रकारसे प्रासुक नहीं हुए ऐसे पदार्थोंका भोजन करना (य) तथा (आउरस्सरणाणि) क्षुधादि पीडाओंसे पीडित होकर पूर्वोक्त भुक्त-पदार्थों का स्मरण करना तथा रोगी आदिको आश्रय देना ॥ ६ ॥

मूलार्थ—गृहस्थकी वैयावृत्य करना २९, जाति-कुल-गणादि बतलाकर अपनी आजीविका करना ३०, जो पदार्थ सब प्रकारसे प्रासुक नहीं हुए उनका भोजन करना ३१, भूखादिसे पीडित होकर फिर पूर्वभुक्त पदार्थों का स्मरण करना ३२, ये सब साधुकेलिये अनाचरित हैं ॥ ६ ॥

भाष्य—२९ गृहि-वैय्यावृत्य—साधु पूर्णरूपसे निश्चय रत्नत्रयके आराधक, महाव्रतके पालक, साक्षात् मोक्षमार्गके पथिक और अहर्निश धर्मध्यानी आत्मावलोकी होते हैं। उन्हें सांसा

रिक कर्मोंके करनेकी बिल्कुल फुरसत नहीं है। रुचि भी नहीं है। क्योंकि वे उसको त्याग चुके हैं। भगवान्की आज्ञा भी नहीं है।

दूसरा कोई साधु यदि बीमारी आदिसे पीड़ित होजाय तो दूसरे साधुको उसकी वैयावृत्य करनी चाहिये। क्योंकि वह स्वस्थ होकर पुन साक्षात् मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होगा। गृहस्थ स्वस्थ होकर भी ससारके ही काममें फँसेगा। इसलिये मुनिको गृहस्थकी वैय्यावृत्य नहीं करनी चाहिये। जैसे कि गृहस्थको दूसरेके यहासे आहार आदि लाकर देना। ऐसा करनेसे समाचारीका विरोध होता है। और समाचारीका विरोध होनेसे असयमरूप प्रवृत्ति होती है।

३० आजीववृत्तिता –अपनी जाति, कुल, गण, शैल्पादि दिखलाकर आजीविका करना मुनिकेलिये निषिद्ध है। ऐसा करनेसे उसका जीवन सयम-जीवन–धर्म जीवन न रहकर गृहस्थ जीवन बन जाता है।

३१ तप्तानिर्वृ तभोजित्व—सचित्त–अचित्त मिश्रित आहार पानीका ग्रहण करना; तथा अन्य वस्तुए भी, जब तक कि वे पूर्णरूपसे प्रासुक नहीं हुई हैं, ग्रहण करना, मुनिकेलिये निषिद्ध है। क्योंकि वे अचित्तके त्यागी हैं।

३२ आतुरस्मरण—क्षुधादिसे पीड़ित होजानेपर पूर्वमें भोगे हुए भोज्य पदार्थोंका स्मरण करना। ऐसा करनेसे शान्तस्वभावी मुनिके चित्तमें खेद ही पैदा होगा। इसलिये यह भी साधुके

लिये अनाचरित है। 'आतुरस्मरण' शब्दका दूसरा अर्थ, दोषाश्रित पुरुषको आश्रय देना भी किया जाता है ॥ ६ ॥

उत्थानिका—आगे और भी अनाचरितोंका वर्णन करते हैं,—

मूलए सिंगबेरे य, उच्छुखडे अनिव्वुडे ।
कन्दे मूले य सच्चित्ते, फले बीए य आमए ॥ ७ ॥

मूलक शृङ्गबेर च, इक्षुखण्ड चानिर्वृत्तम् ।
कन्दो मूल च सचित्त, फल बीजमामक ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(अनिव्वुडे) बिना बनारा हुआ- सचित्त (**मूलए**) मूलक (**य**) और (**सिंगबेरे**) आद्रक (**उच्छुखडे**) इक्षुखण्ड—गणेलियां और (**सच्चित्ते**) सचित्त (**कंदे**) वज्र कन्दादि (**मूले च**) और मूलसहादि तथा (**आमए**) सचित्त (**फले**) फल (**बीए**) बीज ॥ ७ ॥

मूलार्थ—जो जीवोंसे निवृत्त नहीं हुए ऐसे मूलक ३३, आर्द्रक ३४, इक्षुखण्ड ३५, कन्द ३६, मूल ३७ और सचित्त फल ३८, तथा कच्चे बीज ३९, ये सब अनाचरित हैं ॥ ७ ॥

भाष्य— ३३-३६ सचित्त मूलक, आर्द्रक, इक्षुखण्ड, वज्रकन्द, मूलसह, फल और बीज, इन सचित्त† पदार्थोंके सेवनसे मुनिका अहिंसा महाव्रत सुरक्षित नहीं रह सकता। मुनि उसी पदार्थ को ग्रहण करे जिसे यह निश्चित रूपसे अचित्त समझता हो। जिसमें अचित्तका थोड़ा संदेह भी हो जाय तो उसे यह ग्रहण न करे ॥ ७ ॥

उत्थानिका—मुनिके अनाचीर्णोंका और भी वर्णन करते हैं,—

सोवच्चले सिंधवे लोणे, रोमालोणे य आमए।
सामुद्दे पसुखारे य, कालालोणे य आमए ॥ ८ ॥

सौवर्चलं सैन्धवं लवणं, रुमालवणं च आमकम्।
सामुद्रं पांशुक्षारं च, कृष्णलवणं च आमकम् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(आमए) सचित्त (सोवच्चले) सौवर्चल (सिंधवे लोणे) सैन्धव लवण (रोमालोणे) रोमकक्षार (य) और (आमए) सचित्त (सामुद्दे) सामुद्रिक लवण (य) तथा (पसुखारे) पांशुक्षार जातिका लवण (य) पुनः (कालालोणे) कृष्ण लवण ॥ ८ ॥

† चित्तेन सहितं सचित्तः—समीक्षा।—प्रकाशक।

मूलार्थ— सचित्त सौवर्चल ४०, सैन्धवलवण ४१, रोमकक्षार ४२, सामुद्रिकलवण ४३, ऊसरलवण ४४, और कालालवण ४५, इनका सेवन करना मुनिकेलिये अनाचीर्ण है ॥ ८ ॥

भाष्य—४०-४५—सौवर्चल, सैन्धव, रोमकक्षार, सामुद्रिकक्षार, ऊषरक्षार और कृष्ण लवण—ये सब नमककी जातियां हैं। सचित्त दशामें‡ इनका सेवन करना, अहिंसा महाव्रतका विघातक है। ये सब पृथ्वीकाय हैं।

यहां एक शङ्का यह हो सकती है कि गाथामें 'सोवच्चल'—'सौवर्चल' और 'कालालोणे'—'कृष्णलवण' ये दोनों ही शब्द दिये हैं। 'कृष्णलवण' का तो 'काला नमक' अर्थ स्पष्ट ही है। लेकिन 'सौवर्चल' शब्दका भी 'काला नमक' ही अर्थ होता है। इस तरह वैद्यक मतानुसार दोनों ही शब्दोंका एक 'काला नमक' ही अर्थ होता है। यथा—"सौवर्चलं स्यादुचकं, मन्थपाकं च तन्मतम्' अर्थात् सौवर्चल, रुचक और मन्थपाक, ये तीनों ही काले नमकके वाचक हैं—भावप्रकाश, हरीतक्यादि वर्ग।

इसका उत्तर यह है कि यद्यपि वैद्यकमतानुसार 'सौवर्चल' शब्दका अर्थ काला नमक ही होता है। लेकिन संस्कृतभाषामें एक २ शब्दके कई २ अर्थ होते हैं। तदनुसार 'सौवर्चल' शब्दका अर्थ 'सज्जी' भी होता है। यथा—'पाक्योऽथ स्वर्जिकाक्षारः, कापोतः सुखवर्चकः। सौवर्चलं

‡ अनग्नितप्त नमक सचित्त रहता है। पित्त आगे पर वह अचित्त हो जाता है।—प्रकाशक।

स्यात्तुचक, स्यक्तीरी यशरोचना ॥"—अमरकोप। 'स्वर्जिकाक्षारः, कापोतः सुखवर्चकः, सौवर्च्चलम् रुचकमिति पञ्च क्षार भेदस्य—'साजीक्षार, इतिख्यातस्य' अर्थात् स्वर्जिकाक्षार, कापोत, सुखवर्च्चक, सौवर्चल और रुचक, ये पाच नाम क्षारभेदके जो कि 'साजा'—'सज्जी' के नामसे प्रसिद्ध है, उसके हैं। इति तरसुधाव्याख्याख्या। अन्यच्च—"अथ सौवर्च्चल सर्जक्षारे च लवणान्तरे" अर्थात् 'सौवर्चल' शब्द सज्जी और लवणभेद में है।—मेदिनीकोप। यहापर यह बात ध्यान में रखने की है कि आजकल बाज़ारमें जो काला नमक बिकता है, उसका निषेध नहीं है। यह तो कृत्रिम है-निर्मित है-बनाया हुआ है। अत एव अचित है। मुनि उसे ग्रहण करते हैं। अकृत्रिम काला नमक दूसरा होता है। यह स्वभावत -प्राकृतिक ही काला होता है। उसका यहा सचित्त होनेकी वजहसे निषेध है। घिस जाने पर-अचित्त हो जानेपर उसे भी मुनि ग्रहण कर सकते हैं ॥ ८ ॥

तथा च,—

धूवणे त्ति वमणे य, वत्थीकम्म विरेयणे ।
अजणे दंतवणे य, गायाब्भगविभूसणे ॥ ९ ॥

धूपनमिति वमन च, वस्तिकर्म विरेचनम् ।
अञ्जन दन्तकाष्ठ च, गात्राभ्यग विभूषणम् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(**धुवणेत्ति**) वस्त्रादिको धूप देना (**य**) पुनः (**वमणे**) वमन करना (**वत्थीकम्म**) अधोमागसे स्नेहगुटकादि द्वारा मल उतारना (**विरेयणे**) जुलाब लेना (**अजणे**) आंखोंमें अजन डालना (**य**) फिर (**दतवणे**) दांतुन करना (**गायाऽभंग**) शरीरको तैलादि लगाना और (**विभूसणे**) शरीरको विभूषित करना ॥ ९ ॥

मूलार्थ—वस्त्रादिको धूप देना ४६, वमन करना ४७, वस्तिकर्म करना ४८, विरेचन लेना ४९, आंखोंमें अजन डालना ५०, दांतुन करना ५१, गात्राभ्यङ्ग करना ५२ और शरीरको विभूषित करना ५३, ये सब मुनिके लिये अनाचीर्ण हैं ॥ ९ ॥

—भाष्य—४६ धूपन—अपने शरीरको तथा वस्त्रादिको किसी प्रकारकी धूपके द्वारा सुगन्धित करना। तथा कोई २ इस पदका यह भी अर्थ करते हैं कि अनागत कालीन व्याधिकी निवृत्तिकेलिये धूम्रपान—हुक्का पीना आदि। आरम्भजन्य हिंसाके दोषसे बचनेकेलिये मुनि ऐसे काम न करे। वह शरीरसे ममत्व छोड़ चुका है। इसलिये भी मुनिकेलिये ये कार्य अकर्तव्य हैं।

४७ वमन—शरीरको बलयुक्त बनानेकेलिये वैद्यकमतानुसार किसी २ औषधिके सेवनके

पहिले वमन करानेकी आवश्यकता होती है। मुनि ब्रह्मचर्य्य महाव्रतके प्रतापसे स्वतः ही अतुल बलशाली होते हैं। उन्हें बल्य उपचारकी कतई ज़रूरत नहीं है।

४८ वस्तिकर्म—'पुटकेनाधःस्थाने स्नेहदानम्' अर्थात् अधोमार्गसे पिचकारी आदि द्वारा मल निकालना। योगी लोग ऐसा अभ्यास प्रायः किया करते हैं कि शरीरसे मला-आलको बाहर निकाल लेना आदि। जिसे कि न्योलीकर्म कहते हैं। यह सब जैन साधुकेलिये अनाचीर्ण है।

४९-५३ विरेचन, अञ्जन, दन्तकाष्ठ, गात्राभ्यङ्ग और विभूषण—आरम्भजन्य हिंसा और सौन्दर्य-लालसाके त्यागी होनेसे साधुकेलिये ये सब अनाचरित हैं।

इन सब कामोंको अनाचारके अन्दर गिनते हुए पाठकोंको यह बात भूल न जाना चाहिये कि वर्णन सर्वत्र उत्सर्गमार्गका ही किया जाता है। अपवादमार्गका नहीं। लेकिन उसमें अपवाद मार्गका निषेध नहीं होता। इसलिये, किसी मुनिको आंखोंमें जब कोई व्यथा उत्पन्न हो जाय तो वह उस समय रसाञ्जन ग्रहण कर सकता है। क्योंकि वह अञ्जनका त्यागी सौन्दर्यकी दृष्टिसे है, न कि सर्वथा। इस प्रकारसे कारण उपस्थित हो जानेपर वह विरेचन भी ले सकता है। इसी प्रकारके अपवाद मार्गके अन्य भी कार्य स्वयं कल्पित किये जा सकते हैं॥ ६॥

उत्थानिका—सूत्रकार अब साधुके अनाचीर्णोंका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि;—

सव्वमेयमणाइन्नं, निग्गथाण महेसिण ।
संजमंमि अ जुत्ताण, लहुभूयविहारिण ॥ १० ॥

सर्वमेतदनाचीर्णम्, निर्ग्रन्थानां महर्षीणाम् ।
संयमे च युक्तानाम्, लघुभूतविहारिणाम् ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(**संजमंमि**) संयममें (**य**) चकार शब्दसे तपमें (**जुत्ताण**) युक्तोंके (**लहुभूयविहारिण**) लघुभूत होकर विहार करनेवाले (**निग्गथाण**) निर्ग्रन्थ (**महेसिण**) महर्षियोंके (**एय**) यह (**सव्व**) सर्व (**अणाइन्न**) अनाचीर्ण हैं ॥ १० ॥

मूलार्थ—संयम और तपमें युक्त तथा वायुवत् लघुभूत होकर विचरने वाले निर्ग्रन्थ महर्षियों के ये सब अनाचीर्ण हैं—आचरने योग्य कृत्य नही हैं ॥ १० ॥

भाष्य—जो वायुकी भांति अप्रतिबद्ध गति हैं द्रव्य और भावसे सदैव लघुभूत हैं और

संयम तथा तपमें तल्लीन हैं, ऐसे निर्ग्रन्थ महर्षियोंकेलिये, उपरोक्त औद्देशिकादि क्रियाएं आचरण करने योग्य नहीं हैं †।

गाथामें 'निर्ग्रन्थ' के बाद 'महर्षि' शब्दके रखनेका तात्पर्य यह है कि जो वास्तवमें निर्ग्रन्थ होगा वही महर्षि' हो सकता है। अन्य नहीं ॥ १० ॥

उत्थानिका – इस प्रकार मुनिके अनाचीर्णोंका वर्णन करके सूत्रकार अब वास्तविक साधुओंका स्वरूप प्रतिपादन करना चाहते हैं। उनमेंसे सबसे प्रथम 'निर्ग्रन्थ' का स्वरूप कहते हैं--

पंचासवपरिण्णाया, तिगुत्ता छसु संजया।
पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥ ११ ॥

---

† यद्यपि उपरोक्त अनाचीर्णोंमेंसे अनेक ऐसे हैं कि जिन्हें सब साधारण गृहस्थ बिना किसी दोषापत्ति समझे पालते हैं। लेकिन मुनियोंकेलिये, ' ही, अनाचीर्ण हो जाते हैं। इसका कारण यही है कि मुनिका चरित्र बहुत स्वच्छ एवं उज्ज्वल होता है। उनकेलिये थोड़ासा भी दोष अनाचीर्ण हो जाता है। बिलकुल सफेद चद्दरपर थोड़ासा भी मैल, मैल मालूम देता है। और जो कपड़ा बहुत मैला हो रहा है, उसपर भले ही उससे अधिक मैल चढ़ जाय, लेकिन वह मैला नहीं मालूम देता।—प्रकाशक।

पञ्चाश्रवपरिज्ञाता, त्रिगुप्ता षट्सु संयता ।
पञ्चनिग्रहणा धीरा, निर्ग्रन्थाः ऋजुदर्शिन ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(**पंचासव**) पांच आश्रवोंको (**परिण्णाया**) जाननेवाले (**तिगुत्ता**) तीन गुप्तियोंके धारक (**छसु संजया**) षट्कायके जीवोंकी रक्षा करनेवाले (**पंचनिग्गहणा**) पांच इन्द्रियोंके निग्रह करनेवाले (**धीरा**) निर्भय—सात भयोंसे रहित (**उज्जुदंसिणो**) मोक्ष या संयमके देखनेवाले (**निग्गंथा**) निर्ग्रन्थ होते हैं ॥ ११ ॥

मूलार्थ—जो पांचों आश्रवके त्यागनेवाले, त्रिगुप्त, षट्कायके जीवोंकी रक्षा करनेवाले, पांच इन्द्रियोंके निग्रह करनेवाले, निर्भय एवं मोक्ष तथा मोक्षके कारणभूत संयमके देखनेवाले हैं, वे निर्ग्रन्थ होते हैं ॥ ११ ॥

भाष्य—पञ्चास्रवपरिज्ञाता—कर्मोंके आगमनद्वारको 'आस्रव' कहते हैं । जब आत्मा पापकर्मोंको करने लगता है, तभी उसके अशुभ कर्मास्रव होता है । पाप पांच हैं, १ हिंसा, २ झूठ, ३. चोरी, ४. कुशील और ५ परिग्रह । जो इनको छोड़ देगा, उसीके, इनके निमित्तसे होनेवाला

आस्रव नहीं होगा। इन्हें छोड़ेगा वही, जो इनके असली स्वरूपसे परिचित होजायगा। इनका असली स्वरूप शास्त्रकारों ने 'दुःखके कारण और दुःख स्वरूप' बतलाया है।

यहांपर शङ्का यह होती है कि अशुभ आस्रव तो उनके नहीं होगा जो उक्त पाचों पापों को करेगा नहीं। 'नहीं करनेका' वाचक शब्द गाथामें नहीं है। गाथामें तो 'परिज्ञाता' शब्द है, जिसका कि अर्थ जाननेवाला होता है। और यही अर्थ ऊपर किया भी गया है? इसका उत्तर यह है कि परिज्ञा—जानकारी दो तरहकी होती है। एक ज्ञ-परिज्ञा, और दूसरी प्रत्याख्यान-परिज्ञा। प्रत्याख्यानपरिज्ञाका अर्थ है उनका अशुभ स्वरूप जानकर उनको सर्वथा त्याग देना। यहांपर यही प्रत्याख्यानपरिज्ञा ग्रहण करनी चाहिये।

त्रिगुप्त- मनोगुप्ति १, वाग्गुप्ति २ और कायगुप्ति ३, ये तीन गुप्तियां हैं। इनको पालना।

षट्संयत—१ पृथ्वीकाय, २ अप्काय, ३ तेजस्काय, ४ वायुकाय, ५. वनस्पतिकाय, और ६ त्रसकाय, इनका संयम पालना।

पञ्चनिग्राहक—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये पांच इन्द्रियां हैं। इनके निग्रह करने में समर्थ।

धीर—परीषहोपसर्ग सहनेमें स्थिर चित्त।

ऋजुदर्शी—जीव जब एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है, तब उसकी विग्रहगति होती है। 'विग्रहगति' में विग्रह' शब्दका अर्थ 'मोड़ा लेना' किया गया है। इसलिये सारांश यह निकला कि संसारकी जितनी गतियां हैं, वे सब मोड़ेवाली हैं। मोक्षकी गति सीधी होती है। संसारको छोड़कर जीव जब मोक्ष जाता है, तब उसको मार्गमें मोड़ा नहीं लेना पड़ता। इसलिये मोक्षका नाम ऋजुगति है।

दूसरे, वास्तवमें देखा जाय तो असंयमका मार्ग टेढ़ा और कण्टकाकीर्ण है। और संयमका मार्ग सीधा तथा निरापद है। संसारी जीवोंको अनादिकालकी आदतकी वजहसे असंयम मार्ग ही रुचिकर होता है, यह दूसरी बात है। लेकिन संयमका मार्ग है सीधा। इसमें परिणामोंकी वक्रता या कुटिलताकी आवश्यकता नहीं है। इसलिये 'ऋजुदर्शी' शब्दके दो अर्थ हैं—एक संयमको देखने वाले, दूसरा, मोक्षके देखनेवाले। दोनों ही अर्थ यहांपर ग्राह्य हैं।

इन उपरोक्त विशेषणोंका निर्ग्रन्थके साथ अविनाभाव संबन्ध है। अर्थात् इतने विशेषण जिसमें हों, वही व्यक्ति निर्ग्रन्थ है। अन्य नहीं ॥ ११ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार इस विषयका वर्णन करते हैं कि वे ऋजुदर्शी आत्माएं काल को अधिकृत्य करके यथाशक्ति वे भी क्रियाएं करते हैं। जैसे कि—

आयावयति गिम्हेसु, हेमतेसु अवाउडा ।
वासासु पडिसलीणा, सजया सुसमाहिया ॥ १२ ॥

आतापयन्ति ग्रीष्मेषु, हेमन्तेषु अप्रावृता ।
वर्षासु प्रतिसंलीना, संयता सुसमाहिता ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(**सजया**) संयमी साधु (**गिम्हेसु**) ग्रीष्मकालमें (**आयावयति**) सूर्यकी आतापना लेते हैं (**हेमतेसु**) शीतकालमें (**अवाउडा**) वस्त्ररहित हो जाते हैं (**वासासु**) वर्षाकालमें (**पडिसलीणा**) एक स्थानमें इन्द्रिय वश करके बैठते हैं (**सुसमाहिया**) ज्ञानादिमें सदा तत्पर रहते हैं ॥ १२ ॥

मूलार्थ—साधु वही है जो ग्रीष्मकालमें आतापना लेते हैं, शीतकालमें वस्त्र नहीं पहिरते, वर्षाकालमें एक स्थानपर इन्द्रिय वश करके बैठते हैं और ज्ञान-ध्यानमें सदा तत्पर रहते हैं ॥१२॥

भाष्य—एक सालमें तीन प्रधान ऋतु और उनकी तीन उपऋतु होती हैं। यहांपर तीन प्रधान ऋतुओंकी अपेक्षासे वर्णन है। अर्थात् साधुकेलिये तीनों ऋतुओंके पृथक्-पृथक् कृत्य वर्णन किये गए हैं।

गाथामें जो सब शब्द बहुवचनान्त दिये गये हैं, उसका तात्पर्य्य यह है कि प्रतिषय ,ऐसा करना चाहिये ॥ १२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार इस विषयमें कहते हैं कि—उक्त क्रियाएं साधु किसलिये करते हैं—

परीसहरिऊदन्ता, धूअमोहा जिइंदिया ।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥ १३ ॥

परीषहरिपुदान्ताः, धूतमोहाः जितेन्द्रियाः ।
सर्वदुःखप्रहीणार्थं, प्रक्रामन्ति महर्षयः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(परीसह) परीषह रूपी (रिऊ) वैरीको (दन्ता) दमन करनेवाले (धूअमोहा) मोहकर्मको दूर करनेवाले (जिइंदिया) इन्द्रियोंको जीतनेवाले (महेसिणो) महर्षि (सव्वदुक्ख) सब दुःखोंके (पहीणट्ठा) नाश करनेकेलिये (पक्कमंति) पराक्रम करते हैं ॥ १३ ॥

मूलार्थ —परीषह रूपी वैरियोंके जीतनेवाले, अज्ञानको दूर करनेवाले, तथा इन्द्रियोंके जीतने वाले महर्षि सब प्रकारके दुःखोंके नाश करनेके वास्ते पराक्रम करते हैं ॥ १३ ॥

भाष्य—इन सब क्रियाओंको महर्षि एक निर्वाणपदकी प्राप्तिकेलिये ही करते हैं। जिसमें कि शारीरिक और मानसिक एक भी प्रकारका दुःख नहीं है।

परीषहको जो वैरीकी उपमा दी गई है, वह इसलिये कि शत्रु जिस तरह अपने इष्टकार्यमें विघ्न डालनेवाले और दुःख देनेवाले होते हैं, उसी प्रकार ये परीषह भी महर्षिके निर्वाणपदकी प्राप्तिमें विघ्नरूप हैं तथा आत्माको दुःख देनेवाले होते हैं ॥ १३ ॥

उत्थानिका— अब सूत्रकर्ता परीषहोंके सहन करनेका फल वर्णन करते हुए कहते हैं—

दुक्कराइं करित्ताणं, दुस्सहाइं सहित्तु य।
केइ त्थ देवलोएसु, केइ सिज्झति नीरया ॥ १४ ॥

दुष्कराणि कृत्वा, दुःसहानि सहित्वा च।
केचिदत्र देवलोकेषु, केचित् सिद्ध्यन्ति नीरजस्काः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(दुक्कराइ) दुष्कर क्रियाओंको (करित्ताण) करके (य) फिर (दुस्सहाइ) असहनीय क्रियाओंको (सहित्तु) सहकरके (केइ) कितनेक (त्थ) यहांसे (देवलोएसु) देवलोकोंमें जाते हैं, (केइ) कितनेक (नीरया) कर्मरजसे रहित होकर (सिज्झंति) सिद्ध हो जाते हैं ॥ १४ ॥

मूलार्थ—दुष्कर क्रियाओंको करके और दुःसह कष्टोंको सहकर कइएक यहांसे मरकर देव लोकोंमें उत्पन्न होते हैं और कितनेक कर्मरजसे सर्वथा विमुक्त होकर सिद्ध हो जाते हैं ॥ १४ ॥

भाष्य—दुष्कर क्रियाएं-जैसे औद्देशिक आहारत्याग आदि। दुस्सह क्रियाएं-जैसे आतापनादि योग। इन क्रियाओंको पालन करते हुए-जो अपनी आत्माको प्रसन्न करते हैं, वे साधु यहांसे शरीर छोड़कर स्वर्ग जाते हैं। और कितने ही मोक्ष भी जाते हैं। मोक्ष वही जाते हैं, जिनके कर्मरज बिल्कुल नष्ट हो गये हैं।

उक्त दुष्कर क्रियाओंके द्वारा जिन्होंने स्वर्ग पाया है, वे भी स्वर्गकी आयुको पूर्णकर फिर मनुष्यभव धारणकर कर्मोंका नाशकर मोक्ष जायंगे।

लेकिन ये फल साधुको तभी प्राप्त होंगे, जब उनकी उपरोक्त क्रियाएं ज्ञानपूर्वक होंगी।

अज्ञानपूर्वक की गई दुष्कर क्रियाएं और सही गई दुस्सह परीषहें, सातावेदनीय कर्मको बाँधने वाली भले ही हो जायं, मोक्षदायिनी नहीं हो सकतीं।

गाथामें 'सिज्झति' जो वर्तमानकालकी क्रिया दी है, वह त्रिकालवर्ती भाव को द्योतित करती है। अर्थात् ऐसा हमेशा होता है ॥ १४ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार इसी विषयमें कहते हुए इस अध्ययनका उपसंहार करते हैं—

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य ।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिणिव्वुडे ॥ १५ ॥ त्ति बेमि ।

क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि, संयमेन तपसा च ।
सिद्धिमार्गमनुप्राप्ता, त्रातारः परिनिर्वान्ति ॥ १५ ॥ इति ब्रवीमि ।

अन्वयार्थ—(संजमेण) संयमसे (य) और (तवेण) तपसे (पुव्वकम्माइं) पूर्व कर्मों को (खवित्ता) क्षय करके (सिद्धिमग्गं) मोक्षके मार्गको (अणुप्पत्ता) प्राप्त हुए (ताइणो) षट्कायके रक्षक साधु (परिणिव्वुडे) निर्वाण प्राप्त करते हैं ॥ १५ ॥

(त्ति बेमि) इस प्रकार मैं कहता हूं ।

मूलार्थ—संयम और तपके द्वारा पूर्व कर्मोंका क्षय करके पट्कायके पालक मुनि मोक्षको
ाप्त करते हैं ॥ १५ ॥

भाष्य—जिस जीवके एक बारके तपश्चरणसे संपूर्ण कर्म निर्जीर्ण नहीं हो सके हों, वह यहांसे
रीर छोड़कर स्वर्ग जायगा। वहां वह अपनी संपूर्ण आयुको भोगकर पुनः मनुष्यभव धारण करेगा।
सा जीव आर्यदेश और सुकुलमें उत्पन्न होकर जब दीक्षा धारण करेगा और संयम तथा तप
ारा शेष पूर्व कर्मों को खपाता हुआ सिद्धिके मार्ग को प्राप्त करेगा तथा पट्कायके जीवों की जब
या पालेगा, तभी वह निर्वाणको प्राप्त करेगा।

गाथामें संयम और तपसे पूर्वकर्मोंको क्षय करनेकी बात जो शास्त्रकारने लिखी है,
उसका तात्पर्य चारित्रधर्मकी प्रधानता बतलाना है, और सिद्धिके मार्गको प्राप्त हुए जो लिखा है,
उसका तात्पर्य्य सम्यग्दर्शनादि जो मोक्षका मार्ग प्रतिपादन किया गया है, उससे है। इस तरह
तीनों सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका वर्णन यहां किया गया समझना चाहिये।
क आचारके पालन करनेसे ही आत्मा स्व तथा परका उपकार कर सकता है ॥ १५ ॥

"श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं कि हे शिष्य ! श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामीके

मुखारविन्दसे मैंने जैसा अर्थ इस अध्ययनका सुना है, वैसा ही मैंने तुमसे कहा है। अपनी, बुद्धिसे कुछभी नहीं कहा ।"

इय खुड्डयारकहा तइयमज्झयणं ।

इति 'क्षुल्लकाचारकथा' तृतीयमध्ययनम् ।

इति श्रीदशवैकालिकसूत्रके क्षुल्लकाचारकथा नामक तृतीयाध्ययनकी "आत्मज्ञानप्रकाशिका" नामकी हिन्दी भाषाटीका समाप्त हुई।

छज्जीवणिया चउत्थमज्झयणं ।

षड्जीवनिकाय नामक चतुर्थ अध्ययन ।

उत्थानिका—गत अध्ययनमें साधुका संक्षेपसे जो आचार कहा गया है, उसका संबंध मुख्यतया छह कायके जीवोंसे है । उनके प्रति दयारूप प्रवृत्ति-निवृत्ति करना ही चारित्र है । इसलिये प्रसङ्गोपात्त उन्हीं छह कायके जीवोंका वर्णन सूत्रकार इस अध्ययनमें करते हैं,—

सुअं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं, इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नता, सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती ॥ १ सूत्र ॥

श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातं, इह खलु षड्जीवनिका नामाध्ययन

श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता, स्वाख्याता, सुप्रज्ञप्ता, श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(**आउसं**) हे आयुष्मन्-शिष्य ! (**मे**) मैंने (**सुअं**) सुना है, (**तेणं**) उस (**भगवया**) भगवान्‌ने (**एवं**) इस प्रकार (**अक्खायं**) कहा है—(**इह**) इस जिनशासनमें (**खलु**) निश्चयसे (**छज्जीवणिया**) षट्कायके जीवोंका कथन करनेवाला (**नाम**) नामक (**अज्झयणं**) अध्ययन (**समणेणं**) श्रमण तपस्वी (**कासवेणं**) काश्यप गोत्रीने (**भगवया**) भगवान् (**महावीरेणं**) महावीरने (**पवेइया**) अलौकिक प्रकारसे जानकर (**सुअक्खाया**) भली प्रकारसे कथन किया (**सुपन्नत्ता**) भली प्रकारसे प्रज्ञप्त किया (**अहिज्जिउं**) अध्ययन करना (**मे**) मुझे (**सेयं**) योग्य है (**धम्मपण्णत्ती**) जिसमें धर्मकी प्ररूपणा है ॥ १ ॥

मूलार्थ—हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है, उस भगवान्‌ने इस प्रकार कथन किया है—इस जैनमतमें निश्चय ही षड्जीवनिकायका नामवाला अध्ययन जो श्रमण भगवान्, महावीर काश्यप गोत्रीने प्रवेदित किया—भली प्रकारसे प्रतिपादन किया—भली प्रकारसे प्रज्ञप्त किया, मुझे उस अध्ययनका अध्ययन करना योग्य है, क्योंकि वह धर्मप्रज्ञप्तिरूप है—उसमें धर्मकी प्ररूपणा की गई है ॥ १ ॥

भाष्य—उक्त अध्ययनके विषयको श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामीने स्वयं जाना है। उनका ही नहीं, किन्तु उस विषयका पार्श्वमें देवों एवं मनुष्यादिकी परिषद्में उसका वर्णन किया है। इतना ही नहीं, किन्तु उस विषयका उन्होंने स्वयं आचरण भी भले प्रकार किया है। प्रत्येक व्यक्तिको इस अध्ययनका पाठ करना चाहिये। क्योंकि इसमें सर्वविरतिरूप चारित्र अर्थात् महाव्रतादिके पालनेकी विधि युक्तिपूर्वक वर्णन की गई है।

यहां यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि—जब श्रीभगवान्‌ने जीवोंके रहनेके षट्स्थान वर्णन किये हैं जिससे कि इस अध्ययनका नाम भी 'षड्जीवनिकाय अध्ययन' रक्खा गया है तो पहले यह तो सिद्ध होना चाहिये कि—जीव की सत्ता भी है या नहीं? इसका समाधान यह है कि—जीव विद्यमान होनेपर ही चारित्रधर्मका प्रतिपादन किया जा सकता है। क्योंकि जब जीव ही न होगा तब फिर चारित्रधर्मकी प्रतिपादना किसलिये की जाती? अतएव आत्मा है, और वह अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध है।

वीर्य और उपयोग, आत्माके आत्मभूत लक्षण वर्णन किये गये हैं। ये लक्षण आत्मद्रव्यके व्यतिरिक्त अन्य किसी भी द्रव्यमें नहीं पाये जाते। मृतादि शरीरोंके सर्व अवयव विद्यमान होने पर भी उक्त लक्षणोंके न होनेसे ही उन्हें मृतक शरीर कहा जाता है। अनुमानसे अनुमेय—पदार्थों की सिद्धि की जाती है। सो जब यह विचार किया जाता है कि—'मेरा सिर दुख रहा है।' इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि-यह प्रत्यय कहनेवाला कोई अन्य पदार्थ अवश्य है और उससे सम्बन्ध करनेवाला शरीर पदार्थ अन्य है। इससे जीवकी सत्ता शरीरसे पृथक् सिद्ध होती है।

तथा उपमानसे भी जीव सत्ता स्व अनुभवसे स्वतः सिद्ध है। क्योंकि-जब कोई अपने अन्तःकरणमें इस प्रकारके भाव उत्पन्न करता है कि – "मेरा आत्मा है ही नहीं" तो इस कथनसे यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि—यह चैतन्य सत्ता किसकी है। क्योंकि चेतन संज्ञावाला ही जीव पदार्थ कहा जाता है। आप्तवाक्यरूप जो आगम हैं, व तो जीवसत्ता स्वीकार करते ही हैं, इसलिये आत्म द्रव्य सद् रूप है।

तथा आत्माके सत् मानने पर पांचों इन्द्रियोंके पांचों विषयोंका ग्राह्य और ग्राहक भाव माना जा सकता है। जब आत्माकी ही नास्ति कर दी जायगी तब ग्राह्य और ग्राहक भाव का भी अभाव मानना पड़ेगा। अतएव आत्मा है और वह अतीन्द्रिय होनेसे आगम प्रमाणसे भी मानना पड़ेगा। तथा प्रत्येक व्यक्ति आत्माका अस्तित्व माननेसे ही आस्तिक माना जाता है। वह आत्मद्रव्य षट्कायमें विद्यमान है।

तथा जब इस प्रकारकी शङ्का उत्पन्न की जाय कि—असंख्यात परिमाणवाले लोकमें अनन्त आत्मा किस प्रकार समाये हुए हैं? तो इसका उत्तर यह है कि, आत्मा द्रव्य अरूपी-सूक्ष्म है, जिस प्रकार एक दीपक की प्रभामें सहस्र दीपकों का प्रकाश समा जाता है ठीक उसी प्रकार इस लोकमें अनन्त जीव द्रव्य समाये हुए हैं। तथा जिस प्रकार किसी एक व्यक्तिके हृदयमें बीस पचीस भाषाएं ठहर सकती हैं, ठीक उसी प्रकार असंख्यात लोकमें अनन्त आत्माएं समाई हुई हैं। और इसीलिये एक शरीरमें भी असंख्य आत्माएं विद्यमान होकर रहती हैं।

श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामीने उस आत्म द्रव्यको अनादि अनन्त प्रतिपादन किया है। यह आत्मद्रव्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र द्वारा कर्मोंसे विमुक्त हो सकता है इन्हीं तीन बातोंपर उसका निर्वाणपद निर्भर है। इस अध्ययनमें इसी बातको स्पष्टरूपसे प्रतिपादन किया गया है।

सूत्रमें 'भंते !'–'भगवान्' शब्द भी है। संस्कृतमें 'भग' शब्द छह अर्थोंमें व्यवहृत होता है। उन अर्थोंके धारण करनेसे ही श्रीमहावीरस्वामी 'भगवान्' कहलाते हैं। 'भग' शब्दके छह अर्थ ये हैं—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः। धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीरणा ॥ १ ॥"

अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, धर्म और प्रयत्नका नाम 'भग' है।

सूत्रकर्त्ताने सूत्रमें जो 'सुअक्खायं'—'स्वाख्यात' पद रक्खा है, उसका तात्पर्य यह है कि—उन्होंने उक्त प्रकरणको स्वयं केवलज्ञानद्वारा जानकर ही जनताके आगे प्रतिपादन किया है, न कि किसीसे सुनकर।

सूत्रके "इह" शब्दसे इस लोकमें या प्रवचनमें इस विषयका अस्तित्व सिद्ध किया गया है।

"खलु" शब्दसे इस बातको सिद्ध किया है कि अन्यतीर्थंकृत प्रवचनमें भी इस विषयका कहीं २ पर अस्तित्व पाया जाता है।

सूत्रमें जो 'सुअं मे'—'श्रुतं मया' पाठ रक्खा है, उससे एकान्तक्षणिकवादका निषेध किया गया है। क्योंकि एकान्तक्षणिकवादमें संपूर्ण विषयको एक आत्मा सुन ही नहीं सकता।

सूत्रमें 'मे'-'मया' जो आत्म निर्देश पद दिया गया है, इसका यह तात्पर्य है कि—मैंने स्वयं सुना है, परम्परासे नहीं।

'आउस !'-'आयुष्मन् ! पदका इसलिये निर्देश किया गया है कि आयुष्कर्मके होनेपरही श्रुतज्ञानकी सार्थकता है, अन्यथा नहीं।

'आउस !'-'आयुष्मन् !' शब्दसे यह सिद्ध होता है कि गुणवान् शिष्यको ही आगमका रहस्य बतलाना चाहिये। अयोग्य शिष्यको नहीं। क्योंकि यदि अपरिपक्व—कच्चे घड़ेमें जल रक्खा जाय, तो जलद्रव्य या घटद्रव्य, दोनोंकी ही हानि होती है। ठीक उसी प्रकार अयोग्य शिष्यको सूत्रदान करनेसे श्रुतका उपहास और उसकी आत्माका अधःपतन हो जानेसे अत्यन्त हानि होनेकी संभावना की जा सकती है।

यदि 'आउस तेणं' को एक पद मानकर श्रीभगवान्का विशेषण माना जाय, तब उक्त सूत्रकी व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये कि— 'आयुष्मता भगवता चिरजीवेनेत्यर्थः" अर्थात् आयुष्य वाले श्रीभगवान्ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है। इस कथनसे अपौरुषेय वाक्यका निषेध हो जाता है। क्योंकि आयुष् वाला देहधारी होता है। और वही भाषण कर सकता है। वर्णोंके स्थान शरीरके होनेपर ही सिद्ध हो सकते हैं। इसीलिये अकाय परमात्मा सिद्ध भगवान् भाषण

नहीं कर सकते । तथा आप्तवाक्य पौरुषेय ही होता है। यह शास्त्र आप्तवाक्य है। अतः पुरुषकृत है।

यदि 'आउसतेणं' के स्थानपर 'आवसतेणं'—'आवसता' पाठ मान लिया जाय, तब इसका यह अर्थ हो जाता है कि-"गुरुमूलमावसता" अर्थात् 'गुरुके पास रहते हुए'। इससे सिद्ध होता है कि गुरुके पास शिष्यको सदैव रहना चाहिये। गुरुके पास रहनेसे ही ज्ञानादिकी वृद्धि हो सकती है, गुरुकुलवासको छोड़कर नहीं।

यदि 'आउसतेणं' के स्थानपर 'आमुसतेणं'-'आमृशता' पाठ पढ़ा जाय तो उसका अर्थ होता है—'आमृशता भगवत्पादारविन्दयुगलमुत्तमाङ्गेन' इससे गुरुकी विनय सिद्ध होती है। जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक गुरुके चरणकमलोंका स्पर्श करते हैं, वे ही मोक्षमार्ग वा ज्ञानादिके सर्वथा आराधक बनते हैं। विनयधर्म सब कार्योंका साधक माना गया है।

श्रमण तपस्वी भगवान् श्रीमहावीरस्वामीने ही उक्त विषयका प्रकाश किया है और अपना वीर पद सार्थक किया है। जैसे कि—

"विदारयति यत्कर्म तपसा च विराजते। तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः ॥ १ ॥"

अर्थात् कर्मोंके विदारण करनेसे, तप सहित विराजमान होनेसे और तप तथा वीर्ययुक्त होनेसे श्रीमहावीरस्वामी वीर कहलाते हैं।

सूत्रमें जो 'सेय मे अहिज्जिय' पद है, वह न सिर्फ अध्ययन अर्थको कहता है, बल्कि इस अध्ययनका पढ़ना, सुनना, मनन करना अन्तःकरणमें भावना उत्पन्न करना आदि सभी अर्थको कहता है।

सूत्रमें 'अज्झयण धम्मपण्णत्ती' जो दोनों पद प्रथमान्त दिये गये हैं, उनमेंसे 'धम्मपण्णत्ती' में प्रथमा हेतुवाचक है। इसका अर्थ यह होता है कि इसके अध्ययनसे धर्मकी प्राप्ति होती है—आत्माकी विशुद्धि होती है। इसलिये इस अध्ययनका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है † ॥ १ ॥

उत्थानिका—इस प्रकार गुरुके कहे जानेपर शिष्यने प्रश्न किया कि वह अध्याय कौनसा है?

कयरा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपण्णत्ता सेय मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती ॥ २ ॥

---

†तथा च—"धर्मप्रज्ञप्तिः, प्रज्ञपनं—प्रज्ञप्तिः, धर्मस्य प्रज्ञप्तिः धर्मप्रज्ञप्तिः। ततो धर्मप्रज्ञप्तेः कारणात्चेतसो विशुद्धयाकारम्। चेतसो विशुद्धयाकारणत्वं श्रेय आत्मनोऽध्येतुरिति"—टीकाकारः।

कतरा खलु सा षड्जीवनिकाय नामाध्ययन श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मे अधीतुमध्ययन धर्मप्रज्ञप्ति ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(**कयरा**) कौनसा (**खलु**) निश्चय (**छज्जीवणिया**) षट् जीवनिकाय (**नाम**) नामक (**अज्झयण**) अध्ययन है जो (**समणेण**) श्रमण (**भगवया**) भगवान् (**महावीरेण**) महावीरस्वामी (**कासवेण**) काश्यपगोत्रीने (**पवेइया**) ज्ञानसे जानकर (**सुअक्खाया**) भली प्रकारसे वर्णन किया (**सुपण्णत्ता**) भली प्रकारसे प्रज्ञप्त किया (**मे**) मुझे (**अहिज्जिउ**) अध्ययन करना उस (**अज्झयण**) अध्ययनका (**सेय**) योग्य है। क्योंकि (**धम्मपण्णत्ती**) वह धर्म प्रज्ञप्तिरूप है ॥ २ ॥

मूलार्थ—षड्जीवनिकाय नामका, वह कौनसा अध्ययन है जो श्रमण भगवान् श्रीमहावीर काश्यपने ज्ञानसे जानकर परिषद्में वर्णन किया है, जिसमें कि धर्मकी प्रज्ञप्ति है, जिसका कि अध्ययन करना मुझे योग्य है ॥ २ ॥

भाष्य—उक्त सूत्रमें गुरु-शिष्यके प्रश्नोत्तरद्वारा इस अध्ययनका प्रारम्भ किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि जनताने परमात्माकी स्तुति करनेकेलिये अनेक मन्त्रादि कल्पित कर रक्खे

है। लेकिन महाव्रतोंको धारण करनेकेलिये एक भी विधानयुक्त शास्त्र जनताके सामने नहीं है। जनताका भी उधर लक्ष्य नहीं है। यह अध्ययन उसी सर्वविरतिरूप चारित्रका—महाव्रतोंका वर्णन करनेवाला है ॥ २ ॥

उत्थानिका—अब शिष्यके प्रश्नको सुनकर गुरु कहने लगे कि—

इमा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयण समणेण भगवया महावीरेण कासवेण पवेइया सुअक्खाया सुपण्णत्ता सेय मे अहिज्जिउ अज्झयण धम्मपण्णत्ती ॥ ३ ॥

इमा खलु सा षड्जीवनिकाय नामाध्ययन श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मे अधीतुमध्ययन धर्मप्रज्ञप्ति ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(**इमा**) यह वक्ष्यमाण (**खलु**) निश्चयसे (**सा**) वह (**छज्जीवणिया**) षड्जीवनिकाय (**नामज्झयण**) नामक अध्ययन (**समणेण**) श्रमण तपस्वी (**भगवया**) भगवान् (**महावीरेण**) महावीरस्वामी (**कासवेण**) काश्यपगोत्रीने (**पवेइया**) स्वय ज्ञानमें

जानकर (सुअक्खाया) वर्णन किया (सुपण्णत्ता) भली प्रकार बतलाया जिसका (अहिज्जिउ) अध्ययन करना (मे) मुझे (सेय) कल्याणकारी है और जो (अज्झयण) अध्ययन (धम्मपण्णत्ती) धर्मप्रज्ञप्तिरूप है ॥ २ ॥

मूलार्थ—यह वक्ष्यमाण षड्जीवनिकाय नामक अध्ययन श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामी काश्यपगोत्रीने स्वय ज्ञानसे जानकर जनताके सामने द्वादश प्रकारकी परिषद्में प्रकट किया, फिर भली प्रकारसे बतलाया। उस अध्ययनका अध्ययन करना मुझे कल्याणकारी है क्योंकि वह धर्मप्रज्ञप्तिरूप है ॥ २॥

भाष्य—उक्त गुरु शिष्योंके प्रश्नोत्तरसे यह बात भली भांति सिद्ध हो जाती है कि शिष्य अपनी अहंवृत्तिको छोड़कर विनयपूर्वक गुरुके निकट अपनी शङ्काओंको कहे और गुरुको भी उचित है कि वे विनीत शिष्यकी शङ्काओंका समाधान भली प्रकार कर दें। इतना ही नहीं, बल्कि गुरुको उचित है कि वे विनीत शिष्यको और सब प्रकारसे योग्य बनानेकेलिये सदैव लक्ष्य देते रहें ॥ २ ॥

उत्थानिका—गुरु फिर इस प्रकार कहने लगे कि—

त जहा—पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइ-

काइया तसकाइया । पुढवि चित्तमतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएण । आऊ चित्तमतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएण। तेऊ चित्तमतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएण । वाऊ चित्तमतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएण । वणस्सई चित्तमतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं । त जहा—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खधबीया बीयरुहा समुच्छिमा तणलया वणस्सइकाइया सबीया चित्तमतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥ ४ ॥

तद्यथा पृथिवीकायिका अप्कायिकाः तेज कायिका वायुकायिका वनस्पतिकायिका त्रस कायिकाः पृथिवी चित्तमात्राख्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्र-परिणतायाः । आप चित्तमात्राख्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शास्त्रपरिणताया तेजः चित्तमात्राख्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्रपरिणताया । वायु चित्तमात्रा-

स्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्रपरिणताया । वनस्पति श्चित्तमात्राख्याता अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वाः अन्यत्र शस्त्रपरिणताया । तद्यथा-अग्रबीजा मूलबीजाः पर्वबीजाः स्कन्धबीजाः बीजरुहा समूर्च्छिमाः तृणलता वनस्पतिकायिका सबीजा श्चित्तमात्राख्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्रपरिणताया ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(तं जहा) जैसे कि (**पुढविकाइया**) पृथ्वीकायके जीव (**आउकाइया**) अप्कायके जीव (**तेऊकाइया**) तेजस्कायके जीव (**वाऊकाइया**) वायुकायके जीव (**वणस्सइकाइया**) वनस्पतिकायके जीव (**तसकाइया**) त्रसकायके जीव । (**पुढवी, चित्तमंतमक्खाया**) पृथिवी, सचित्त कही गई है (**अणेगजीवा**) अनेक जीववाली है (**पुढोसत्ता**) पृथक् २ सत्त्ववाली है (**सत्थपरिणएण**) शस्त्र परिणतके (**अन्नत्थ**) बिना (**आऊ**) अप्कायिक (**चित्तमंतमक्खाया**) चेतना लक्षणवाले कथन किये गए हैं (**अणेगजीवा**) अनेक जीव हैं (**पुढोसत्ता**) पृथक् सत्त्व हैं, (**सत्थपरिणएण**) शस्त्र परिणतको (**अन्नत्थ**) छोड़कर । (**तेऊ**) तेज कायिक (**चित्तमंतमक्खाया**) चेतना लक्षणवाले कथन किये गए हैं (**अणेगजीवा**) अनेक जीव हैं (**पुढोसत्ता**) पृथक् सत्त्व हैं, (**सत्थपरिणएण**) शस्त्र परिणतको

(**अन्नत्थ**) छोडकर (**वाऊ**) वायुकायके जीव (**चित्तमतमक्खाया**) चेतना लक्षणवाले कथन किये गए हैं (**अणेगजीवा**) अनेक जीव हैं किन्तु (**पुढोसत्ता**) पृथक् सत्त्व हैं, (**सत्थपरिणएण**) शस्त्र परिणतको (**अन्नत्थ**) छोडकर (**वणस्सई**) वनस्पतिकायके जीव (**चितमतमक्खाया**) चेतना लक्षणवाले कथन किये गए हैं (**अणेगजीवा**) अनेक जीव हैं (**पुढोसत्ता**) किन्तु पृथक् २ सत्त्व हैं, (**सत्थपरिणएण**) शस्त्रपरिणत को (**अन्नत्थ**) छोडकर (**त जहा**) जैसे कि—(**अग्गबीया**) अग्र भागपर बीज (**मूलबीया**) मूल भागमें बीज (**पोरबीया**) पर्वमें बीज (**खंधबीया**) स्कन्धमें बीज (**बीयरुहा**) बीज बोनेसे बीज उत्पन्न होते हैं (**समुच्छिमा**) सम्मूर्च्छिम–अपने आप होनेवाले (**तण**) तृण (**लया**) लतादि (**वणस्सइकाइया**) वनस्पतिकायिक हैं (**सबीया**) बीजके साथ (**चितमतमक्खाया**) चेतना लक्षणवाले कथन किये गए हैं (**अणेगजीवा**) अनेक जीव हैं (**पुढोसत्ता**) किन्तु पृथक् २ सत्त्व हैं (**सत्थपरिणएण**) शस्त्र परिणतको (**अन्नत्थ**) छोडकर ॥ ४ ॥

मूलार्थ—जैसे कि—पृथिवीकायिक १, अप्कायिक २, तेज कायिक ३, वायुकायिक ४, वनस्पतिकायिक ५, और त्रसकायिक ६ ।

पृथिवीकायिक जीव चेतनावाले कथन किये गये हैं, अनेक जीव पृथक्रूपसे उसमें आश्रित हैं, शस्त्रपरिणतको छोडकर।

अप्कायिक जीव चेतनावाले कथन किये गये हैं, अनेक जीव पृथक्रूपसे उसमें आश्रित हैं, शस्त्रपरिणतको छोडकर।

तेज कायके जीव चेतनावाले कथन किये गये हैं, अनेक जीव पृथक्रूपसे उसमें आश्रित हैं, शस्त्रपरिणतको छोडकर।

वायुकायके जीव चेतनावाले कथन किये गये हैं, अनेक जीव पृथक् रूपसे उसमें आश्रित हैं, शस्त्रपरिणतको छोडकर।

वनस्पतिकायके जीव चेतनावाले कहे गये हैं, अनेक जीव पृथक् २ रूपसे उसमें आश्रित हैं, शस्त्र परिणतको छोडकर। जैसे कि—अग्रबीज १, मूलबीज २, पर्व बीज ३, स्कन्ध बीज ४, बीज रुह ५, सम्मूर्च्छिम ६, तृण ७, लता ८। वनस्पतिकायिक जीव बीजके साथ वनस्पति चेतनावाली कथन की गई हैं, अनेक जीव पृथक्रूपसे उसमें आश्रित हैं शस्त्र-परिणतको छोडकर।

भाष्य—सूत्रमें 'चित्तमत्तमक्खाया'—शब्दकी संस्कृतछाया 'चित्तमात्राख्याता' की गई है। यहांपर 'मात्र' शब्दके रखनेका सूत्रकारका अभिप्राय, पांचों स्थावरोंमें चेतना अल्प मात्रामें बतलानेका है। क्योंकि 'मात्र' शब्द अल्पवाचक है। तथा च टीकाकारः—

"अत्र मात्रशब्दः स्तोकवाची। यथा—सर्षपत्रिभागमात्रामति। ततश्च चित्तमात्रा—स्तोकचित्तेत्यर्थः।" अर्थात् यहांपर 'मात्र' शब्द स्तोक—अल्पका वाचक है। जैसे कि 'सरसोंका तिहाई हिस्सामात्र' यहांपर 'मात्र' शब्द अल्पवाचक है। इसलिये 'चित्तमात्र'का अर्थ 'अल्प-चेतनावाले' है। मोहनीयकर्मके प्रबलोदयसे एकेन्द्रिय जीव अत्यन्त अल्प चेतनावाले होते हैं। उससे कुछ अधिक विकसितचेतनक द्वीन्द्रिय जीव होते हैं। इसी तरह आगाड़ी भी उत्तरोत्तर जीवों को विकसितचेतनक समझना चाहिये।

यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि सूत्रमें षट्कायके जीवोंमेंसे सबसे पहिले पृथ्वीकायका वर्णन क्यों किया? तथा उसके बादमें अप्काय आदिका वर्णन क्यों किया? इसका समाधान यह है कि पृथ्वी सर्व भूतोंका आधार और सबसे अधिक है। इसलिये सबसे पहले पृथ्वीकाय वर्णन है।

पृथ्वीपर आश्रयरूपसे ठहरा हुआ और उससे कम जल है। इसलिये उसके बाद अप्काय का वर्णन है।

असका प्रतिपक्षी तेजस—अग्नि है। इसलिये उसके बाद तेजस्कायका वर्णन है।

तेजस्कायके जीवनका साधनभूत वायु है। वायु, अग्निका सखा माना जाता है। क्योंकि वायुकी वजहसे अग्नि वृद्धिगत और प्रज्वलित होती है। इसलिये उसके बाद वायुकायका वर्णन है।

वायुके कारणसे प्रकम्पित होनेवाली वनस्पति है, वायुका प्रबल प्रभाव वनस्पतिपर ही होता है। इसलिये उसके बाद वनस्पतिकायका वर्णन है।

वनस्पतिकायका ग्राहक त्रसकाय है। इसलिये उसके बाद त्रसकायका वर्णन है।

काठिन्य लक्षणवाली पृथिवी है। द्रवीभूत लक्षणवाला जल है। उष्ण लक्षणवाली अग्नि है। चलन लक्षणवाली वायु है। लतादिरूप वनस्पति है। त्रसनशील त्रस हैं।

'अणेगजीवा' शब्दका अर्थ है कि ये काय, जीवोंका समूहरूप हैं।'

"पुढोसत्ता"—'पृथक्सत्त्वा' का अर्थ है कि ये जीव परस्परमें भिन्न शरीर धारण करनेवाले

---

†"पृथक् भूत सत्त्वा–आत्मानो यस्यां सा पृथक्सत्त्वा । अङ्गुला[illegible] [illegible] [illegible]–
[illegible]

है। जैसे कि एक तिल पापड़ीमें जो अनेक तिल होते हैं, वे परस्परमें भिन्न होते हैं। उसी तरह एक सर्षप प्रमाण मिट्टीमें असंख्यात जीव पृथक् २ शरीर धारण करनेवाले होते हैं।

यहांपर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि पृथ्वी जब जीवोंका पिण्डरूप ही है, तब संयम क्रिया किस तरह पालन की जा सकती है। क्योंकि सर्व क्रियाएं पृथ्वीपर ही तो की जाती हैं? इसका समाधान यह है कि सूत्रमें सूत्रकर्तानें इसीलिये 'शस्त्रपरिणत' शब्द रक्खा है। जो काय शस्त्रके द्वारा खण्डित-विदारित हो जायगी, वह अचित्त-जीवरहित हो जायगी। द्रव्यशस्त्र तीन प्रकारसे वर्णन किया गया है। जैसे कि—

१ किञ्चित्स्वकायशस्त्र—काली मिट्टीका संयोग यदि नीलादि मिट्टियोंसे हो जाय तो वे दोनों मिट्टिया परस्पर मर्दन करनेसे अचित्त हो जाती हैं। यह उदाहरण मिट्टीके वर्ण गुणकी अपेक्षासे है। ठीक इसी प्रकार गन्ध, रस और स्पर्शके भेदोंकी अपेक्षासे भी शस्त्रकी योजना कर लेनी चाहिये।

२ किञ्चित्परकायशस्त्र—मिट्टीको यदि अप्काय, तेजस्काय आदिका भी स्पर्श हो जाय तो फिर वह भी अचित्त हो जाती है। और इस तरहसे अचित्त हुए कायको परकायद्वारा अचित्त हुआ कहा जाता है।

३. किञ्चित्तदुभयशस्त्र—कभी-कभी उपरोक्त दोनों स्वकाय और परकायके शस्त्रसे पृथिवी अचित्त हो जाती है। और उसे तदुभयशस्त्रद्वारा अचित्त हुआ कहा जाता है। इस प्रकार अनेक शस्त्रोंकी योजना कर लेनी चाहिये। कारण कि परस्पर गन्ध, रस और स्पर्शादिद्वारा अनेक प्रकारके स्पर्श स्पर्शित होनेसे पृथिवीकायके जीव च्युत हो जाते हैं। फिर यत्नपूर्वक संयमक्रियाएं उस अचित्त पृथिवीपर भले प्रकारसे पालन की जा सकती हैं। और अहिंसादि व्रत भी सुखपूर्वक पालन किये जा सकते हैं।

जिस प्रकार पृथिवीकायका वर्णन किया गया है, ठीक उसी प्रकार अप्कायिक, तेजःकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोंके विषयमें भी जानना चाहिये *।

---

* कुछ विद्वानोंने इनको अनुमानसे सचेतन सिद्ध किया है। यथा—सात्मकं अम्भः, भूमिखातस्वाभाविकसंभवात्, दर्दुरवत्। सात्मको अग्निः, आहारेण वृद्धिदर्शनात्, बालकवत्। सात्मकः पवनः, अपरप्रेरिततिर्यग्गतिनियमितदिग्गमनात्, गोवत्। सचेतनास्तरवः सर्वत्वक्पहरणे मरणात्, रासभवत्। अर्थात्— जल सचेतन है, क्योंकि वह भूमिसे स्वयमेव पैदा होता है; मेंढककी भांति। अग्नि सचेतन है, क्योंकि वह आहार करनेसे बढ़ती है, बालककी भांति। वायु सचेतन है, क्योंकि वह विना किसी दूसरेकी प्रेरणासे तिरिछत दिशामें गमन करती है, गौकी भांति। वृक्ष सचेतन हैं, क्योंकि उनकी संपूर्ण छाल उतार देनेसे वे मर जाते हैं, गधकी भांति।

वनस्पतिकायमें अन्य पांचों कायोंकी अपेक्षा कुछ विशेष वक्तव्य है। इसलिये सूत्रकारने उसका दुबारा विशेष वर्णन भी किया है। जैसे कि—कोरण्टकादि वृक्षोंके अग्रभागमें बीज होता है, उत्पल कन्दादिके मूलमें बीज होता है, इक्षु आदिके पर्वमें बीज होता है, शल्लकी आदिके स्कन्धमें बीज होता है, शाली आदिके बीजके बोनेसे बीज उत्पन्न होते हैं। वर्षादिके हो जानेसे बीजके अभाव होनेपर भी तृणादि सम्मूर्च्छिम उत्पन्न हो जाते हैं। क्योंकि—दग्धभूमिपर भी वर्षाके कारण तृणादि उत्पन्न होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार वनस्पतिके ग्रहण करनेसे सूक्ष्म बादरादि अशेष वनस्पतिका ग्रहण किया गया है। यह उपर्युक्त सब प्रकारकी वनस्पतिकाय सचित्त वर्णन की गई है। यद्यपि यह वनस्पति, एक जीवसे लेकर संख्यात, असंख्यात वा अनन्त जीवोंकी राशि है। किन्तु स्वकाय वा परकाय तथा दोनों कायोंके प्रतिकूल स्पर्श होनेसे वह अचित्त हो जाती है।

यदि यहां यह शङ्का की जाय कि—सूत्रकारको जब वनस्पतिकायका पूर्ण विवरण करना था तो फिर साधारण वनस्पतिकायका वर्णन क्यों नहीं किया, सूत्रमें "अणेगजीवा पुढोसत्ता" जो पद दिया है, उससे साधारण वनस्पतिकायका ग्रहण नहीं होता? इसका समाधान यह है कि यह पाठ सामान्यरूपसे वर्णन किया है। यदि सामान्यरूपसे उक्त पाठको वर्णन किया हुआ न माना

जाय तो सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्तादि भेदोंका वर्णन न होनेसे यह पाठ अपूर्ण मानना पड़ेगा। अथवा ऐसा मानना चाहिये कि अविशेष नामके नियमानुसार इन सूत्रोंकी रचना की गई है। अविशेष नामके ग्रहणसे विशेष नामका ग्रहण भी किया जाता है। इसलिये सामान्य रूपसे यहां उसका भी ग्रहण किया हुआ समझना चाहिये ॥ ४ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार क्रमागत त्रसकायका वर्णन करते हैं,—

से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा, त जहा—अंडया पोयया जराउया रसया संसेइमा समुच्छिमा उब्भिया उववाइया। जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंत पडिक्कंत संकुचिय पसारिय रुय भंत तासिय पलाइय आगइगइविन्नाया, जे य कीडपयंगा जाय कुंथुपिपीलिया सव्वे बेइंदिया सव्वे तेइंदिया सव्वे चउरिंदिया सव्वे पंचिंदिया सव्वे तिरिक्खजोणिया सव्वे नेरइया सव्वे मणुया सव्वे देवा सव्वे पाणा परमाहम्मिया। एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाउत्ति पवुच्चइ ॥ ५ ॥

अथ ये पुनरमी अनेके बहव त्रसाः प्राणिनः, तद्यथा-अण्डजाः पोतजाः जरायुजा रसजा संस्वेदजा समूर्च्छनजा उद्भिज्जा औपपातिका, येषां केषाञ्चित् प्राणिनां अभिक्रान्त प्रतिक्रान्त सङ्कुचित प्रसारित रुत भ्रान्त त्रस्त पलायित आगतिगतिविज्ञाता, ये च कीटपतङ्गा ये च कुंथुपिपीलिका सर्वे द्वीन्द्रिया सर्वे त्रीन्द्रिया सर्वे चतुरिन्द्रिया सर्वे पञ्चेन्द्रिया सर्वे तिर्यग्योनय सर्वे नारका सर्वे मनुजा सर्वे देवाः सर्वे प्राणिन परमधर्मा । एषः खलु षष्ठो जीवनिकायः त्रसकाय इति प्रोच्यते ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(**से**) अथ (**जे**) जो (**इमे**) यह-वक्ष्यमाण (**त्रसा पाणा**) त्रस प्राणी हैं ये (**पुण**) फिर (**अणेगे**) अनेक तथा (**बहवे**) बहुत हैं, (**त जहा-**) जैसे कि-(**अंडया**) अंडेसे उत्पन्न होनेवाले (**पोयया**) पोतसे उत्पन्न होनेवाले (**जराउया**) जरायुसे उत्पन्न होनेवाले (**रसया**) रससे उत्पन्न होनेवाले (**ससेइमा**) प्रस्वेदसे उत्पन्न होनेवाले (**समुच्छिमा**) स्त्री पुरुषके संयोग बिना उत्पन्न होनेवाले (**उब्भिया**) भूमिको भेदकर उत्पन्न होनेवाले (**उववाइया**) 'उपपाद शैय्या' से पैदा होनेवाले, (**जेसिं केसिंच**) कोई-कोइ (**पाणाण**) प्राणी (**अभिक्कंत**) सन्मुख आने (**पडिक्कंत**) पीछे हट जाने (**संकुचिय**) शरीरके संको-

पने (**पसारिय**) पसार देने (**रुय**) शब्द करने (**भंत**) भ्रमण करने (**तासिय**) दुःखसे उद्वेग प्राप्त करने (**पलाइय**) भागने (**आगइगइ**) आने जानेको (**विन्नाया**) जाननेवाले हैं, (**य**) पुनः (**जे**) जो (**कीड**) कीट (**पयंगा**) पतंगिया (**य**) और (**जा**) जो (**कुंथुपिपीलिया**) कुंथु और पिपीलिका (**सव्वे**) सर्व (**बेइंदिया**) दो इन्द्रिय जीव (**सव्वे**) सर्व (**तेइंदिया**) तीन इन्द्रिय जीव (**सव्वे**) सर्व (**चउरिंदिया**) चार इन्द्रिय जीव (**सव्वे**) सर्व (**पंचिंदिया**) पांच इन्द्रिय जीव (**सव्वे**) सर्व (**तिरिक्खजोणिया**) तिर्यञ्च (**सव्वे**) सर्व (**नेरइया**) नारक जीव (**सव्वे**) सर्व (**मणुया**) मनुष्य (**सव्वे**) सर्व (**देवा**) देव (**सव्वे**) सर्व (**पाणा**) प्राणी (**परमाहम्मिया**) परम सुखके चाहनेवाले हैं (**एसो**) यह (**खलु**) निश्चय (**छट्ठो**) छठवां (**जीवनिकाओ**) जीवोंका समूह (**तसकाउ**) 'त्रसकाय' (**त्ति**) इस प्रकार (**पवुच्चइ**) कहा जाता है ॥ ५ ॥

मूलार्थ—इनके [स्थावरकायके] अतिरिक्त अनेक प्रकारके बहुतसे त्रस प्राणी हैं। जैसे कि—अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भिज्ज, औपपातिक। इनमेंसे कोई-कोई प्राणी सन्मुख आता है, कोई-कोई प्रतिक्रान्त होता है, कोई-कोई संकुचित होता है, कोई-कोई पसर जाता है, कोई-कोई शब्द करता है, कोई-कोई भ्रमण करता है कोई-कोई त्रास पाता है

कोई-कोई भागता है, कोई-आने जानेके ज्ञानको जानने वाले हैं, जो कीट पतङ्गे, और जो कुन्थु, पिपीलिका, सब द्वीन्द्रिय, सब त्रीन्द्रिय, सब चतुरिन्द्रिय, सब पञ्चेन्द्रिय, सब तिर्यञ्च, सब नारकीय, सब मनुष्य, और सब देव हैं, ये सब प्राणी परम सुखके चाहनेवाले हैं। सो यह छठा जीवोंको समूह 'त्रसकाय' नामसे कहा जाता है ॥ ५ ॥

भाष्य—मागधी भाषाके व्याकरणानुसार यहांपर 'अथ' शब्दको 'से' आदेश हो गया है। यद्यपि 'अथ' शब्दके अनेकों अर्थ होते हैं, लेकिन फिर भी वह 'अनन्तर' अर्थमें अधिक प्रसिद्ध है। यहांपर भी उसी अर्थमें आया हुआ है। अर्थात् सूत्रकार कहते हैं कि स्थावरकायके अनन्तर अब त्रसकायका वर्णन करते हैं।

त्रसकायके जीव उत्पत्तिस्थानकी अपेक्षा† आठ प्रकारके होते हैं। जैसे कि—

१—अण्डेसे पैदा होनेवाले जीव 'अण्डज' कहलाते हैं, जैसे—पक्षी, मछली आदि।

२—गर्भसे पोत-गुथली सहित पैदा होनेवाले जीव 'पोतज' कहलाते हैं। जैसे मनुष्य आदि।

३—गर्भसे जरायु सहित निकलनेवाले जीव 'जरायुज' कहलाते हैं। जैसे—गौ, भैंस, मृग

---

† "अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेषु।"

आदि। ये जीव जब गर्भसे बाहिर आते हैं, तब इनके शरीरके ऊपर माके पेटमेंसे एक झिल्ली आती है, उसीको 'जरायु' कहते हैं। ये जीव उसमेंसे निकलत ही खेलने-कूदने, दौड़ने-घूमने लगते हैं।

४—दूध, दही, मठा, घी, आदि तरल पदार्थ 'रस' कहलाते हैं। उनके विकृत होजानेपर उनमें जो जीव पड़ जाते हैं, वे 'रसज' कहलाते हैं।

५—पसीने-देहमलके निमित्तसे पैदा होनेवाले जीव 'सस्वेदज' कहलाते हैं। जैसे—जू, खटमल आदि।

६—शीत, उष्ण आदिके निमित्त मिलनेपर इधर-उधरके—आस-पासके परमाणुओंसे जो जीव पैदा हो जाते हैं, वे 'संमूर्छिम' कहलाते हैं। जैसे—शलभ पिपीलिका, पतङ्ग आदि।

७—भूमिको फाड़कर जो जीव पैदा होते हैं, वे 'उद्भिज' कहलाते हैं। जैसे—वनस्पति।

८—उपपाद शैय्यासे उत्पन्न होनेवाले जीव 'औपपातिक' कहलाते हैं। जैसे—देव और नारकी।

यदि यहांपर यह शङ्का की जाय कि यह तो त्रसकायके जीवोंके उनके उत्पत्तिस्थानकी अपेक्षा से भेद हैं। वास्तवमें उनका सामान्य लक्षण-स्वरूप क्या है? तो उसके उत्तरमें सूत्रकारने 'अभिक्कत' इत्यादि पाठ पढ़ा है। अर्थात् उनमेंसे किसी जीवको आगत सन्मुख आनेकी है तो किसी

जीवकी आदत पीछे हट आनेकी है। किसी जीवकी आदत अपने शरीरको सकोच लेनेकी है तो किसी जीवकी आदत अपने शरीरको पसार देनेकी—फैला देनेकी है। कोई जीव शब्द करता है तो कोई जीव भयभीत होकर इधर-उधर चक्कर लगाता है। कोई जीव दुःखसे त्रास पाता रहता है तो कोई जीव दुःखको देखकर भाग जाता है। तथा कितने ही जीव गमनागमनका ज्ञान भले प्रकार रखते हैं।

यदि यहापर यह शङ्का की जाय कि सूत्रमें जब 'अभिक्कत-पडिक्कतं'—'अभिकान्त-प्रतिक्रान्त' पद दे दिये गये हैं तब फिर 'आगइगइ'—'आगतिगति' देनेकी क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर यह है कि जैसे घोड़े हैं, वे भूलकर कहीं चले गये हों तो लौटकर अपने घरपर वापिस भी आजाते हैं। तथा यदि उन्हें पीछे हटाया जाय या अगाड़ी चलाया जाय तो वे यह भी जानते हैं कि हमें पीछे हटाया जारहा है या अगाड़ी बढ़ाया जा रहा है। इसके अतिरिक्त त्रस जीवोंमें जो 'ओघ' संज्ञा होती है, उससे वे धूपसे अरुचि होनेपर छायामें और छायासे अरुचि होनेपर धूपमें चले आते हैं। इस तरहपर त्रस जीवोंका विशिष्ट विज्ञान बतलानेकेलिये 'आगइगइविन्नाया' पद सूत्रकारने दिया है।

यहां यदि यह शङ्का की जाय कि सूत्रकारको अगाड़ी जब द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीव

ग्रहण करने ही थे तो फिर उससे पहिले 'कीडपयंगा' और 'कुंथु पिपीलिया'—'कीटपतङ्गाः,' और 'कुन्थुपिपीलिकाः' क्यों दिये ? इसका समाधान यह है कि सूत्रकी गति विचित्र होती है—वह क्रमसे अतन्त्र भी रहती है।

सूत्रमें जो 'परमाहम्मिआ' पद दिया गया है, उसका अर्थ है "परमधर्माणः—परमसुखाभिलाषिण इत्यर्थः" अर्थात् 'उत्कृष्ट सुखके अभिलाषी'। यहापर 'परमा' में मकारको दीर्घ "आत्सम्रस्यादौ" सूत्रसे हुआ है ॥ ५ ॥

उत्थानिका—ऊपरके सूत्रमें कहा गया है कि पाचों ही स्थावर और छठे त्रस, ये सब प्राणी अपने अपने सुखोंके इच्छुक हैं। कोई भी प्राणी दुःखकी मात्राको नहीं चाहता। अत एव सब प्राणी रक्षाके योग्य हैं। इसलिये किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनी चाहिये। सो अब सूत्रकार इसी विषयमें कहते हैं—

इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभिज्जा, नेवन्नेहिं दंडं समारंभाविज्जा, दंडं समारंभतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जाव-ज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं न करेमि, न कारवेमि,

करतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ ६ ॥

एतेषु षट्सु जीवनिकायेषु नैव स्वयं दण्डं समारभेत्, नैवान्यैः दण्डं समारम्भयेत्, समारम्भमाणानप्यन्यान् न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन–मनसा, वाचा कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि, तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(इच्चेसिं) इन (छण्हं) षट् (**जीवनिकायाणं**) जीवोंकी कायके विषयमें (दण्डं) हिंसारूप दण्डको (सयं) आप–अथवा खुद (**नेव समारभिज्जा,**) समारम्भ न करे, (अन्नेहिं) औरोंसे (दण्डं) हिंसारूप दण्ड (**नेव समारभाविज्जा,**) समारम्भ न करावे, (दण्डं) हिंसारूप दण्डको (**समारभंतेऽवि**) समारम्भ करते हुए (अन्ने) अन्य जीवोंको (**न समणुजाणामि**) भला नहीं समझूंगा—भला न समझे, (**जावज्जीवाए**) जबतक मेरा जीव इस शरीरमें है, तबतक (तिविहं) त्रिविध–कृत, कारित और अनुमोदनासे, (तिविहेणं) तीन

ग्रहण करने ही थे तो फिर उससे पहिले 'कीडपयंगा' और 'कुंथु पिपीलिया'—'कीटपतङ्गा,' और कुन्थुपिपीलिका' क्यों दिये। इसका समाधान यह है कि सूत्रकी गति विचित्र होती है—वह क्रमसे स्वतन्त्र भी रहती है।

सूत्रमें जो 'परमाहम्मिआ' पद दिया गया है, उसका अर्थ है "परमधर्माण—परमसुखाभिलाषिण इत्यर्थः" अर्थात् 'उत्कृष्ट सुखके अभिलाषी'। यहांपर 'परमा' में मकारको दीर्घ "आत्सम्रस्वादौ" सूत्रसे हुआ है ॥ ५ ॥

उत्थानिका—ऊपरके सूत्रमें कहा गया है कि पांचों ही स्थावर और छठे त्रस, ये सब प्राणी अपने अपने सुखोंके इच्छुक हैं। कोई भी प्राणी दुःखकी मात्राको नहीं चाहता। अत एव सब प्राणी रक्षाके योग्य हैं। इसलिये किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनी चाहिये। सो अब सूत्रकार इसी विषयमें कहते हैं—

इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभिज्जा, नेवन्नेहिं दंडं समारंभाविज्जा, दंडं समारंभतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं न करेमि, न कारवेमि,

जीवोंकी हिंसा करते हैं, उनकी अनुमोदना भी न करे। हिंसा मनसे, वचनसे और कायसे कदापि न करे। इस प्रकार श्रीभगवान्‌की शिक्षा है। सो जब श्रीभगवान्‌की शिक्षाको शिष्यने श्रवण किया, तब उसने कहा कि-हे भगवन्! मैं जीवन पर्यन्त तीन करण और तीन योगसे हिंसादि दण्ड स्वयं न करू और न औरोंसे कराऊ तथा जो हिंसादि कार्य करते हैं उनकी अनुमोदना भी नहीं करू। हे भगवन्! मैं उक्त दण्डसे प्रतिक्रमण करता हू आत्मसाक्षीसे उसकी निन्दा करता हू, गुरुकी साक्षीसे उस पापकी गर्हणा करता हू और अपनी आत्माको उस पापसे पृथक् करता हू। अर्थात् पापरूप आत्माका परित्याग करता हू।

सूत्रमें सूत्रकारने जो पडिक्कमामि"—"प्रतिक्रमामि" क्रिया पद दिया है, उसका तात्पर्य भूतकालसम्बन्धी पापोंका प्रायश्चित्त करना है। क्योंकि वर्तमानकालके पापोंका प्रायश्चित्त करनेको 'संवर' और भविष्यत्कालके पापोंके प्रायश्चित्त करनेको 'प्रत्याख्यान' कहते हैं।

तब फिर यहां यह शङ्का पैदा होती है कि भविष्यत्कालीन और वर्तमानकालीन पापोंके प्रायश्चित्तका बोधक सूत्रमें कौनसा शब्द है? इसका समाधान यह है कि 'अप्पाणं वोसिरामि'—'आत्मानं व्युत्सृजामि', यह पद तो भविष्यत्कालीन पापोंके प्रायश्चित्तकेलिये है और 'न करेमि'—'न करोमि' पद वर्तमानकालीन पापोंके प्रायश्चित्तकेलिये है।

योगसे (मणेण,) मनसे, (वायाए,) वचनसे, और (काएण,) कायसे, (न करेमि,) न करू (न कारवेमि,) न कराऊ, (अन्न) अन्य (करतंपि) करते हुए को भी (न समणुजाणामि,) भला न समझू, (तस्स) उस दण्डको (भंते !) हे भदन्त ! (पडिक्कमामि,) प्रतिक्रमण करता हू, (निंदामि,) निन्दा करता हू (गरिहामि,) गर्हणा करता हू, (अप्पाण) आत्माको (वोसिरामि) छोडता हू ॥ ६ ॥

मूलार्थ—इन छह कायके जीवोंको जीव स्वय दण्ड समारम्भ न करें, न औरोंसे दण्ड समारम्भ करावे, दण्ड समारम्भ करते हुए अन्य जीवको भला भी न समझे । जब तक इस शरीरमें जीव है तब तक तीन करण–कृत, कारित और अनुमोदनासे तथा तीन योग–मन, वचन और कायसे, हिंसादि क्रियाए न करू, न औरोंसे कराऊ, और न करते हुए अन्यकी अनुमोदना करूं। हे भगवन् ! मैं उस वक्ष्यमाण दण्डसे प्रतिक्रमण करता हू, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हू, गुरु की साक्षीपूर्वक गर्हणा करता हू, और अपने आत्माको उस पापसे पृथक् करता हू ॥ ६ ॥

भाष्य—इस सूत्रमें षट्कायका 'दण्ड' विषय कथन किया गया है । जैसे कि जीव, उक्त षट् कायको स्वयमेव दण्डित न करे और न औरोंसे दण्डित करावे । इतना ही नहीं किन्तु जो षट्कायके

जीवोंकी हिंसा करते हैं, उनकी अनुमोदना भी न करे। हिंसा मनसे, वचनसे और कायसे कदापि न करे। इस प्रकार श्रीभगवान्‌की शिक्षा है। सो जब श्रीभगवान्‌की शिक्षाको शिष्यने श्रवण किया, तब उसने कहा कि–हे भगवन्! मैं जीवन पर्यन्त तीन करण और तीन योगसे हिंसादि दण्ड स्वयं न करूं और न औरोंसे कराऊं तथा जो हिंसादि कार्य करते हैं उनकी अनुमोदना भी नहीं करूं। हे भगवन्! मैं उक्त दण्डसे प्रतिक्रमण करता हूं आत्मसाक्षीसे उसकी निन्दा करता हूं, गुरुकी साक्षीसे उस पापकी गर्हणा करता हूं और अपनी आत्माको उस पापसे पृथक् करता हूं। अर्थात् पापरूप आत्माका परित्याग करता हूं।

सूत्रमें सूत्रकारने जो पडिक्कमामि"–"प्रतिक्रमामि" क्रिया पद दिया है, उसका तात्पर्य भूतकालसंबंधी पापोंका प्रायश्चित्त करना है। क्योंकि वर्तमानकालके पापोंका प्रायश्चित्त करनेको 'संवर' और भविष्यत्कालके पापोंके प्रायश्चित्त करनेको 'प्रत्याख्यान' कहते हैं।

तब फिर यहां यह शङ्का पैदा होती है कि भविष्यत्कालीन और वर्तमानकालीन पापोंके प्रायश्चित्तका बोधक सूत्रमें कौनसा शब्द है? इसका समाधान यह है कि 'अप्पाणं वोसिरामि'— 'आत्मानं व्युत्सृजामि' यह पद तो भविष्यत्कालीन पापोंके प्रायश्चित्तकेलिये है और 'न करेमि'— 'न करोमि' पद वर्तमानकालीन पापोंके प्रायश्चित्तकेलिये है।

योगसे (**मणेण,**) मनसे, (**वायाए,**) वचनसे, और (**काएण,**) कायसे, (**न करेमि,**) न करू (**न कारवेमि,**) न कराऊ, (**अन्न**) अन्य (**करतपि**) करते हुए को भी (**न समणुजाणामि,**) भला न समझू, (**तस्स**) उस दण्डको (**भंते !**) हे भदन्त ! (**पडिक्कमामि,**) प्रतिक्रमण करता हू, (**निंदामि,**) निन्दा करता हू (**गरिहामि,**) गर्हणा करता हू, (**अप्पाणं**) आत्माको (**वोसिरामि**) छोडता हू ॥ ६ ॥

मूलार्थ—इन छह कायके जीवोंको जीव स्वय दण्ड समारम्भ न करें, न औरोंसे दण्ड समारम्भ करावे, दण्ड समारम्भ करते हुए अन्य जीवको भला भी न समझे। जब तक इस शरीरमें जीव है तब तक तीन करण–कृत, कारित और अनुमोदनासे तथा तीन योग–मन, वचन और कायसे, हिंसादि क्रियाए न करू, न औरोंसे कराऊ, और न करते हुए अन्यकी अनुमोदना करू। हे भगवन् ! मैं उस वक्ष्यमाण दण्डसे प्रतिक्रमण करता हू, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हू, गुरु की साक्षीपूर्वक गर्हणा करता हू, और अपने आत्माको उस पापसे पृथक् करता हू ॥ ६ ॥

भाष्य—इस सूत्रमें षट्कायका 'दण्ड' विषय कथन किया गया है। जैसे कि जीव, उक्त षट् कायको स्वयमेव दण्डित न करे और न औरोंसे दण्डित करावे। इतना ही नहीं, किन्तु जो षट्कायके

जीवोंकी हिंसा करते हैं, उनकी अनुमोदना भी न करे। हिंसा मनसे, वचनसे और कायसे कदापि न करे। इस प्रकार श्रीभगवान्‌की शिक्षा है। सो जब श्रीभगवान्‌की शिक्षाको शिष्यने श्रवण किया, तब उसने कहा कि-हे भगवन् ! मैं जीवन पर्यन्त तीन करण और तीन योगसे हिंसादि दण्ड स्वयं न करूं और न औरोंसे कराऊं तथा जो हिंसादि कार्य करते हैं उनकी अनुमोदना भी नहीं करूं। हे भगवन् ! मैं उक्त दण्डसे प्रतिक्रमण करता हूं आत्मसाक्षीसे उसकी निन्दा करता हूं, गुरुकी साक्षीसे उस पापकी गर्हणा करता हूं और अपनी आत्माको उस पापसे पृथक् करता हूं। अर्थात् पापरूप आत्माका परित्याग करता हूं।

सूत्रमें सूत्रकारने जो "पडिक्कमामि"—"प्रतिक्रमामि" क्रिया पद दिया है, उसका तात्पर्य भूतकालसम्बन्धी पापोंका प्रायश्चित्त करना है। क्योंकि वर्तमानकालके पापोंका प्रायश्चित्त करनेको 'संवर' और भविष्यत्कालके पापोंके प्रायश्चित्त करनेको 'प्रत्याख्यान' कहते हैं।

तब फिर यहां यह शङ्का पैदा होती है कि भविष्यत्कालीन और वर्तमानकालीन पापोंके प्रायश्चित्तका बोधक सूत्रमें कौनसा शब्द है ? इसका समाधान यह है कि 'अप्पाणं वोसिरामि'—'आत्मानं व्युत्सृजामि' यह पद तो भविष्यत्कालीन पापोंके प्रायश्चित्तकेलिये है और 'न करेमि'—'न करोमि' पद वर्तमानकालीन पापोंके प्रायश्चित्तकेलिये है।

सूत्रमें आये हुए 'भंते !' शब्दकी तीन छाया होती हैं—'भवन्त ! भयान्त ! और भयान्त !'। इनमेंसे यहांपर चाहे कोई भी छाया ग्रहण की जा सकती है, क्योंकि ये तीनों गुरुके निमन्त्रण करनेवाले हैं। जो कि गुरुकी विनय करनेके सूचक हैं।

'इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं' शब्दमें जो षष्ठी विभक्ति दी गई है, उस जगह 'सुपां सुपो भवति' सूत्रसे सप्तमी भी मानी जा सकती है।

कुछ लोग केवल मनसे ही कर्मका बन्ध होना मानते हैं†। उसके खण्डनकेलिये सूत्रकारने 'तिविहं तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं',–'त्रिविधं त्रिविधेन मनसा, वाचा, कायेन' पद दिये हैं। अर्थात् कर्मका बन्ध सिर्फ मनसे ही नहीं होता, बल्कि मन, वचन और काय, तीनोंसे होता है ॥ १ ॥

उत्थानिका—त्रिकरण और त्रियोगसे पांचों पापोंके त्याग करनेसे पांच महाव्रत हो जाते हैं। इसलिये अब उन्हींका स्वरूप कहते हैं। उनमेंसे सबसे पहिला जो 'अहिंसा महाव्रत' है, सूत्रकार उसीका वर्णन करते हैं—

---

† मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं। सव्वं भंते ! पाणाइ-
वायं पच्चक्खामि। से सुहुमं वा, बायरं वा, तसं वा, थावरं वा, नेव सयं
पाणे अइवाइज्जा, नेवऽन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा, पाणे अइवायंतेवि
अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं, तिविहेणं मणेणं, वायाए,
काएणं, न करोमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि।
तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि। पढमे
भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ॥ १ ॥
[सूत्र ॥ ७ ॥]

प्रथमे भदन्त ! महाव्रते प्राणातिपाताद्विरमणम्। सर्वं भदन्त ! प्राणातिपातं प्रत्याख्यामि।
यथा सूक्ष्मं वा, बादरं वा, त्रसं वा, स्थावरं वा, नैव स्वयं प्राणिनोऽतिपातयामि, नैवान्यैः प्राणि-
नोऽतिपातयामि, प्राणिनोऽतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि। तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि,

निन्दामि, गर्हामि, आत्मान व्युत्सृजामि । प्रथमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरमणम् ॥ १ ॥ [सूत्र ॥ ७ ॥]

अन्वयार्थ—(**भंते !**) हे भदन्त ! (**पढमे**) पहले (**महव्वए**) महाव्रतमें (**पाणाइवायाओ**) प्राणातिपातसे (**वेरमण**) निवृत्ति करना है, (**भंते !**) हे भदन्त ! (**सव्व**) सर्व प्रकार (**पाणाइवाय**) प्राणातिपातका (**पच्चक्खामि,**) मैं प्रत्याख्यान करता हू (**से**) जैसे कि (**सुहुम वा**) सूक्ष्म शरीरवाले जीवके, अथवा (**तस वा**) त्रसजीवके, अथवा (**थावर वा**) स्थावर जीवके (**पाणे**) प्राणों को (**नेव सय अइवाइज्जा,**) स्वय अतिपात-हनन नहीं करू (**अन्नेहिं**) औरोंसे (**पाणे**) प्राणोंका (**नेव अइवायाविज्जा,**) हनन नहीं कराऊ, तथा (**पाणे**) प्राणोंके (**आइवायतेवि अन्ने**) हनन करते हुए औरोंको भी (**न समणुजाणामि,**) भला नहीं समझू, (**तस्स**) उससे (**भंते !**) हे गुरो ! मैं (**पडिक्कमामि,**) प्रतिक्रमण करता हू, (**निंदामि,**) निन्दा करता हू, (**गरिहामि,**) गर्हणा करता हू, (**जावज्जीवाए**) जीवन पर्यन्त (**तिविह**) त्रिविध और (**तिविहेण**) त्रिविधसे (**मणेण**) मनसे, (**वायाए,**) वचनसे, (**काएण,**) कायसे, (**न करेमि,**) नहीं करूं, (**न कारवेमि,**) औरोंसे नहीं कराऊ, (**करतपि अन्न**) करते हुए औरोंको (**न समणु-

जाणामि) भला भी नहीं समझू, अत (**अप्पाणं**) अपनी आत्माको (**वोसिरामि**) छोडता हू—हटाता हू (**भंते !**) हे गुरो ! (**पढमे**) प्रथम (**महव्वए**) महाव्रतमें, जो कि (**सव्वाओ पाणाइवायाओ**) सब प्रकारके प्राणातिपातसे (**विरमण**) निवृत्ति रूप है, (**उवट्ठिओमि**) उपस्थित होता हू ॥ १ ॥ [सूत्र ॥ ७ ॥]

मूलार्थ—हे भगवन् ! प्रथम महाव्रत प्राणातिपातसे विरमणरूप है। अत हे भगवन् ! मैं सब प्रकारसे प्राणातिपातका प्रत्याख्यान करता हू। जैसे कि—सूक्ष्म, बादर, त्रस और स्थावर प्राणियोंकी मैं उम्र भर हिंसा न करू, न औरोंसे उनकी हिंसा कराऊ, और जो प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, उन्हें भला भी नहीं समझू। तीन करण—कृत, कारित और अनुमोदनासे और तीन योग—मन-वचन-कायसे, न करू, न कराऊ और करते हुएको अनुमोदना भी नहीं करू। मैं उस हिंसारूप दण्डसे पाछे हटता हू, आत्मसाक्षीपूर्वक उसकी निन्दा करता हू और गुरुकी साक्षीपूर्वक गर्हणा करता हू तथा अपने आत्माको पापसे पृथक् करता हू। इस तरहसे हे भगवन् ! अब मैं प्रथम महाव्रत अर्थात् प्राणातिपात विरमणके विषयमें उपस्थित होता हू ॥ १ ॥ [सूत्र ॥ ७ ॥]

निन्दामि, गर्हामि, आत्मानं व्युत्सृजामि । प्रथमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरमणम् ॥ १ ॥ [सूत्र ॥ ७ ॥]

अन्वयार्थ—(**भंते !**) हे भदन्त ! (**पढमे**) पहले (**महव्वए**) महाव्रतमें (**पाणाइवायाओ**) प्राणातिपातसे (**वेरमणं**) निवृत्ति करना है, (**भंते !**) हे भदन्त ! (**सव्वं**) सर्व प्रकार (**पाणाइवायं**) प्राणातिपातका (**पच्चक्खामि**) मैं प्रत्याख्यान करता हूं (**से**) जैसे कि (**सुहुमं वा**) सूक्ष्म शरीरवाले जीवके, अथवा (**तसं वा**) त्रसजीवके, अथवा (**थावरं वा**) स्थावर जीवके (**पाणे**) प्राणों को (**नेव सयं अइवाइज्जा,**) स्वयं अतिपात—हनन नहीं करूं, (**अन्नेहिं**) औरोंसे (**पाणे**) प्राणोंका (**नेव अइवायाविज्जा,**) हनन नहीं कराऊं, तथा (**पाणे**) प्राणोंके (**अइवायंतेवि अन्ने**) हनन करते हुए औरोंको भी (**न समणुजाणामि,**) भला नहीं समझूं, (**तस्स**) उससे (**भंते !**) हे गुरो ! मैं (**पडिक्कमामि,**) प्रतिक्रमण करता हूं, (**निंदामि,**) निन्दा करता हूं, (**गरिहामि,**) गर्हणा करता हूं, (**जावज्जीवाए**) जीवन पर्यन्त (**तिविहं**) त्रिविध और (**तिविहेणं**) त्रिविधसे (**मणेणं**) मनसे, (**वायाए,**) वचनसे, (**काएणं,**) कायसे, (**न करेमि,**) नहीं करूं, (**न कारवेमि,**) औरोंसे नहीं कराऊं, (**करंतंपि अन्नं**) करते हुए औरोंको (**न समणु-**

पांच पापोंका जो त्याग किया जाता है, वह सपूर्ण द्रव्योंकी अपेक्षासे, सपूर्ण क्षेत्रोंकी अपेक्षासे, सपूर्ण कालोंकी अपेक्षासे और सपूर्ण भावोंकी अपेक्षासे किया जाता है। इन व्रतोंकी समस्त सूक्ष्मताओंका वर्णन शास्त्रकार स्वयं अगाड़ी करनेवाले हैं।

एक शङ्का यहां यह और हो सकती है कि पाचों महाव्रतोंमेंसे पहिले 'अहिंसा महाव्रत' ही क्यों कहा जाता है? इसका समाधान यह है कि सब पापोंमेंसे मुख्य पाप एक हिंसा ही है। इसलिये उसकी निवृत्ति करनेवाला 'अहिंसा महाव्रत' भी सबसे मुख्य है। शेष चार महाव्रत 'अहिंसा महाव्रत' की रक्षाकेलिये धारण किये जाते हैं।

सूत्रके आरम्भमें जो "पढमे भन्ते! पाणाइवेयाओ वेरमण" इतना पाठ है, वह गुरुकी ओरका वचन है। शेष सब शिष्यकी ओरके वचन हैं। क्योंकि अगाड़ी उसे जो-जो कुछ करना है, उसकी श्रीभगवान्की साक्षीपूर्वक वह प्रतिज्ञा कर रहा है।

सूत्रमें जो 'पच्चक्खामि' पद आया है, उसकी एक तो सस्कृत छाया होती है-'प्रत्याख्यामि'। इसमें 'ख्या प्रकथने' धातुसे प्रति और आङ् उपसर्ग लगाया गया है। ख्या' का अर्थ है-'कहना',

भाष्य— पूर्वके सूत्रमें भी अहिंसाका ही वर्णन है—हिंसाका निषेध है। लेकिन वह सामान्य है। इस सूत्रमें उसका विशेष वर्णन है। उस अहिंसाकी रक्षाकेलिये जीवको पांच महाव्रत धारण करना चाहिये।

यदि यहां यह शङ्का की जाय कि इन व्रतोंको 'महाव्रत' क्यों कहा जाता है? तो उसका उत्तर यह है कि १-इन व्रतोंको धारण करनेवाला आत्मा अति उच्च हो जाता है। यहां तक कि इन्द्र और चक्रवर्ती तक उसको मस्तक झुकाते हैं, इसलिये ये 'महाव्रत' कहलाते हैं। २-अथवा संसारका सर्वोच्च ध्येय जो मोक्ष है, उसके ये अति निकट साधक हैं, इसलिये ये 'महाव्रत' कहलाते हैं। ३-अथवा बड़े २ राजा, महाराजा, चक्रवर्ती, वीर ही इनको धारण कर सकते हैं—पाल सकते हैं, इसलिये ये 'महाव्रत' कहलाते हैं। ४-अथवा श्रावकोंकेलिये जो व्रत कहे गये हैं, वे 'अणु' हैं। उनको धारण करते हुए श्रावक अपनी गृहस्थीके काम भी साध सकता है, शरीरके भोगोपभोग भी भोग सकता है। लेकिन इनमें उसकी रत्ती भर भी गुंजाइश नहीं है, पापके आनेका एक भी छिद्र कहींसे बाकी नहीं रह जाता है, सकलरूपसे ये धारण किये जाते हैं, इसलिये भी इनको 'महाव्रत' कहा है। अर्थात् इनमें हिंसा झूंठ चोरी कुशील और परिग्रह, इन

होता ही नहीं। वह तो सदा नित्य है। अतिपात—वियोग केवल प्राणोंका होता है। किन्तु प्राणोंके वियोगसे ही जीवको अत्यन्त दुःख उत्पन्न होता है। इसीलिये उसका निषेध किया गया है और सूत्रमें 'प्राणातिपात' शब्द रक्खा गया है।

यदि यहां यह शङ्का की जाय कि सूत्रमें 'नेव सयं पाणे अइवाइज्जा' वाक्यमें क्रियापद लेट् लकारका दिया गया है और वह भी अन्य पुरुषका। सो इसका अर्थ यहां घटित नहीं होता? इसका समाधान यह है कि यह प्राकृत भाषा है। इस भाषामें 'व्यत्ययश्च' सूत्रके अनुसार कहीं जगह तिङ् प्रत्ययों, पुरुषों एवं वचनोंका भी व्यतिक्रम हो जाता है। इसलिये 'अइवाइज्जा' पदको लट् लकारके उत्तम पुरुषका एक वचन समझना चाहिये।

सूत्रमें 'भदन्त' शब्द जो अनेक वार आया है, वह यह सूचित करता है कि शिष्यको प्रत्येक कार्यकेलिये गुरुसे वार-वार विनयपूर्वक आज्ञा लेनी चाहिये।

हिंसा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे तथा द्रव्य हिंसा और भावहिंसाके भेदसे एवं इनके एकानेक मिश्रितामिश्रित भेदसे अनेक प्रकारकी होती है।

सम्पूर्ण पाठका सारांश इतना ही है कि हे भगवन्! मैं सर्व प्रकारसे प्राणातिपातसे निवृत्त होता हूं और इस महाव्रतमें उपस्थित होता हूं ॥ १ ॥ [सूत्र ॥ ७ ॥]

'प्रति' का अर्थ है—'प्रतिषेध-निषेध', और 'आङ्' का अर्थ है-'अभिविधि'। कुल मिलाकर अर्थ हुआ-'हिंसाको सर्वथा छोड़ना।'

'पच्चक्खामि' की दूसरी संस्कृत छाया 'प्रत्याचक्षे' भी हो सकती है। इसका अर्थ होता है—'संवृतात्मा साम्प्रतमनागतप्रतिषेधस्यादरेणाभिधानं करोमि'। अर्थात् संवृतात्मा-सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित अब मैं आदरपूर्वक आगामी त्यागको-हिंसादि पापोंके निषेधको उद्यत होता हूं।

इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो गई कि जिस तरह काले कपड़ेपर कोई रँग नहीं चढ़ सकता, उसी तरह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे रहित आत्मा सम्यक्चारित्रको धारण नहीं कर सकता। प्रथम महाव्रतको पालनेकेलिये जीवको सूक्ष्म और बादर तथा त्रस और स्थावर जीवोंके स्वरूपको भलीभांति जान लेना चाहिये। सूक्ष्म त्रस-कुन्थ्वादि जानने चाहिये, न तु सूक्ष्म नाम कर्मोदयसे सूक्ष्म जीव।

यहां यदि यह कहा जाय कि सूत्रमें जहां 'प्राणातिपात' शब्द ग्रहण किया गया है वहां 'जीवातिपात' क्यों नहीं ग्रहण किया गया? इसका समाधान यह है कि जीवका तो अतिपात-नाश

न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्य न समनुजानामि, तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मान व्युत्सृजामि, द्वितीये भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्व्वस्मात् मृषावादात् विरमणम् । ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ ८ ॥]

अन्वयार्थ—(**अह**) अब (**भंते !**) हे भदन्त ! (**अवरे**) अन्य (**दुच्चे**) द्वितीय (**महव्वए**) महाव्रतके विषयमें (**मुसावाआओ**) मृषावादसे अर्थात् असत्यसे (**वेरमण**) निवर्त्तना, श्रीभगवान्ने कथन किया है, अत. (**भंते !**) हे गुरो ! (**सव्व**) सब (**मुसावाय**) मृषा-वादका (**पच्चक्खामि**) मैं प्रत्याख्यान करता हू (**से**) जैसे कि—(**कोहा वा**) क्रोधसे, अथवा (**लोहा वा**) लोभसे, अथवा (**भया वा**) भयसे, अथवा (**हासा वा**) हास्यसे, (**सय**) स्वय मैं (**मुस**) मृषावाद (**नेव वइज्जा**) नहीं बोलू, (**अन्नेहिं**) औरोंसे (**मुस**) मृषावाद (**नेव वाया-विज्जा**) नहीं बुलाऊ, (**मुस वयतेवि अन्ने**) असत्य बोलते हुए औरोंको (**न समणुजाणामि**) भला नहीं समझू, (**जावज्जीवाए,**) जीवन पर्यन्त, (**तिविह,**) त्रिविध और (**तिविहेण**) त्रिविधसे (**मणेण,**) मनसे, (**वायाए,**) वचनसे, (**काएणं,**) कायसे, (**न करेमि,**) न करू, (**न कारवेमि,**) न कराऊ, (**करतपि अन्न**) करते हुए औरोंको (**न समणुजाणामि**) न भला समझू,

उत्थानिका– अब सूत्रकार प्रथम महाव्रतके पश्चात् द्वितीय महाव्रतके विषयमें कहते हैं—

अहावरे दुच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं । सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा, नेव सयं मुसं वइज्जा, नेवऽन्नेहिं मुसं वायाविज्जा, मुसं वयंतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । दुच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ ८ ॥]

अथापरस्मिन् द्वितीये भदन्त ! महाव्रते मृषावादाद्विरमणम्, सर्वं भदन्त ! मृषावादं प्रत्याख्यामि, अथ क्रोधाद्वा लोभाद्वा भयाद्वा हास्याद्वा, नैव स्वयं मृषा वदामि, नैवाऽन्यैर्मृषा वादयामि, मृषा वदतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा, कायेन न करोमि

भाष्य—गुरु-शिष्यके संवादपूर्वक जैसे पहिले महाव्रतका वर्णन सूत्रकारने किया है, उसी प्रकार इस दूसरे महाव्रतका भी वर्णन उन्होंने किया है। और इसी प्रकार शेष तीनों महाव्रतोंका वर्णन अगाड़ी करेंगे।

क्रोध, मान, माया और लोभ, इस तरह कषायें चार हैं। उनमेंसे उक्त सूत्रमें आदिको क्रोध और अन्तका लोभ, ये दो कषायें ग्रहण की गई हैं। ये आदि और अन्तकी कषायें हैं, इसलिये प्रत्याहार परिपाटीसे बीचकी मान और मायाको भी यहां ग्रहण की हुई समझना चाहिये। और उपलक्षणसे प्रेम, द्वेष और कलहका भी ग्रहण कर लेना चाहिये।

मृषावादके—असत्यके चार भेद हैं। १ सद्भाव प्रतिषेध, २ असद्भावोद्भावन ३. अर्थान्तर और ४ गर्हा।

१—सद्भावप्रतिषेध-असत्य उसे कहते हैं, जिसमें विद्यमान वस्तुका निषेध किया जाय। जैसे कि 'आत्माका अस्तित्व है ही नहीं,' 'पुण्य-पापादि हैं ही नहीं।' इत्यादि।

२—असद्भावोद्भावन-असत्य उसे कहते हैं, जिसमें अविद्यमान वस्तुका अस्तित्व सिद्ध किया जाय। जैसे कि 'ईश्वर जगत्का कर्ता है', 'आत्मा सर्वत्र व्यापक है।' इत्यादि।

(भंते!) हे भगवन्! (तस्स) उसका — असत्यरूप दण्डका (पडिक्कमामि,) मैं प्रतिक्रमण करता हूं, (निंदामि,) निन्दा करता हूं, (गरिहामि,) गर्हणा करता हूं, (अप्पाणं) अपने पापरूप आत्मा का (वोसिरामि,) परित्याग करता हूं, (भंते!) हे भगवन्! (दुच्चे) द्वितीय (महव्वए) महाव्रत के विषयमें जो कि (सव्वाओ) सर्व प्रकारसे (मुसावाओ) मृषावादसे (वेरमणं) निवर्तनरूप है, (उवट्ठिओमि) मैं उपस्थित होता हूं ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ ८ ॥]

मूलार्थ—अब हे भगवन्! मृषावादसे विरमणरूप जो द्वितीय महाव्रत है, उसे श्रीभगवान्ने प्रतिपादन किया है। इसलिये हे भगवन्! उस मृषावादका मैं प्रत्याख्यान करता हूं। अर्थात् क्रोधसे, लोभसे, भयसे और हास्यसे, न तो स्वयं मैं असत्य बोलूंगा, न औरोंसे बुलवाऊंगा और न औरोंके असत्य बोलनेकी अनुमोदना ही करूंगा। अर्थात् मैं जीवन पर्यन्त तीन करण—कृत-कारित-अनुमोदनासे और तीन योग—मन-वचन-कायसे असत्य बोलनेका पाप न करूं, न औरोंसे कराऊं और औरोंके करनेकी अनुमोदना भी न करूं। उस पापरूप दण्डसे हे भगवन्! मैं प्रतिक्रमण करता हूं, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हूं, गुरुसाक्षीपूर्वक गर्हणा करता हूं और पापरूप आत्माका परित्याग करता हूं। इस तरह हे भगवन्! द्वितीय महाव्रत, जो कि सर्व प्रकारके मृषावादसे विरमणरूप है, उसमें मैं उपस्थित होता हूं ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ ८ ॥]

भाष्य—गुरु-शिष्यके संवादपूर्वक जैसे पहिले महाव्रतका वर्णन सूत्रकारने किया है, उसी प्रकार इस दूसरे महाव्रतका भी वर्णन उन्होंने किया है। और इसी प्रकार शेष तीनों महाव्रतोंका वर्णन अगाड़ी करेंगे।

क्रोध, मान, माया और लोभ, इस तरह कषायें चार हैं। उनमेंसे उक्त सूत्रमें आदिको क्रोध और अन्तका लोभ, ये दो कषायें ग्रहण की गई हैं। ये आदि और अन्तकी कषायें हैं, इसलिये प्रत्याहार परिपाटीसे बीचकी मान और मायाको भी यहां ग्रहण की हुई समझना चाहिये। और उपलक्षणसे प्रेम, द्वेष और कलहका भी ग्रहण कर लेना चाहिये।

मृषावादके—असत्यके चार भेद हैं। १ सद्भाव प्रतिषेध, २. असद्भावोद्भावन ३. अर्थान्तर और ४ गर्हा।

१—सद्भावप्रतिषेध-असत्य उसे कहते हैं, जिसमें विद्यमान वस्तुका निषेध किया जाय। जैसे कि 'आत्माका अस्तित्व है ही नहीं,' 'पुण्य-पापादि हैं ही नहीं।' इत्यादि।

२—असद्भावोद्भावन-असत्य उसे कहते हैं, जिसमें अविद्यमान वस्तुका अस्तित्व सिद्ध किया जाय। जैसे कि 'ईश्वर जगत्का कर्ता है', 'आत्मा सर्वत्र व्यापक है।' इत्यादि।

३--अर्थान्तर-असत्य उसको कहते हैं, जिसमें कि पदार्थका स्वरूप विपरीत प्रतिपादन किया जाय। जैसे कि-'अश्वको गो और गौको हस्ति कहना,' इत्यादि।

४—गर्हा-असत्य उसे कहते हैं, जिसके बोलनेसे दूसरोंको कष्ट हो। जैसे कि 'कानेको काना कहना', 'रोगीको रोगी कहकर संबोधन करना', इत्यादि।

एक दूसरी तरहसे चार भेद असत्यके और भी होते हैं—१ द्रव्य-असत्य, २. क्षेत्र-असत्य, ३ काल-असत्य, और ४. भाव-असत्य। ये चारों ही प्रकारके असत्य महाव्रतीको त्यागने चाहिये। [अत]िरिक्त इनके परस्पर संयोगसे भी असत्यके अनेक भेद होते हैं। वे भी उसे त्यागने चाहिये।

[अ]सत्य महाव्रतको धारण करनेवाले अर्थात् सर्वथा सत्यवादी पुरुषको प्रत्येक समय बड़ी [साव]धानीसे बोलना चाहिये। बोलते समय सदैव उपयोगको सावधान रखना चाहिये। तभी [व]ह अपने व्रतकी रक्षा कर सकता है। अन्यथा व्रतकी रक्षा असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य [अव]श्य है॥२॥ [सूत्र॥८॥]

उत्थानिका—अब सूत्रकार तृतीय महाव्रतके विषयमें कहते हैं,—

अहावरे तच्चे भंते! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं। सव्वं भंते! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि। से गामे वा, नगरे वा, रण्णे वा अप्पं वा, बहुं वा अणुं वा, थूलं वा चित्तमंतं वा, अचित्तमंतं वा, नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा, नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा, अदिन्नं गिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं, तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि। तच्चे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ ६ ॥]

अथापरस्मिंस्तृतीये भदन्त! महाव्रतेऽदत्तादानाद्विरमणं, सर्वं भदन्त! अदत्तादानं प्रत्याख्यामि, यथा ग्रामे वा नगरे वा, अरण्ये वा, अल्पं वा, बहु वा, अणु वा, स्थूलं वा, चित्तवद्वा,

३--अर्थान्तर-असत्य उसको कहते हैं, जिसमें कि पदार्थका स्वरूप विपरीत प्रतिपादन किया जाय। जैसे कि-'अश्वको गौ और गौको हस्ति कहना,' इत्यादि।

४—गर्हा-असत्य उसे कहते हैं, जिसके बोलनेसे दूसरोंको कष्ट हो। जैसे कि 'कानेको काना कहना', 'रोगीको रोगी कहकर संबोधन करना', इत्यादि।

एक दूसरी तरहसे चार भेद असत्यके और भी होते हैं—१ द्रव्य-असत्य, २. क्षेत्र-असत्य, ३ काल-असत्य, और ४. भाव-असत्य। ये चारों ही प्रकारके असत्य महाव्रतीको त्यागने चाहिये। इसके अतिरिक्त इनके परस्पर संयोगसे भी असत्यके अनेक भेद होते हैं। वे भी उसे त्यागने चाहिये।

असत्य महाव्रतको धारण करनेवाले अर्थात् सर्वथा सत्यवादी पुरुषको प्रत्येक समय बड़ी सावधानीसे बोलना चाहिये। बोलते समय सदैव उपयोगको सावधान रखना चाहिये। तभी वह अपने व्रतकी रक्षा कर सकता है। अन्यथा व्रतकी रक्षा असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ ८ ॥]

उत्थानिका—अब सूत्रकार तृतीय महाव्रतके विषयमें कहते हैं —

अदत्तादानको (**गिण्हतेवि**) ग्रहण करते हुए (**अन्ने**) औरोंको (**न समणुजाणामि,**) भला भी नहीं समझूं, (**जावज्जीवाए,**) जीवन पर्यन्त, (**तिविहं,**) त्रिविध, (**तिविहेण**) त्रिविधसे (**मणेण,**) मनसे, (**वायाए,**) वचनसे, (**काएण,**) कायसे, (**न करेमि,**) न करूं, (**न कारवेमि,**) न कराऊं, (**करतंपि**) करते हुए (**अन्न**) औरों को (**न समणुजाणामि,**) भला भी न समझूं, (**तस्स**) उस पापरूप दण्डसे (**भंते!**) हे भगवन्! (**पडिक्कमामि,**) मैं प्रतिक्रमण करता हूं, (**निंदामि,**) निन्दा करता हूं, (**गरिहामि,**) गर्हणा करता हूं, (**अप्पाणं**) आत्मा को (**वोसिरामि**) अलग करता हूं (**भंते!**) हे भगवन्! (**सव्वाओ**) सर्व प्रकार (**अदिन्नादाणाओ**) अदत्तादानसे (**विरमणं**) विरमणरूप (**तच्चे**) तृतीय (**महव्वए**) महाव्रतमें (**उवट्ठिओमि**) मैं उपस्थित होता हूं ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ ९ ॥]

मूलार्थ—अब हे भगवन्! तृतीय महाव्रत, जो कि अदत्तादानसे निवर्त्तना रूप है, उसे श्रीभगवान् ने प्रतिपादन किया है। हे भगवन्! मैं सब प्रकारके अदत्तादानका प्रत्याख्यान करता हूं। अर्थात् मैं ग्राममें, नगरमें, अरण्यमें, विना दिये हुए अल्प, बहुत, सूक्ष्म, स्थूल, चेतन, अचेतन पदार्थ ग्रहण नहीं करूंगा, औरोंसे ग्रहण नहीं कराऊंगा, और ग्रहण करते हुओंका अनुमोदन भी नहीं करूंगा। शेष वर्णन प्राग्वत् जानना चाहिये। हे भगवन्! मैं अब तृतीय महाव्रतमें उपस्थित होता हूं ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ ९ ॥]

सचित्तवद्वा, नैव स्वयमदत्त गृह्णामि, नैवान्यैर दत्त ग्राहयाम्यदत्त गृह्णतोऽप्यन्यान् न समनु जानामि, यावज्जीव त्रिविध, त्रिविधेन, मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वतोप्यन्यान् न समनुजानामि, तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हाम्यात्मान व्युत्सृजामि, तृतीये भदन्त ! महाव्रत उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् अदत्तादानात् विरमणम् ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ ९ ॥]

अन्वयार्थ—(अहावरे) अब (भंते !) हे भदन्त ! (तच्चे) तृतीय (महव्वए) महाव्रतके विषयमें (अदिन्नादाणाओ) अदत्तादानसे (वेरमण) निवर्तना है । (भंते !) हे भदन्त ! (सव्व) सब (अदिन्नादाण) अदत्तादानका (पच्चक्खामि) प्रत्याख्यान करता हूँ (से) जैसे कि—(गामे वा) ग्रामके विषय, अथवा (नगरे वा) नगरके विषय, अथवा (रण्णे वा) अटवीके विषय, अथवा (अप्प वा) अल्प मूल्यवाला पदार्थ, अथवा (बहु वा) बहुमूल्य वाला पदार्थ, अथवा (अणु वा) सूक्ष्म पदार्थ, अथवा (थूल वा) स्थूल पदार्थ, अथवा (सचित्तमत वा) सचित्त पदार्थ, अथवा (अचित्तमत वा) अचित्त पदार्थ (अदिन्न) जो कि बिना किसीका दिया हुआ हो, (नेव सय गिण्हिज्जा,) मैं स्वय ग्रहण नहीं करू, (अन्नेहिं) औरोंसे (अदिन्न) अदत्तादानको (नेव गिण्हाविज्जा,) ग्रहण न कराऊं, और (अदिन्न)

भते ! पडिक्कमामि, निंदामि गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । चउत्थे भते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ॥४॥ [सूत्र ॥१०॥]

अथापरस्मिंश्चतुर्थे भदन्त ! महाव्रते मैथुनाद्विरमणम् । सर्व भदन्त ! मैथुनं प्रत्याख्यामि । तद्यथा-दैवं वा, मानुषं वा, तैर्यग्यानं वा, नैव स्वयं मैथुनं सेवे, नैवान्यैर्मैथुनं सेवयामि, मैथुनं सेवमानानप्यन्यान्न समनुजानामि, यावज्जीवं, त्रिविधं, त्रिविधेन मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वतोप्यन्यान् न समनुजानामि, तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मानं व्युत्सृजामि, चतुर्थे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि, सर्वस्मात् मैथुनात् विरमणम् ॥ ४ ॥ [सूत्र ॥१०॥]

अन्वयार्थ—(भंते !) हे भगवन् ! (अहावरे) अथ (चउत्थे) चतुर्थ (महव्वए) महाव्रतमें (मेहुणाओ) मैथुनसे (वेरमणं) निवर्तन होना है । (भंते !) हे भगवन् ! (सव्वं) सर्व प्रकारके (मेहुणं) मैथुनका (पच्चक्खामि) मैं प्रत्याख्यान करता हूं । (से) जैसे कि—(देवं वा) देव सम्बन्धी, अथवा (माणुसं वा) मानुष सम्बन्धी, अथवा (तिरिक्खजोणियं वा) तिर्यग् योनि सम्बन्धी (मेहुणं) मैथुनका (नेव सेविज्जा,) मैं सेवन नहीं करूं,

भाष्य—ग्राम, नगर, जंगल, जलाशय, पर्वत, आकाश, पाताल आदि किसी जगह, दिन, रात, सुबह, शाम आदि किसी भी समय, चेतन या अचेतन, थोड़ी या बहुत, छोटी या बड़ी बिना दी हुई किसी भी चीज़को मनसे, वचनसे और कायसे न ग्रहण करना, न ग्रहण कराना और न ग्रहण करते हुएको भला मानना, इसका नाम 'अदत्तादान' तीसरा महाव्रत है।

पूर्वकी तरह इसके भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, तथा भिन्नाभिन्नके विकल्पसे अनेक भेद होजाते हैं ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ ६ ॥]

उत्थानिका—अब चौथे महाव्रतका वर्णन करते हैं—

अहावरे चउत्थे भंते ! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं । सव्वं भंते ! मेहुणं पच्चक्खामि । से दिव्वं वा, माणुसं वा, तिरिक्खजोणियं वा, नेव सयं मेहुणं सेविज्जा, नेवऽन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा, मेहुणं सेवंतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए, तिविहं, तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स

नहीं कराऊ और सेवन करते हुए अन्य जीवोंकी अनुमोदना भी नहीं करू। जीवन पर्यन्त तीन करण-कृत कारित-अनुमोदनासे और तीन योग—मन, वचन और कायसे न करू, न कराऊ और न करते हुओंकी अनुमोदना ही करू। हे भगवन्! मैं उस पापरूप दण्डसे प्रतिक्रमण करता हू, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हू, गुरुसाक्षीपूर्वक गर्हणा करता हू और पापरूप आत्माका परित्याग करता हू। हे भगवन्! चतुर्थ महाव्रत, जो कि सर्व प्रकारसे मैथुनसे विरतिरूप है, उसमें मैं उपस्थित होता हू ॥ ४ ॥ [सूत्र ॥ १० ॥]

भाष्य—चार गतियोंमेंसे स्त्री जाति तीन ही गतियोंमें होती है, देव, मनुष्य और तिर्यञ्च में। नरकगतिमें स्त्री जाति नहीं होती। इन तीनों स्त्री सम्बन्धी मैथुनका साधुको परित्याग करदेनेसे स्त्रीमात्रका परित्याग हो जाता है।

केवल रतिकर्मका ही नाम मैथुन नहीं है। बल्कि रतिभाव—रागभावविशेषपूर्वक जीवकी जितनी भर चेष्टाए हैं, वे सभी मैथुन हैं। इसीलिये शास्त्रकारोंने मैथुनके अनेक भेद किये हैं।

यद्यपि चित्तमें इसके उत्पन्न करनेवाले अनेक कारण हैं, फिर भी उनमेंसे 'रूप' एक मुख्य कारण है। उस रूपके दो भेद हैं—एक रूप और दूसरा रूपसहगत द्रव्य। रूप अचित्त कारण है

(अन्नेहिं) औरोंसे (मेहुणं) मैथुनका (नेव सेवाविज्जा) सेवन नहीं कराऊं, (मेहुणं) मैथुनका (सेवतेऽवि अन्ने) सेवन करते हुए औरोंको (न समणुजाणामि) भला भी नहीं समझू, (जावज्जीवाए,) जीवन पर्यन्त, (तिविहं,) त्रिविध, (तिविहेणं) त्रिविधसे (मणेणं,) मनसे, (वायाए,) वचनसे, (काएणं,) कायसे, (न करेमि,) न करूं, (न कारवेमि,) न कराऊं, (करंतंपि) करते हुए (अन्नं) अन्य की (न समणुजाणामि,) अनुमोदना भी नहीं करूं, (भंते !) हे भगवन् ! (तस्स) उसकी (पडिक्कमामि,) मैं प्रतिक्रमण करता हूं, (निंदामि,) निन्दा करता हूं, (गरिहामि,) गर्हणा करता हूं, और (अप्पाणं) आत्माका (वोसिरामि) परित्याग करता हूं। (भंते !) हे भगवन् ! (चउत्थे) चतुर्थ (महव्वए) महाव्रतके विषयमें (सव्वाओ) जो कि सर्व प्रकारसे (मेहुणाओ) मैथुनसे (वेरमणं) निवृत्तिरूप है, (उवट्ठिओमि) मैं उपस्थित होता हूं ॥ ४ ॥ [सूत्र ॥ १० ॥]

मूलार्थ—हे भगवन् ! मैथुनसे विरमण करनेका चतुर्थ महाव्रत श्रीभगवान्‌ने प्रतिपादन किया है। इसलिये हे भगवन् ! मैं सर्व मैथुनका प्रत्याख्यान करता हूं। तथा च-देव सम्बन्धी मनुष्य सम्बन्धी और तिर्यक् योनि सम्बन्धी मैथुन कर्म मैं स्वयं सेवन नहीं करूं, औरोंसे सेवन

अहावरे पचमे भते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमण । सव्व भते ! परिग्गह पच्चक्खामि । से अप्प वा, बहु वा, अणु वा, थूल वा, चित्त-मत वा, अचित्तमत वा, नेव सय परिग्गह परिगिगिहज्जा, नेवऽन्नेहिं परिग्गह परिगिण्हाविज्जा, परिग्गह परिगिण्हते वि अन्ने न समणु-जाणामि, जावज्जीवाए तिविह, तिविहेण, मणेण वायाए, काएण, न करेमि, न कारवेमि, करतपि अन्न न समणुजाणामि । तस्स भते ! पडिक्कमामि निंदामि, गरिहामि, अप्पाण वोसिरामि । पचमे भते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमण ॥ ५॥ [सूत्र ॥११॥]

अथापरस्मिन् पञ्चमे भदन्त ! महाव्रत परिग्रहाद्विरमण। सर्वं भदन्त ! परिग्रह प्रत्याख्यामि, तद्यथा—अल्प वा, बहु वा, अणु वा, स्थूल वा, चित्तवन्त वा, अचित्तवन्त वा, नैव स्वय परिग्रह परिगृह्णामि, नैवान्य परिग्रह परिग्राहयामि, परिग्रह परिगृह्णतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि,

और रूपसहगत द्रव्य सचित्त कारण है। अथवा भूषणरहित सौन्दर्य्यको 'रूप' और भूषण सहित सौन्दर्य्यको 'रूपसहगत' कहते हैं।

शेष वर्णन पूर्ववत् यहां भी समझ लेना चाहिये। जैसे कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव तथा इनके मिश्रामिश्र भेदसे इसके भी अनेक भेद होते हैं।

यों तो चारित्रधर्मकी प्रत्येक क्रियाएं अपना-अपना विशिष्ट महत्त्व रखती हैं, क्योंकि चारित्रधर्मकी महिमा ही अपरम्पार है। मोक्षके सम्यग्दर्शन और सम्यग् ज्ञान तो साधक हैं, लेकिन चारित्र साधकतम है। अस्तु। चारित्रधर्मके समस्त भेदोंमेंसे मैथुनपरित्याग नामका महाव्रत अत्यन्त अद्भुत शक्ति रखता है। इसके प्रतापसे अनेक अकल्पित कार्य सुतरां सिद्ध हो जाते हैं। इसके बिना समस्त जप, तप अकार्यकारी हो जाते हैं। इसके पालनेमें भी मुनियोंको भारी कठिनता का सामना करना पड़ता है, जैसा कि द्वितीयाध्ययनमें वर्णन किया जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं कि इसके पूर्ण-विशुद्धरूपसे पालन करनेसे मुनि परम पूज्य और मोक्षाधिकारके सर्वथा योग्य बन जाता है ॥ ४ ॥ [सूत्र ॥ १०]

उत्थानिका—अब सूत्रकार पञ्चम महाव्रतके विषयमें कहते हैं —

वचनसे, (काएणा,) कायसे, (न करेमि,) न करू, (न कारवेमि,) न कराऊ, (अन्न) औरों की (करतपि) करते हुवों की (न समणुजाणामि,) अनुमोदना भी नहीं करू, (भंते!) हे भगवन्! (तस्स) उसका (पडिक्कमामि,) मैं प्रतिक्रमण करता हू, (निंदामि,) निन्दा करता हू, (गरिहामि,) गर्हणा करता हू, (अप्पाणं) आत्माको (वोसिरामि) छोडता हू, (भंते!) हे भगवन्! (पञ्चम महव्वए) पाचवें महाव्रतमें जो कि (सव्वाओ) सर्व प्रकार (परिग्गहाओ) परिग्रहसे (विरमण) निवर्तनरूप है, उसमें (उवट्ठिओमि) मैं उपस्थित होता हू ॥ ५ ॥

[सूत्र ॥ ११ ॥]

मूलार्थ—अब हे भगवन्! परिग्रहसे निवृत्त होनेको पचम महाव्रत श्रीभगवान्ने प्रतिपादन किया है। इसलिये हे भगवन्! मैं सब प्रकारके परिग्रहका प्रत्याख्यान करता हू। जैसे कि अल्प वा बहुत, सूक्ष्म वा स्थूल, चेतनावाले पदार्थ वा चेतनारहित पदार्थ, इन सबको मैं स्वय ग्रहण नहीं करू, न औरोंसे ग्रहण कराऊ, और न ग्रहण करते हुए औरोंकी अनुमोदना करू। जीवन पर्यन्त तीन करण — कृत-कारित-अनुमोदनासे और तीन योग — मन-वचन-कायसे, न करू, न कराऊ, न करते हुए औरोंको भला समझू। हे भगवन्! इस पापरूप दण्डका

यावज्जीव त्रिविध, त्रिविधेन, मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वतोप्यन्यान् न समनुजानामि, तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि आत्मान व्युत्सृजामि, पञ्चमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् परिग्रहाद्विरमणम् ॥ ५ ॥ [सूत्र ॥ ११ ॥]

अन्वयार्थ—(अहावरे) अब (भंते !) हे भदन्त ! (**पचमे**) पांचवें (**महव्वए**) महाव्रतके विषयमें (**परिग्गहाओ**) परिग्रहसे (**विरमण**) निवृत्त होना है। (**भंते !**) हे भगवन् ! (**सव्व**) सर्व प्रकारके (**परिग्गह**) परिग्रहका (**पच्चक्खामि**) मैं प्रत्याख्यान करता हू, (**से**) जैसे कि (**अप्प वा**) अल्प मूल्यवाले, अथवा (**बहु वा**) बहुमूल्यवाले, अथवा (**अणु वा**) सूक्ष्म आकारवाले, अथवा (**थूल वा**) स्थूल आकारवाले, अथवा (**चित्तमत वा**) चेतनावाले, अथवा (**अचित्तमत वा**) अचेतनावाले, (**परिग्गह**) परिग्रहको (**सय**) स्वय (**नेव परिगिण्हिज्जा,**) ग्रहण न करू, (**अन्नेहिं**) औरोंसे (**परिग्गह**) परिग्रहको (**नेव परिगिण्हाविज्जा,**) ग्रहण न कराऊ, (**परिग्गह**) परिग्रहको (**परिगिण्हतेऽवि**) ग्रहण करते हुए (**अन्ने**) औरोंको (**न समणुजाणामि,**) भला भी नहीं समझू (**जावज्जीवाए,**) जीवनपर्यन्त, (**तिविह,**) त्रिविध, (**तिविहेण**) त्रिविधसे (**मणेण,**) मनसे, (**वायाए,**)

उत्थानिका--पांच महाव्रतोंके अनन्तर अब सूत्रकार छठे रात्रिभोजनविरमण व्रतके विषयमें वर्णन करते हैं —

अहावरे छट्ठे भंते ! वए राइभोयणाओ वेरमणं । सव्वं भंते ! राइभोयणं पच्चक्खामि । से असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा साइमं वा, नेव सयं राइं भुंजिज्जा, नेवऽन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा, राइं भुंजतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए, तिविहं, तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं ॥६॥ [सूत्र ॥१२॥]

अथापरस्मिन् षष्ठे भदन्त ! व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामि । तद्यथा-अशनं वा, पानं वा, खाद्यं वा, स्वाद्यं वा, नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जे, नैवान्यैः रात्रौ

म प्रतिक्रमण करता हूं, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हूं, गुरुसाक्षीपूर्वक गर्हणा करता हूं, और पापरूप आत्माका परित्याग करता हूं। हे भगवन्! पांचवां महाव्रत, जो कि सब प्रकारके परिग्रहसे विरमणरूप है, उसमें मैं उपस्थित होता हूं॥ ५॥ [सूत्र॥ ११ ॥]

भाष्य—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, तथा इनके मिश्रामिश्रकी अपेक्षासे परिग्रहत्यागके अनेक भेद होते हैं। जैसे कि साधु जो परिग्रह रखते हैं, वह 'द्रव्य परिग्रहके धारी' कहला सकते हैं, भाव परिग्रहके नहीं। और कोई द्रव्यसे तो परिग्रह न रक्खे अर्थात् बाह्यमें परिग्रह उसके पास न दीखे, किन्तु अन्तरङ्गमें परिग्रह रखनेके भाव हों—परिग्रहसे ममत्वपरिणाम हो तो वह व्यक्ति 'भाव परिग्रह का धारी' कहला सकता है, द्रव्य परिग्रहका नहीं। तथा किसीके पास द्रव्य परिग्रह भी विद्यमान है और भावोंमें भी परिग्रहके प्रति ममत्व परिणाम है, तो वह व्यक्ति 'उभय परिग्रहका धारी' कहलायेगा। और जिस महात्माके पास न तो किसी प्रकारका बाह्य परिग्रह है, और न किसी प्रकारका ममत्वपरिणाम अन्तरङ्गमें परिग्रहके प्रति है, वह 'उभयपरिग्रहरहित' कहलायगा। इस प्रकार उभयपरिग्रहरहित आत्मा निज-आत्मगुणोंको विकसित करके शीघ्र परमात्मपदको प्राप्त करता है। शेष वर्णन पूर्ववत्॥ ५॥ [॥ ११॥]

उत्थानिका -पाच महाव्रतोंके अनन्तर अब सूत्रकार छठे रात्रिभोजनविरमण व्रतके विषयमें वर्णन करते हैं —

अहावरे छट्ठे भंते ! वए राइभोयणाओ वेरमणं । सव्वं भंते ! राइभोयणं पच्चक्खामि । से असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा साइमं वा, नेव सयं राइं भुंजिज्जा, नेवऽन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा, राइं भुंजतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए, तिविहं, तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं ॥६॥ [सूत्र ॥१२॥]

अथापरस्मिन् षष्ठे भदन्त ! व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामि । तद्यथा-अशनं वा, पानं वा, खाद्यं वा, स्वाद्यं वा, नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जे, नैवान्यैः रात्रौ

मैं प्रतिक्रमण करता हूं, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हूं, गुरुसाक्षीपूर्वक गर्हणा करता हूं, और पापरूप आत्माका परित्याग करता हूं। हे भगवन्! पांचवां महाव्रत, जो कि सब प्रकारके परिग्रहसे निरमणरूप है, उसमें मैं उपस्थित होता हूं ॥ ५ ॥ [सूत्र ॥ ११ ॥]

भाष्य—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, तथा इनके मिश्रामिश्रकी अपेक्षासे परिग्रहत्यागके अनेक भेद होते हैं। जैसे कि साधु जो परिग्रह रखते हैं, वह 'द्रव्य परिग्रहके धारी कहला सकते हैं, भाव परिग्रहके नहीं। और कोई द्रव्यसे तो परिग्रह न रक्खे अर्थात् बाह्यमें परिग्रह उसके पास न दीखे किन्तु अन्तरङ्गमें परिग्रह रखनेके भाव हों—परिग्रहसे ममत्वपरिणाम हो तो वह व्यक्ति 'भाव परिग्रह का धारी' कहला सकता है, द्रव्य परिग्रहका नहीं। तथा किसीके पास द्रव्य परिग्रह भी विद्यमान है और भावोंमें भी परिग्रहके प्रति ममत्व परिणाम है, तो वह व्यक्ति 'उभय परिग्रहका धारी' कहलायेगा। और जिस महात्माके पास न तो किसी प्रकारका बाह्य परिग्रह है, और न किसी प्रकारका ममत्वपरिणाम अन्तरङ्गमें परिग्रहके प्रति है, वह 'उभयपरिग्रहरहित' कहलायेगा। इस प्रकार उभयपरिग्रहरहित आत्मा निज-आत्मगुणोंको विकसित करके शीघ्र परमात्मपदको प्राप्त करता है। शेष वर्णन पूर्ववत् ॥ ५ ॥ [॥ ११ ॥]

(**न करेमि,**) न करूं, (**न कारवेमि,**) न कराऊं, (**करतपि अन्न**) करते हुए अन्यकी (**न समणुजाणामि,**) अनुमोदना भी नहीं करूं, (**तस्स**) उसका (**भंते !**) हे भगवन् ! (**पडिक्कमामि,**) मैं प्रतिक्रमण करता हूं, (**निंदामि,**) निन्दा करता हूं, (**गरिहामि,**) गर्हणा करता हूं, (**अप्पाण**) आत्माका (**वोसिरामि**) परित्याग करता हूं। (**भंते !**) हे भगवन् ! (**छट्टे**) छठे (**वए**) व्रतके विषयमें जो कि (**सव्वाओ**) सर्व प्रकारसे (**राइभोयणाओ**) रात्रिभोजनसे (**वेरमण**) विरमणरूप है, उसमें (**उवट्ठिओमि**) मैं उपस्थित होता हूं ॥ ६ ॥

[सूत्र ॥ १२ ॥]

मूलार्थ—हे भगवन् ! पांच महाव्रतोंके बाद छठा व्रत जो कि रात्रिभोजनसे विरमणरूप है, श्रीभगवान्ने प्रतिपादन किया है। इसलिये हे भगवन् ! मैं सर्व प्रकारसे रात्रिभोजनका प्रत्याख्यान करता हूं। जैसे कि—अन्न १, पानी २, खाद्य ३ और स्वाद्य ४, इन पदार्थोंको स्वय मैं रात्रिमें भोजन नहीं करूं, न औरोंसे रात्रिमें भोजन कराऊं, और न रात्रिमें भोजन करनेवालोंकी अनुमोदना करूं। जीवन पर्यन्त, तीन करण—कृत-कारित-अनुमोदनासे और तीन योग—मन-वचन-कायसे न करूं, न कराऊं और न करते हुए अन्यकी अनुमोदना करूं। हे भगवन् ! उस पापरूप दण्डसे

भोजयामि, रात्रौ भुञ्जानानप्यन्यान्नैव समनुजानामि, यावज्जीव, त्रिविध, त्रिविधेन–मनसा, वाचा, कायेन, न करामि, न कारयामि, कुर्वतोप्यन्यान् न समनुजानामि, तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मान व्युत्सृजामि, षष्ठे भदन्त ! व्रते उपस्थितोऽस्मि, सर्वस्मात् रात्रिभोजनात् विरमणम् ॥ ६ ॥ [सूत्र ॥ १२ ॥]

अन्वयार्थ—(**भते !**) हे भगवन् ! (**अहावरे**) अब (**छट्ठे**) छठे (**वए**) व्रतके विषयमें (**राइभोयणाओ**) रात्रिभोजनसे (**वेरमण**) निवृत्त होना है। (**भते !**) हे भगवन् ! (**राइभोयण**) रात्रिभोजनका (**सव्व**) सर्व प्रकारसे (**पच्चक्खामि**) मैं प्रत्याख्यान करता हू। (**से**) जैसे कि—(**असण वा**) अन्नादि, अथवा (**पाण वा**) पानी, अथवा (**खाइम वा**) खाद्य पदार्थ, अथवा (**साइम वा**) स्वाद्य पदार्थ, (**सय**) स्वय (**राइ**) रात्रिके विषय (**नेव भुजिज्जा,**) नही भोजन करू, (**अन्नेहिं**) औरोंसे (**राइ**) रात्रिमें (**नेव भुजाविज्जा,**) भोजन नही कराऊं, (**अन्ने**) औरोंको (**राइ भुजतेवि**) रात्रिभोजन करते हुओंकी (**न समणुजाणामि**) अनुमोदना भी नही करू, (**जावज्जीवाए,**) जीवन पर्यन्त, (**तिविह,**) त्रिविध, (**तिविहेण**) त्रिविधसे (**मणेण,**) मनसे, (**वायाए,**) वचनसे, (**काएण,**) कायसे,

चाहिये था ? इसका समाधान यह है कि प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकरके समय जो ऋजुजड़ और वक्रजड़ लोग पैदा हो जाते हैं, उनकेलिये इसका पाठ महाव्रतके पाठके पश्चात् ही रक्खा गया है। और इस पाठ्यक्रमसे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि यह रात्रिभोजनविरमण व्रत महाव्रत नहीं है, तो भी महाव्रतकी भांति ही इसका पालन करना चाहिये।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, तथा इनके मिश्रामिश्रकी दृष्टिसे इसके भी अनेक भेद हो जाते हैं। जैसे कि-द्रव्यसे अशनादि, क्षेत्रसे ढाई द्वीपोंमें, कालसे रात्रिमें, और भावसे रागद्वेष रहित होकर इसका पालन करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त इसके भेद और तरहसे भी हो सकते हैं। जैसे कि— १-रात्रिमें अशनादि ग्रहण करना और रात्रिमें खाना, २ रात्रिमें ग्रहण करना और दिनमें खाना, ३-दिनमें ग्रहण करना और रात्रिमें खाना, ४-दिनमें ग्रहण करना और दिनमें ही खाना। इन चारों भङ्गोंमेंसे प्रथमके तीन भङ्ग साधुकेलिये अशुद्ध-अग्राह्य हैं और अन्तका चौथा एक शुद्ध-ग्राह्य है।

द्रव्य और भावकी अपेक्षासे भी रात्रिभोजन चार भङ्ग होते हैं। जैसे कि १-केवल द्रव्यसे, २-केवल भावसे, ३-द्रव्य भाव उभयसे, ४-द्रव्य भाव उभय रहितसे। १-सूर्योदय या सूर्यास्तका

मैं प्रतिक्रमण करता हूं, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हूं, गुरुसाक्षीपूर्वक गर्हणा करता हूं और पापरूप आत्माका परित्याग करता हूं। हे भगवन्! छठे व्रतके विषयमें जो कि सर्व प्रकारसे रात्रिभोजनमें विरमणरूप है, उसमें मैं उपस्थित होता हूं ॥ ६ ॥ [सूत्र ॥ १२ ॥]

भाष्य– यह रात्रिभोजनविरमण नामका व्रत प्रथम अहिंसा महाव्रतकी रक्षाकेलिये प्रतिपादन किया गया है। इसमें अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य† इन चारों प्रकारके आहारका त्याग रात्रिकेलिये सर्वथा किया जाता है।

यदि यहां यह शङ्का की जाय कि इस रात्रिभोजनविरमण व्रतको 'व्रत' क्यों कहा जाता है, 'महाव्रत' क्यों नहीं कहा जाता? इसका समाधान यह है कि महाव्रतोंका पालना जितना कठिन है, इसका पालना उतना कठिन नहीं है। इसलिये यह व्रत 'व्रत' कहलाता है, 'महाव्रत' नहीं कहलाता। इसीलिये इसको मूलगुणोंमें भी नहीं गिना जाता, बल्कि उत्तरगुणोंमें गिना जाता है।

तो फिर इसका सूत्र महाव्रतोंके ही पश्चात् क्यों पढ़ा गया है? उत्तरगुणोंमें उसको पढ़ना

† 'अश्यत इत्यशनं ओदनादि, पीयत इति पानं जल-दुग्धादि, खाद्यत इति खाद्यं खर्जूरादि, स्वाद्यत इति स्वाद्यं ताम्बूली।

इत्येतानि पञ्चमहाव्रतानि रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि आत्महिताय उपसंपद्य विहरामि ॥१३॥

अन्वयार्थ—(इच्चेयाइं) अहिंसादि (पंचमहव्वयाइं) पांच महाव्रत (राइभोयण-वेरमणछट्ठाइं) रात्रिभोजनविरमण छठा व्रत (अत्तहियट्ठियाए) आत्म-हितकेलिये (उवसंपज्जित्ता णं†) अंगीकार करके (विहरामि) विचरता हूं ॥१३॥

मूलार्थ—हिंसादि पांच महाव्रत और रात्रिभोजनविरमण छठे व्रतको मैं आत्म-हितकेलिये अंगीकार करके विचरता हूं ॥ १३ ॥

उक्त रात्रिभोजनत्याग व्रत मनुष्यको तप तथा पांच महाव्रतकी रक्षाकेलिये करना चाहिये। इसीलिये सूत्रमें शिष्य कहता है कि 'हे भगवन्! पांच महाव्रत और छठा रात्रिभोजनत्याग व्रत मैं आत्महित अर्थात् मोक्षकी प्राप्तिकेलिये ग्रहण करके विचरता हूं ॥ १३ ॥

उत्थानिका—चारित्रधर्मकी रक्षाकेलिये षट्कायके जीवोंकी रक्षा सदैव यत्नसे करना चाहिये। इस विषयका वर्णन करते हुए सूत्रकार प्रथम पृथ्वीकायके यत्न करनेके विषयमें कहते हैं—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे,

† यहांपर यह 'णं' वाक्य अलंकार में है।

सन्देह रहते हुए जो भोजन किया जाता है, वह केवल द्रव्यसे रात्रिभोजन है, भावसे नहीं। २-"मैं रात्रिमें भोजन करूं", ऐसा विचार तो हो जाय, लेकिन खाय नहीं, वह केवल भावसे रात्रिभोजन है, द्रव्यसे नहीं। ३-बुद्धिपूर्वक रात्रिमें भोजन कर लेना, द्रव्य और भाव उभयसे—दोनोंसे रात्रि भोजन है। ४-और न रात्रिमें भोजन करना और न करनेकी अभिलाषा रखना, यह द्रव्य और भाव उभयसे-दोनोंसे रहित भङ्ग है।

सूत्रमें 'असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा' पद देकर सूत्रकारने मद्य-मांसका सर्वथा निषेध सूचित कर दिया है॥ क्योंकि रात्रिमें भोजन करनेका निषेध उक्त चारों ही प्रकारके आहार का किया है। मद्य-मांस उक्त चारों प्रकारके आहारमें नहीं है। इसलिये इन दो महा अपवित्र पदार्थोंका त्याग तो मनुष्यको सर्वथा और सर्वदाकेलिये कर रखना चाहिये। क्योंकि ये मनुष्यके किसी भी प्रकारके आहारमें ही नहीं गिने जाते। ये मनुष्यजातिकेलिये सर्वथा अयोग्य वस्तु हैं॥ ॥६॥ [सूत्र ॥ १२॥]

इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरामि ॥ १२ ॥

एको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, तद्यथा पृथिवीं वा, भित्तिं वा, शिलां वा, लोष्टं वा, सरजस्कं वा कायं, सरजस्कं वा वस्त्रं, हस्तेन वा, पादेन वा, काष्ठेन वा, कलिञ्जेन वा, अङ्गुल्या वा, शलाकया वा, शलाकाहस्तेन वा, नालिखेत्, न विलिखेत्, न घट्टयेत्, न भिन्द्यात्, अन्यमन्येन वा नालेखयेत्, न विलेखयेत्, न घट्टयेत्, न भेदयेत्, अन्यं आलिखन्तं वा, विलिखन्तं वा, घट्टयन्तं वा, भिन्दन्तं वा न समनुजानीयाद्, यावज्जीवं त्रिविधं, त्रिविधेन, मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ १ ॥ [सूत्र ॥ १४ ॥]

अन्वयार्थ—(**से**) वह पूर्वोक्त पाच महाव्रतोंके धारण करनेवाला (**भिक्खू वा**) भिक्षु, अथवा (**भिक्खुणी वा**) भिक्षुणी-साध्वी, जो कि (**संजय**) निरन्तर यत्नशील, (**विरय**) नाना प्रकारके व्रतोंमें रत, (**पडिहय**) कर्मोंकी स्थितिको प्रतिहत करनेवाले, (**पच्चक्खायपावकम्मे**) तथा जिन्होंने पापकर्मके हेतुओंका प्रत्याख्यान कर दिया है, ऐसे, (**दिआ वा,**) दिनके विषय, अथवा (**राओ वा,**) रात्रिके विषय, अथवा (**एगओ वा,**) अकेले हों, अथवा (**परिसागओ वा,**) परिषत्में बैठे हुए हों, अथवा (**सुत्ते वा,**) सोते हुए हों, अथवा (**जागरमाणे वा,**) जागते हुए हों, (**पुढविं वा,**) पृथिवीको, अथवा (**भित्तिं वा,**) नदीके

दिश्रा वा, राश्रो वा, एगश्रो वा, परिसागश्रो वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से पुढविं वा, भित्तिं वा, सिलं वा, लेलुं वा, ससरक्खं वा कायं, ससरक्खं वा वत्थं, हत्थेण वा, पाएण वा कट्ठेण वा, किलिंचेण वा, अंगुलियाए वा, सिलागाए वा, सिलागहत्थेण वा, न आलिहिज्जा, न विलिहिज्जा, न घट्टिज्जा, न भिंदिज्जा, अन्न न आलिहाविज्जा, न विलिहाविज्जा, न घट्टाविज्जा, न भिंदाविज्जा, अन्नं आलिहंतं वा, विलिहंतं वा, घट्टंतं वा, भिंदंतं वा न समणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए, तिविहं, तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ १ ॥ [सूत्र ॥ १४ ॥]

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा,

(काएण,) कायसे, (न करेमि,) न करू, (न कारयेमि,) न कराऊ, (करतंपि) करते हुए (अन्न) औरोंको (न समणुजाणामि भला न समझू, (भंते!) हे भगवन्! (तस्स) उसकी (पडिक्कमामि,) मैं प्रतिक्रमणा करता हू, (निंदामि,) निन्दा करता हू, (गारिहामि,) गर्हणा करता हू, और (अप्पाण) आत्माको (वोसिरामि) हटाता हू॥ १॥ [सूत्र ॥ १४॥]

मूलार्थ—वे भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जो कि सयत हैं, विरत हैं, प्रतिहत हैं और पापकर्मों का प्रत्याख्यान कर चुके हैं, दिन-रातमें, अकेले-दुकेले, सोते-जागते, पृथ्वीको, भीतको, शिलाको, पत्थरको, सरजस्क शरीरको सरजस्क वस्त्रको, हाथसे, पावसे, लकडीसे, लकडीके टुकडेसे अँगुलीसे, सलाईसे, सलाईकी नोंकसे, न थोडा लिखे, न बहुत लिखे, न डाले, न छेदे, न औरोंसे थोडा लिखावे, न औरोसे बहुत लिखावे, न डलवावे न छिदवावे, और न औरोंकी थोडा लिखनेपर, न औरोंकी बहुत लिखनेपर, न औरोंकी डालनेपर, न औरोंकी छेदनेपर, अनुमोदना करे। हे भगवन्! मैं जीवन पयन्त तीन करण— कृत-कारित-अनुमोदनासे और त्रिविध— मन-वचन-कायसे न करू, न कराऊ और न करते हुएकी अनुमोदना करू। हे भगवन्! मैं उस पापकी प्रतिक्रमणा करता हू, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हू, गुरु साक्षीपूर्वक गर्हणा करता हू और उस पापसे अपनी आत्माको हटाता हू॥ १॥ [सूत्र ॥ १४॥]

तटकी मिट्टीको, अथवा (सिल वा,) शिलाको, अथवा (लेलुं वा,) शिलापुत्रको, अथवा (ससरक्खं वा कायं,) सचित्त रजसे भरे हुए शरीरको, अथवा (ससरक्खं वा वत्थं) सचित्तरजसे भरे हुए वस्त्रको, अथवा (हत्थेण वा,) हाथसे, अथवा (पाएण वा,) पगों से, अथवा (कट्ठेण वा,) काष्ठ से, अथवा (किलिंचेण वा,) काठके खंडसे, अथवा (अंगुलियाए वा,) अंगुलिसे, अथवा (सिलागाए वा,) लोहेकी शलाकासे, अथवा (सिलागहत्थेण वा,) शलाकाके समुदायसे (न आलिहिज्जा,) सचित्त पृथिवीपर लिखे नहीं (न विलिहिज्जा,) विशेष लिखे नहीं, (न घट्टिज्जा,) एक स्थानसे द्वितीय स्थानपर सचित्त पृथिवीको गेरे नहीं, (न भिंदिज्जा,) सचित्त पृथिवीको भेदन करे नहीं, (अन्नं) औरोंसे (न आलिहाविज्जा,) सचित्त पृथिवीपर लिखावे नहीं, (न विलिहाविज्जा,) विशेष औरोंसे लिखावे नहीं, (न घट्टाविज्जा,) सचित्त पृथिवीको अन्यसे स्थानान्तर संक्रमण करावे नहीं, (न भिंदाविज्जा,) औरोंसे भेदन करावे नहीं, (अन्नं) औरोंको (आलिहंतं वा,) अथवा आलेखन करते हुएको, अथवा (विलिहंतं वा,) विशेष आलेखन करते हुएको, अथवा (घट्टंतं वा) स्थानान्तरसे संक्रमण करते हुएको, अथवा (भिंदंतं वा,) भेदन करते हुएको (न समणुजाणिज्जा) अनुमोदित करे नहीं, (जावज्जीवाए,) जीवन पर्यन्त, (तिविहं,) त्रिविध, (तिविहेणं) त्रिविधसे (मणेणं,) मनसे, (वायाए,) वचनसे,

आदि करे नहीं। इतना ही नहीं, किन्तु ऐसा दूसरोंसे कभी कराये नहीं और ऐसा करने... अनुमोदना भी करे नहीं। क्योंकि ऐसा करनेपर ही उसका चारित्रधर्म निर्दोष हो सकता है। और जिस स्थानपर अर्थात् मोक्षस्थानपर पहुँचनेकी तैयारी वह कर रहा है, वहा वह पहुँच सकता है।

यहा यह शङ्का की जा सकती है कि सूत्रकार पहिले भी पृथ्वीकायका वर्णन कर आये हैं और यहापर फिर भी उन्होंने उसका वर्णन किया है। यह दुबारा उसी विषयका वर्णन 'पुनरुक्ति' नामका एक दूषण है। शास्त्रमें यह नहीं होना चाहिये। इसका समाधान यह है कि पहिले पृथ्वीका जो वर्णन किया गया है, वह उसका सामान्य कथन है। और यह सूत्र उसके भेदोंका वर्णन करनेवाला है। इसलिये उससे यह विशेष है। दोनों वर्णन एक नहीं हैं। पृथ्वीके उत्तरभेद, जो शास्त्रकारोंने सात लाख बतलाये हैं, उन सबका भी इन्हींमें समावेश हो जाता है। इन भेदोंका कथन करनेसे शास्त्रकारका यह अभिप्राय है कि जिन चीज़ोंसे मुनिको बचना है, उनका पूरा-पूरा ज्ञान उन्हें हो जाय। ताकि अपने क्रियाचरण पालनेमें उन्हें सुगमता हो जाय और कोई बाधा उपस्थित न हो।

सूत्र 'आलिहिज्जा-विलिहिज्जा'—'आलिखेत्-विलिखेत्' पद 'लिख' धातुके हैं, जिसका अर्थ-उकेरना, कुरेदना आदि होता है ॥ १ ॥ [सूत्र ॥ १४ ॥]

उत्थानिका—अब शास्त्रकार पृथिवीकायके अनन्तर अप्कायका वर्णन करते हैं—

भाष्य— पाच महाव्रत और छठे, रात्रिभोजनत्याग व्रतका वर्णन करनेके बाद अब चारित्र धर्मका विस्तार वर्णन करना सूत्रकारको इष्ट है। लेकिन जब तक षट्कायके जीवोंकी यत्नपूर्वक रक्षा न की जायगी, तब तक चारित्रधर्म निर्दोषपूर्वक नहीं पाला जा सकता। अत एव सूत्रकारने षट् कायके जीवोंकी रक्षाका प्रकार बतलानेकेलिये आगाड़ी छह सूत्र कहे हैं। उनमेंसे पृथिवीकायकी रक्षाका पहिला सूत्र यह है।

साधु और साध्वी सकल परिग्रहका तो त्याग ही कर चुके हैं। केवल कायकी पालना करने केलिए वे भिक्षणशील—भिक्षु हैं।

सूत्रमें जो विशेषण भिक्षुकेलिये हैं, वे ही भिक्षुणीकेलिये भी हैं। लेकिन वे सब हैं पुंल्लिङ्ग, तथा 'भिक्खु' का पूर्व निपात भी है। इससे पुरुषकी प्रधानता सिद्ध होती है।

तप कर्ममें रत, कर्मोंकी दीर्घ स्थितिको जिसने ह्रस्व अर्थात् कम कर लिया हो, कर्मोंको बांधनेवाले एव बढानेवाले कारणोंका अभाव कर जिसने पापकर्मका प्रत्याख्यान कर लिया हो, इत्यादि विशेषणोंसे युक्त मुनि कभी भी सूत्रमें कही हुई अर्थात् सचित्त मिट्टीका स्पर्श न करे, अपना वस्त्रादि उपकरण उससे स्पर्शित न होने दे, उसपर कुछ लिखे नहीं, उसे इधरसे उधर

मणेणा, वायाए, काएणा, न करोमि, न कारवेमि करतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ १५ ॥]

स भिक्षुर्वा भिक्षुणी वा संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा; तद्यथा उदकं वा, अवश्याय वा, हिम वा, महिकां वा, करक वा, हरतनु वा, शुद्धोदक वा, उदकार्द्र वा काय, उदकार्द्र वा वस्त्र, सस्निग्ध वा काय, सस्निग्ध वा वस्त्र; नामृषेत्, न संस्पृशेत्, नापीडयेत्, न प्रपीडयेत्, नास्फोटयेत्, न प्रस्फोटयेत्, नातापयेत्, न प्रतापयेत्, अन्य नामर्षयेत्, न संस्पर्शयेत्, नापीडयेत्, न प्रपीडयेत्, नास्फोटयेत्, न प्रस्फोटयेत्, नातापयेत्, न प्रतापयेत्, अन्यमामृषन्त वा, संस्पृशन्त वा, आपीडयन्त वा, प्रपीडयन्त वा, आस्फोटयन्त वा, प्रस्फोटयन्त वा, आता-पयन्त वा, प्रतापयन्त वा न समनुजानीयाद्, यावज्जीव, त्रिविध, त्रिविधेन-मनसा, वाचा,

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयाविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे; दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से उदग वा, ओस वा, हिमं वा, महियं वा, करग वा, हरतणुग वा, सुद्धोदग वा, उदउल्लं वा काय, उदउल्लं वा वत्थं, ससिणिद्धं वा कायं, ससिणिद्धं वा वत्थं, न आमुसिज्जा, न संफुसिज्जा, न आवीलिज्जा न पवीलिज्जा, न अक्खोडिज्जा, न पक्खोडिज्जा, न आयाविज्जा, न पयाविज्जा, अन्ने न आमुसाविज्जा, न सफुसाविज्जा, न आवीलाविज्जा, न पवीलाविज्जा, न अक्खोडाविज्जा, न पक्खोडाविज्जा, न आयाविज्जा, न पयाविज्जा, अन्न आमुसतं वा, सफुसतं वा, आवीलंतं वा, पवीलंतं वा, अक्खोडंतं वा, पक्खोडंत वा, आयावंतं वा, पयावंतं वा न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए, तिविहं, तिविहेणं

करे, (न आवीलिज्जा) थोडा भी दबावे नहीं, (न पवीलिज्जा,) वार वार दबावे नहीं, (न अक्खोडिज्जा) एक वार भी झाडे नहीं, (न पक्खोडिज्जा) वार वार झाडे नहीं (न आयाविज्जा,) एक वार भी सुखावे नहीं, (न पयाविज्जा) वार वार सुखावे नहीं, (अन्न) औरोंसे (न आमुसाविज्जा,) एक वार भी स्पर्श करावे नहीं, (न सफुसाविज्जा,) वार वार स्पर्श करावे नहीं, (न आवीलाविज्जा,) एक वार भी दबावे नहीं, (न पवीलाविज्जा,) वार वार दबावे नहीं, (न अक्खोडाविज्जा,) एक वार झडकावे नहीं, (न पक्खोडाविज्जा,) वार वार झडकावे नहीं, (न आयाविज्जा,) एक वार भी औरोंसे सुखवावे नहीं, (न पयाविज्जा,) वार वार औरोंसे सुखवावे नहीं, (अन्न आमुसत वा,) एक वार भी स्पर्श करनेपर औरकी, अथवा (सफुसत वा,) वार वार स्पर्श करनेपर औरकी, अथवा (आवीलत वा,) एक वार भी दबानेपर औरकी, अथवा (पवीलत वा,) वार वार दबानेपर औरकी, (अक्खोडत वा,) एक वार भी झडकारनेपर औरकी, अथवा (पक्खोडत वा,) वार वार झडकारनेपर औरकी, अथवा (आयावत वा,) एक वार सुखानेपर औरकी, अथवा (पयावत वा,) वार वार सुखानेपर औरकी (न समणुजाणिज्जा) अनुमोदना करे नहीं, (जावज्जीवाए) जीवन पर्यन्त (तिविह) त्रिविध (तिविहेण) तीन प्रकारसे अर्थात् (मणेण,)

कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वतोप्यन्यान् न समनुजानामि। तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ १५ ॥]

अन्वयार्थ—(**से**) वह (**भिक्खू वा**) साधु, अथवा (**भिक्खुणी वा**) साध्वी, जो कि (**संजय**) निरन्तर यत्नशील हैं, (**विरय**) नाना प्रकारके तप कर्ममें रत हैं, (**पडिहय**) प्रतिहत हैं, (**पच्चक्खायपावकम्मे**) पाप कर्मको छोड चुके हैं, (**दिआ वा,**) दिनमें, अथवा (**राओ वा,**) रात्रिमें, अथवा (**एगओ वा,**) अकेले हों, अथवा (**परिसागओ वा,**) परिषद्में बैठे हुए हों, अथवा (**सुत्ते वा,**) सोए हुए हों, अथवा (**जागरमाणे वा,**) जागते हुए हों, (**से,** जैसे कि—(**उदग वा,**) कूपादि का पानी, अथवा (**हिम वा,**) बर्फका पानी, अथवा (**महिय वा,**) धुंधका पानी, अथवा (**करग वा,**) गडोंका पानी, अथवा (**हरतणुग वा,**) भूमिको उल्लंघन कर तृणादिपर स्थित हुआ पानी, अथवा (**सुद्धोदग वा**) वर्षाका पानी, इत्यादिसे (**उदउल्लं वा कायं,**) गीले हुए शरीरको, अथवा (**उदउल्लं वा वत्थं,**) गीले हुए वस्त्रको, अथवा (**ससिणिद्धं वा कायं,**) स्निग्धकायको, अथवा (**ससिणिद्धं वा वत्थं,**) स्निग्ध वस्त्रको, (**नामुसिज्जा,**) एक बार स्पर्श न करे, (**न संफुसिज्जा,**) बार बार स्पर्श न

भाष्य—सूत्रमें 'उदउल्ल — उदकार्द्रम्' और 'ससिणिद्ध'—'सस्निग्धम्' जो दो पद दिये गये हैं, उनमें यह अन्तर है कि 'स्निग्ध' का अर्थ तो केवल गीला होना है' और 'उदकार्द्र' का अर्थ ऐसा गीला होना है कि जिसमेंसे जलकी बूंदें टपक रही हों'।

सूत्रमें 'आवीलिज्जा, पवीलिज्जा'—'आपीडयेत्, प्रपीडयेत्' आदि पदोंमें जो 'आ' और 'प्र' उपसर्ग लगे हुए हैं, उनमें यह अन्तर है कि 'आ' उपसर्गका अर्थ तो 'एक बार तथा थोड़ा' होता है और 'प्र' उपसर्गका अर्थ 'बार-बार तथा बहुत' होता है।

यहां यह शङ्का हो सकती है कि 'प्र' उपसर्गका जो 'बार-बार तथा बहुत' अर्थ किया गया है, यह तो ठीक है। क्योंकि 'प्र' का अर्थ कोषकारोंने 'प्रकर्ष' किया है। 'बार-बार तथा बहुत' ये दोनों ही अर्थ प्रकर्षार्थके द्योतक ही हैं। लेकिन 'आ' उपसर्गका जो 'एक बार तथा थोड़ा' अर्थ किया गया है, वह यहां कैसे घटे? क्योंकि 'आ' उपसर्ग 'अभिविधि और मर्यादा' अर्थोंमें आता है। इसका समाधान यह है कि 'एक बार तथा थोड़ा' जो अर्थ हमने 'आ' उपसर्गका किया है, वह 'अभिविधि तथा मर्यादा' ही तो हुई।

यदि यहां यह शङ्का की जाय कि श्री भगवानने ऐसी आज्ञा क्यों दी? तो इसका समाधान

मनसे, (वायाए,) वचनसे, (काएण,) कायसे, (न करेमि,) न करूं, (न कारवेमि,) न कराऊ, (अन्न) औरोंके (करतपि) करते हुवोंकी (न समणुजाणामि,) अनुमोदना भी न करू। (भंते!) हे भगवन्! (तस्स) उसकी (पडिक्कमामि,) मैं प्रतिक्रमणा करता हू, (निंदामि,) निन्दा करता हू, (गरिहामि,) गर्हणा करता हू, और (अप्पाण) आत्माको (वोसिरामि) पृथक् करता हू, ॥ २॥ [सूत्र ॥ १५ ॥]

मूलार्थ—वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जो कि सयत हो, विरत हो, प्रतिहत हो, और पाप कर्मोंको जिसने छोड दिया हो, वह दिनमें, रात्रिमें, अकेले-दुकेले, सोते-जागते, कूपादिके, ओसके, वर्फके, धुयक, गडोंके, सातेके, तृणादिके, और वर्षादिके पानीसे यदि शरीर भीग जाय, अथवा वस्त्र भीग जाय, अथवा शरीर गीला हो जाय अथवा वस्त्र गीला हो जाय तो उनको एक वार भी थोडा भी स्पर्श करे नहीं, अथवा बार-बार और अत्यधिक स्पर्श करे नहीं थोडासा भी और एक वार भी उसे मरोड नहीं, वार-बार और अत्यधिक मरोडे नहीं, थोडा सा भी और एक वार भी झडकावे नहीं, बार-बार और अत्यधिक झडकावे नहीं। एक बार भी और थोडा सा भी धूपादिमें सुखावे नहीं, बार-बार और अत्यधिक सुखावे नहीं, सो उक्त क्रियाए अन्यसे करावे नहीं और अन्य करनेवालोंकी अनुमोदना भी करे नहीं। शेष अर्थ पूर्ववत् यहां भी लगा लेना ॥ २ ॥ [॥ सूत्र १५ ॥]

तिविहेण मणेण, वायाए, काएण, न करोमि, न कारवेमि, करतंपि अन्न न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा, संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, तद्यथा—अग्निं वा, अङ्गारं वा, मुर्मुरं वा, अर्चिर्वा, ज्वालां वा, अलातं वा, शुद्धाग्निं वा, उल्कां वा, नोत्सिञ्चेत्, न घट्टयेत्, न भिंद्यात्, न उज्ज्वालयेत्, न प्रज्ज्वालयेत्, न निर्वापयेत्, अन्यं नोत्सेचयेत्, न घट्टयेत्, न भेदयेत्, नोज्ज्वालयेत्, न प्रज्ज्वालयेत्, न निर्वापयेत्, अन्यमुत्सिञ्चयन्तं वा, घट्टयन्तं वा, भिन्दन्तं वा, उज्ज्वालयन्तं वा, प्रज्ज्वालयन्तं वा, निर्वापयन्तं वा न समनुजानीयात्, यावज्जीवम्, त्रिविधं, त्रिविधेन—मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि। तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

अन्वयार्थ—(से) वह (भिक्खू वा) साधु, अथवा (भिक्खुणी वा) साध्वी

यह है कि अप्कायके जीव अतिसूक्ष्म होते हैं। वे थोड़ेसे स्पर्शसे ही प्राणच्युत हो जाते हैं। अतः भगवान्ने उनकी रक्षाकेलिये यह यत्नारूप उपदेश दिया है। शेष वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिये ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ १५ ॥]

उत्थानिका –अब सूत्रकार अप्कायके अनन्तर तेजस्कायकी यत्नाके विषयमें कहते हैं—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खाय-पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से अगणिं वा, इंगालं वा, मुम्मुरं वा, अच्चिं वा, जालं वा, अलायं वा, सुद्धागणिं वा, उक्कं वा, न उंजिज्जा, न घट्टिज्जा, न भिंदिज्जा, न उज्जालिज्जा, न पज्जालिज्जा, न निव्वाविज्जा, अन्नं न उंजाविज्जा, न घट्टाविज्जा, न भिंदाविज्जा, न उज्जालाविज्जा, न पज्जालाविज्जा, न निव्वाविज्जा, अन्नं उंजंतं वा, घट्टंतं वा भिंदंतं वा, उज्जालंतं वा, पज्जालंतं वा, निव्वावंतं वा न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए, तिविहं,

तिविहेण मणेण, वायाए, काएण, न करेमि, न कारवेमि, करतपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भते । पडिक्कमामि, निंदामि, गारिहामि, अप्पाण वोसिरामि ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

स भिक्षुवा भिक्षुकी वा, सयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एको वा, परिषद्गतो वा, सुप्त वा, जाग्रद्वा, तद्यथा--अग्निं वा, अङ्गार वा, मुर्मुर वा, अर्चिर्वा, ज्वाला वा, अलात वा, शुद्धाग्नि वा, उल्कां वा, नोत्सिञ्चेत्, न घट्टयेत्, न भिद्यात्, न उज्ज्वालयेत्, न प्रज्वालयेत, न निर्वापयेत्, अन्य नोत्सिञ्चयेत्, न घट्टयेत्, न भेदयेत्, नोज्ज्वालयेत्, न प्रज्ज्वालयत्, न निर्वापयेत्, अन्यमुत्सिञ्चयन्त वा, घट्टयन्त वा, भिन्दन्त वा, उज्ज्वालयन्त वा, प्रज्ज्वालयन्त वा, निर्वापयन्त वा न समनुजानीयात, यावज्जीवम्, त्रिविध, त्रिविधेन--मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वतोप्यन्यान् न समनुजानामि । तस्य भदन्त । प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मान व्युत्सृजामि ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

अन्वयार्थ—(**से**) वह (**भिक्खू वा**) साधु, अथवा (**भिक्खुणी वा**) साध्वी

जो कि (संजय) सयत, (विरय) विरत, (पडिहय) प्रतिहत और (पच्चक्खायपावकम्मे,) पापकर्म जिन्होंने छोड दिये हैं, (दिआ वा,) दिनमें, अथवा (राओ वा,) रात्रिमें, अथवा (एगओ वा,) अकेले, अथवा (परिसागओ वा,) परिषद्में स्थित, अथवा (सुत्ते वा,) सोते हुए, अथवा (जागरमाणे वा,) जागते हुए, (से) जैसे कि—(अगणिं वा,) अग्निको, अथवा (इंगाल वा,) ज्वालारहित-अङ्गारोंकी अग्निको, अथवा (मुम्मुर वा,) मकरी आदिके मैंगनोंकी अग्निको, अथवा (अच्चिं वा,) मूल अग्निसे टूटती हुई ज्वालाको, अथवा (जाल वा,) ज्वालाको, अथवा (अलाय वा,) भट्टेकी अग्निको, अथवा (सुद्धागणिं वा,) काष्ठादिरहित शुद्ध अग्निको, अथवा (उक्कं वा,) उल्काको, (सय) स्वयमेव (न उजिज्जा,) सिंचन न करे, (न घट्टिज्जा,) सघट्टन न करे, (न भिंदिज्जा,) भेदन न करे, (न उज्जालिज्जा,) पङ्खादि की थोडी सी भी हवासे प्रज्वलित न करे, (न पज्जालिज्जा,) पङ्खादि द्वारा विशेष प्रज्वलित न करे, (न निव्वाविज्जा,) न बुझावे, (अन्न) अन्यके द्वारा (न उजाविज्जा,) सिंचन करावे नहीं, (न घट्टाविज्जा,) सघट्टन करावे नहीं, (न भिंदाविज्जा,) भेदन करावे नहीं, (न उज्जालाविज्जा,) पङ्खादि द्वारा थोडा सा भी प्रज्वलित करावे नहीं, (न पज्जालाविज्जा,) पवनके द्वारा विशेष प्रज्वलित करावे नहीं, (न निव्वाविज्जा) बुझावे नहीं,

(उज्जत वा,) उत्सिञ्चन करते हुए, अथवा (घट्टत वा,) संघट्टन करते हुए, अथवा (भिंदत वा,) भेदन करते हुए, अथवा (उज्जालत वा,) पंखादि द्वारा प्रचण्ड करते हुए, अथवा (पज्जालत वा,) पवनसे विशेष प्रचण्ड करते हुए, अथवा (निव्वावत वा,) बुझाते हुए, (अन्न) औरकी (न समणुजाणिज्जा,) अनुमोदना करे नहीं, (जावज्जीवाए,) जीवन पर्यन्त, (तिविहं,) त्रिविध, और (तिविहेण—) त्रिविधसे—(मणेणं,) मनसे, (वायाए,) वचनसे, (काएणं,) कायसे, (न करोमि,) करू नहीं, (न कारवेमि,) कराऊ नहीं, और (करतंपि) करते हुए (अन्न) अन्यकी (न समणुजाणामि। अनुमोदना करू नहीं। (भंते!) हे भगवन्! (तस्स) उसकी (पडिक्कमामि,) मैं प्रतिक्रमणा करता हू, (निंदामि,) निन्दा करता हू, (गरिहामि,) गर्हणा करता हू, और (अप्पाणं) आत्माको (वोसिरामि) पृथक् करता हू ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ १३ ॥]

मूलार्थ—यह पञ्चमहाव्रतधारी भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जो कि संयत, विरत और प्रतिहत है, तथा जिसने पापकर्म छोड दिये हैं, दिनमें, रात्रिमें, अकेले-दुकेले, सोते-जागते, अग्निको, अङ्गारों को, मेंगनोंकी आगको, टूटी हुई ज्वालाको, ज्वालाको, कुँमारादिके भट्टेकी अग्निको, शुद्धाग्निको,

जो कि (संजय) संयत, (विरय) विरत, (पडिहय) प्रतिहत और (पच्चक्खायपावकम्मे,) पापकर्म जिन्होंने छोड दिये हैं, (दिआ वा,) दिनमें, अथवा (राओ वा,) रात्रिमें, अथवा (एगओ वा,) अकेले, अथवा (परिसागओ वा,) परिषद्में स्थित, अथवा (सुत्ते वा,) सोते हुए, अथवा (जागरमाणे वा,) जागते हुए, (से) जैसे कि—(अगणिं वा,) अग्निको, अथवा (इंगालं वा,) ज्वालारहित-अङ्गारोंकी अग्निको, अथवा (मुम्मुरं वा,) बकरी आदिके मैंगनोंकी अग्निको, अथवा (अच्चिं वा,) मूल अग्निसे टूटती हुई ज्वालाको, अथवा (जालं वा,) ज्वालाको, अथवा (अलायं वा,) भट्ठेकी अग्निको, अथवा (सुद्धागणिं वा,) काष्ठादिरहित शुद्ध अग्निको, अथवा (उक्कं वा,) उल्काको, (सयं) स्वयमेव (न उंजिज्जा,) सिंचन न करे, (न घट्टिज्जा,) संघट्टन न करे, (न भिंदिज्जा,) भेदन न करे, (न उज्जालिज्जा,) पंखादि की थोडी सी भी हवासे प्रज्वलित न करे, (न पज्जालिज्जा,) पंखादि द्वारा विशेष प्रज्वलित न करे, (न निव्वाविज्जा,) न बुझावे; (अन्नं) अन्यके द्वारा (न उंजाविज्जा,) सिंचन करावे नहीं, (न घट्टाविज्जा,) संघट्टन करावे नहीं, (न भिंदाविज्जा,) भेदन करावे नहीं, (न उज्जालाविज्जा,) पंखादि द्वारा थोडा सा भी प्रज्वलित करावे नहीं, (न पज्जालाविज्जा,) पवनके द्वारा विशेष प्रज्वलित करावे नहीं, (न निव्वाविज्जा) बुझावे नहीं,

(उज्जत वा,) उत्सिञ्चन करते हुए, अथवा (घट्टत वा,) सघट्टन करते हुए, अथवा (भिंदत वा,) भेदन करते हुए, अथवा (उज्जालत वा,) पखादि द्वारा प्रचण्ड करते हुए, अथवा (पज्जालत वा,) पवनसे विशेष प्रचण्ड करते हुए, अथवा (निव्वावत वा,) बुझाते हुए, (अन्न) औरकी (न समणुजाणिज्जा,) अनुमोदना करे नहीं, (जावज्जीवाए,) जीवन पर्यन्त, (तिविहं,) त्रिविध, और (तिविहेण-) त्रिविधसे—(मणेण,) मनसे, (वायाए,) वचनसे, (काएण,) कायसे, (न करेमि,) करू नहीं, (न कारवेमि,) कराऊ नहीं, और (करतपि) करते हुए (अन्न) अन्यकी (न समणुजाणामि। अनुमोदना करू नहीं। (भते!) हे भगवन्! (तस्स) उसकी (पडिक्कमामि,) मैं प्रतिक्रमणा करता हू, (निंदामि,) निन्दा करता हू, (गरिहामि,) गर्हणा करता हू, और (अप्पाण) आत्माको (वोसिरामि) पृथक् करता हू ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

मूलार्थ—वह पञ्चमहाव्रतधारी भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जो कि सयत, विरत और प्रतिहत है, तथा जिसने पापकर्म छोड दिये हैं, दिनमें, रात्रिमें, अकेले-दुकेले, सोते-जागते, अग्निको, अङ्गारों को, मैंगनोंकी अग्निको, टूटी हुई ज्वालाको, ज्वालाको, कुँभारादिके भट्टेकी आगिको, शुद्धाग्निको,

और आकाशकी अग्निको लकडी आदि देकर उत्सिञ्चन न करे, सघट्टन न करे, भेदन न करे, प्रज्वलित न करे, विशेष प्रज्वलित न करे, और बुझावे भी नहीं, एव दूसरेसे भी ईंधनादि द्वारा उत्सिञ्चन न करावे, सघट्टन न करावे, भेदन न करावे, प्रज्वलित न करावे, विशेष प्रज्वलित न करावे, और बुझवावे भी नहीं, किन्तु अन्य जो कोई उक्त क्रियाएं करते हों तो उनकी अनुमोदना भी न करे। [शिष्य प्रतिज्ञा करता है कि—] मैं जीवन पर्यन्त तीन करण—कृत-कारित-अनुमोदना और तीन योग—मन-वचन-कायसे अग्निका आरम्भ न करूं, न कराऊं, और न करते हुएकी अनुमोदना करूं। हे भगवन्! मैं उस पापसे प्रतिक्रमण करता हूं, आत्मसाक्षीपूर्वक उसकी निन्दा करता हूं, गुरुसाक्षीपूर्वक गर्हणा करता हूं और अपनी आत्माको उस पापसे पृथक् करता हूं ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

भाष्य—आगममें अग्निकायके सब मिलाकर जो सात लाख भेद वर्णन किये गये हैं, उक्त सूत्रमें उनका दिग्दर्शनमात्र है। सूत्रोक्त सब अग्नियां सचित्त हैं। इनका व्यवहार साधुकेलिये वर्जित है। अग्नियोंमें केवल 'तेजोलेश्या' ही अचित्त है।

हां! तेजोलेश्यावत् घनाघटी विद्युत् आदिकी अग्नि भी अचित्त ही प्रतीत होती है। कारण

कि—अग्निके प्रकाशकत्व और उष्णत्व, ये दोनों ही लक्षण वर्णन किये गये हैं। वनावटी विद्युत्में प्रकाशकत्व गुण तो दृष्टिगोचर होता है, किन्तु उष्णत्व गुण उसमें नहीं प्रतीत होता है। इसीलिये विद्युत्की अग्नि अचित्त प्रतीत होती है।

जिस प्रकार विद्युत् प्रकाश करती है, ठीक उसी प्रकार मणि आदि पार्थिव पदार्थ भी प्रकाश करते हैं। इसीलिये शास्त्रकारोंने कहा है कि—पृथ्वी प्रकाशकत्व वा अप्रकाशत्व, दोनों गुणोंसे युक्त है ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

उत्थानिका—सूत्रकर्ता अग्निकायकी यत्नाके पश्चात् अब वायुकायकी यत्नाके विषयमें कहते हैं —

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से सिएण वा, विहुयणेण वा, तालिअंटेण वा, पत्तेण वा, पत्तभंगेण वा, साहाए वा, साहाभंगेण वा, पिहुणेण वा, पिहुणहत्थेण वा, चेलेण

वा, चेलकरणेण वा, हत्थेण वा, मुहेण वा, अप्पणो वा कायं, बाहिरं वा वि पुग्गलं, न फुमिज्जा, न वीएज्जा, अन्नं न फुमाविज्जा, न वीयाविज्जा, अन्नं फुमतं वा, वीअंतं वा, न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए, तिविहं, तिविहेणं—मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ ४ ॥ [सूत्र ॥ १७ ॥]

स भिक्षुर्वा भिक्षुणी वा संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, तद्यथा—सितेन वा, विधुवनेन वा, तालवृन्तेन वा, पत्रेण वा, पत्रभङ्गेन वा, शाखया वा, शाखाभङ्गेन वा, पेहुणेन वा, पेहुणहस्तेन वा, चेलेन वा, चेलकर्णेन वा, हस्तेन वा, मुखेन वा, आत्मनो वा कायं, बाह्यं वापुद्गलं, न फूत्कुर्यात्, न व्यजेत्, अन्यं न फूत्कारयेत्, न व्याजयेत्, अन्यं फूत्कुर्वन्तं वा, व्यजन्तं वा न समनुजानीयात्, यावज्जीवं, त्रिविधं, त्रिविधेन—मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न

समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मान व्युत्सृजामि ॥ ४ ॥
[सूत्र ॥ १७ ॥]

अन्वयार्थ—(**से**) वह (**भिक्खू वा**) साधु, अथवा (**भिक्खुणी वा**) साध्वी, जो कि (**संजय**) निरन्तर यत्नशील हैं, (**विरय**) नाना प्रकारके तप कर्मोंमें रत हैं, (**पडिहय**) प्रतिहत हैं, (**पच्चक्खायपावकम्मे,**) पापकर्मको छोड़ चुके हैं, (**दिआ वा,**) दिनमें, अथवा (**राओ वा,**) रात्रिमें, अथवा (**एगओ वा,**) अकेले हों, अथवा (**परिसागओ वा,**) परिषद्में बैठे हुए हों, अथवा (**सुत्ते वा,**) सोए हुए हों, अथवा (**जागरमाणे वा,**) जागते हुए हों, (**से,** जैसे कि—(**सिएण वा,**) श्वेत चमरसे, अथवा (**विहुयणेण वा,**) पखेसे, अथवा (**तालिअंटेण वा,**) ताड़ वृक्षके पखेसे, अथवा (**पत्तेण वा,**) पत्तोंसे, अथवा (**पत्तभंगेण वा,**) पत्तोंके टुकड़ोंसे, अथवा (**साहाए वा,**) शाखासे, अथवा (**साहाभंगेण वा,**) शाखाओंके टुकड़ोंसे, अथवा (**पिहुणेण वा,**) मयूरके पखोंसे, अथवा (**पिहुणहत्थेण वा,**) मयूरादिकी पिच्छीसे, अथवा (**चेलेण वा,**) वस्त्रसे, अथवा (**चेलकण्णेण वा,**) वस्त्रके टुकड़ेसे, अथवा (**हत्थेण वा,**) हाथसे, अथवा (**मुहेण वा,**) मुखसे, (**अप्पणो वा काय,**)

अपने शरीरको, अथवा (**बाहिर वा वि पुग्गल,**) शरीरसे बाहिरके पुद्गलोंको, (**न फुमिज्जा,**) फूक मारे नहीं, (**न वीएज्जा,**) पखादिसे बयार करे नहीं, (**अन्न**) अन्यसे (**न फुमाविज्जा,**) फूंक लगवावे नहीं, (**न वीयाविज्जा;**) पखादिसे बयार करवावे नहीं, और (**फुमन्त वा,**) फूक लगाते हुए, अथवा (**वीअन्त वा**) पखादिसे बयार करते हुए (**अन्ने**) अन्य किसी व्यक्तिकी (**न समणुजाणिज्जा,**) अनुमोदना करे नहीं, (**जावज्जीवाए,**) जीवन पर्यन्त, (**तिविहं,**) त्रिविध, (**तिविहेण**) त्रिविधसे-(**मणेण,**) मनसे, (**वायाए,**) वचनसे, (**काएण,**) कायसे, (**न करेमि,**) न करूं, (**न कारवेमि,**) न कराऊं, (**करन्तंपि**) करते हुए (**अन्न**) औरोंकी (**न समणुजाणामि।**) अनुमोदना न करूं। (**भंते!**) हे भगवन्! (**तस्स**) उसकी (**पडिक्कमामि,**) मैं प्रतिक्रमणा करता हूं, (**निंदामि,**) निन्दा करता हूं, (**गरिहामि,**) गर्हणा करता हूं, (**अप्पाणं**) आत्माको (**वोसिरामि**) हटाता हूं, ॥ ४ ॥ [सूत्र ॥ १७ ॥]

मूलार्थ—पूर्वोक्त पांच महाव्रत सहित वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जो कि संयत है, विरत है, प्रतिहत है और पापकर्मसे रहित है, दिनमें, रात्रिमें, अकेले-दुकेले, सोते-जागते, श्वेत चमरसे, पंखेसे, ताडवृक्षके पत्तेसे, पत्तेसे, पत्तोंके टुकडोंसे, शाखासे, शाखाओंके टुकडोंसे, मयूरपिच्छीसे, मयूरपिच्छीकी

पूजनीसे, वस्त्रसे, वस्त्रके टुकडेसे, हाथसे, मुखसे, अपने शरीरको वा बाहिरके पुद्गलको, न फूक लगावे, न पंखा करे, अन्यसे न फूक लगावे, न पंखा करवावे, और न फूक लगाते हुए या पंखा करते हुए अन्य किसी व्यक्तिकी अनुमोदना करे। जीवन पर्यन्त त्रिविध-कृत-कारित-अनुमोदनासे तथा त्रियोग-मन-वचन-कायसे। [इसके अनन्तर शिष्य प्रतिज्ञा करता है कि] हे भगवन्! अग्निकाय का प्रारम्भ न मैं स्वयं करूं, न कराऊं और न करते हुए अन्य किसी व्यक्तिकी अनुमोदना करूं। और जो आज तक किया हो, उसका मैं प्रत्याख्यान करता हूं, आत्माकी साक्षीपूर्वक उसकी मैं निन्दा करता हूं, गुरुकी साक्षीपूर्वक उसकी मैं गर्हणा करता हूं तथा उससे मैं अपने आपको हटाता हूं ॥ ४ ॥ [सूत्र ॥ १७ ॥]

भाष्य—चार स्थावर तो स्वकाय और परकाय शस्त्रोंसे भी प्रतिहत होते हैं। लेकिन वायु कायका शस्त्र वायुकाय ही होता है। इसलिये वायुकायके जीवोंकी रक्षाकेलिये बडी सावधानीसे वर्तना चाहिये।

सूत्रसे सिद्ध होता है कि वायुकायके अधिष्ठायक देवोंकी यदि यत्नपूर्वक आराधना की जाय तो वे भी सिद्ध किये जा सकते हैं। शेष वर्णन प्राग्वत् समझना चाहिये ॥ ४ ॥ [सूत्र ॥ १७ ॥]

उत्थानिका —शास्त्रकार अब वायुकायके पश्चात् वनस्पतिकायकी यत्नाके विषयमें कहते हैं—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खाय-पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से बीएसु वा, बीयपइट्ठेसु वा, रूढेसु वा, रूढपइट्ठेसु वा, जाएसु वा, जायपइट्ठेसु वा हरिएसु वा हरियपइट्ठेसु वा, छिन्नेसु वा, छिन्नपइट्ठेसु वा, सचित्तेसु वा, सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा, न गच्छेज्जा, न चिट्ठेज्जा, न निसीइज्जा न तुअट्टिज्जा अन्नं न गच्छाविज्जा, न चिट्ठाविज्जा, न निसीयाविज्जा, न तुअट्टाविज्जा, अन्नं गच्छंतं वा, चिट्ठंतं वा, निसीयंतं वा तुअट्टंतं वा, न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए, तिविहं, तिविहेणं—मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि

करतपि अन्न न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ ५ ॥ [सूत्र ॥ १८ ॥]

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जागृद्वा, तद्यथा—बीजेषु वा, बीजप्रतिष्ठितेषु वा, रूढेषु वा, रूढप्रतिष्ठितेषु वा, जातेषु वा, जातप्रतिष्ठितेषु वा, हरितेषु वा, हरितप्रतिष्ठितेषु वा, छिन्नेषु वा, छिन्नप्रतिष्ठितेषु वा, सचित्तेषु वा, सचित्तकोलप्रतिनिश्रितेषु वा, न गच्छेत्, न तिष्ठेत्, न निषादेत्, न त्वग्वर्तेत्, अन्य न गमयेत्, न स्थापयेत्, न निषीदयेत्, न त्वग्वर्तयेत्, अन्य गच्छन्त वा, तिष्ठन्त वा, निषीदन्त वा, त्वग्वर्तन्त वा, न समनुजानीयाद्, यावज्जीव, त्रिविध, त्रिविधेन-मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्य न समनुजानामि। तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मान व्युत्सृजामि ॥ ५ ॥ [सूत्र ॥ १८ ॥]

अन्वयार्थ—(से) वह (भिक्खू वा) साधु, अथवा (भिक्खुणी वा) साध्वी, (संजय) जो कि संयत (विरय) विरत (पडिहय) प्रतिहत और (पच्चक्खायपावकम्मे,)

उत्थानिका--शास्त्रकार अब वायुकायके पश्चात् वनस्पतिकायकी यत्नाके विषयमें कहते हैं--

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खाय-पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से बीएसु वा, बीयपइट्ठेसु वा, रूढेसु वा, रूढपइट्ठेसु वा, जाएसु वा, जायपइट्ठेसु वा हरिएसु वा हरियपइट्ठेसु वा, छिन्नेसु वा, छिन्नपइट्ठेसु वा, सचित्तेसु वा, सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा; न गच्छेज्जा, न चिट्ठेज्जा, न निसीइज्जा न तुअट्टिज्जा अन्नं न गच्छाविज्जा, न चिट्ठाविज्जा, न निसीयाविज्जा, न तुअट्टाविज्जा, अन्नं गच्छंत वा, चिट्ठंत वा, निसीयंत वा तुअट्टंत वा, न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए, तिविहं, तिविहेणं--मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि न कारवेमि

(न निसीयाविज्जा,) बैठावे नहीं, (न तुअट्टाविज्जा,) शयन करावे नहीं, (गच्छन्त वा,) गमन करते हुए, अथवा (चिट्ठन्त वा,) खड़े होते हुए, अथवा (निसीयन्त वा,) बैठते हुए, अथवा (तुअट्टन्त वा,) शयन करते हुए (अन्नं) अन्य किसीकी (न समणुजाणिज्जा,) अनुमोदना करे नहीं, (जावज्जीवाए,) जीवन पर्यन्त, (तिविहं,) त्रिविध, (तिविहेणं–) त्रिविधसे—(मणेणं,) मनसे, (वायाए,) वचनसे, (काएणं,) कायसे, (न करेमि,) मैं नहीं करूं, (न कारवेमि,) औरोंसे नहीं कराऊं, (करंतंपि) करते हुए (अन्नं) अन्यकी (न समणुजाणामि।) अनुमोदना नहीं करूं। (भंते!) हे भगवन्! (तस्स) उसकी (पडिक्कमामि,) मैं प्रतिक्रमण करता हूं, (निंदामि,) निन्दा करता हूं, (गरिहामि,) गर्हणा करता हूं, और (अप्पाणं) आत्माको (वोसिरामि) पृथक् करता हूं॥ ५ ॥ [सूत्र ॥ १८ ॥]

मूलार्थ—पूर्वोक्त पांच महाव्रतयुक्त वह भिक्षु अथवा भिक्षुकी, जो कि संयत है, विरत है, प्रतिहत है, और पापकर्मोंका जिसने त्याग कर दिया है, दिनमें, रात्रिमें, अकेले-दुकेले, सोते-जागते, बीजोंपर, बीजोंपर रक्खे हुए पदार्थोंपर, अंकुरोंपर, अंकुरोंपर रक्खे हुए पदार्थोंपर, पत्रादि संयुक्त अंकुरोंपर, उनपर रक्खे हुए पदार्थोंपर, हरितोंपर, हरितप्रतिष्ठित पदार्थोंपर, वृक्षादिकी छेदन की

पापकर्मको जिसने छोड दिया हो, (**दिआ वा,**) दिनमें, अथवा (**राओ वा,**) रात्रिमें, अथवा (**एगओ वा,**) अकेले, अथवा (**परिसागओ वा,**) पारिषद्में बैठे हुए, अथवा (**सुत्ते वा,**) सोते हुए, अथवा (**जागरमाणे वा,**) जागते हुए (**से–**) यथा–(**बीएसु वा,**) बीजोंपर, अथवा (**बीयपइट्ठेसु वा,**) बीजके ऊपर मक्षण करने योग्य अन्नादि पदार्थ जो रखे हुए हों उनपर, अथवा (**रूढेसु वा,**) बीज फूटकर जो अंकुरित हुए हों उनपर, अथवा (**रूढपइट्ठेसु वा,**) रूढप्रतिष्ठित पदार्थोंपर, अथवा (**जाएसु वा,**) जो उगकर पत्रादिसे युक्त होगये हों उनपर, अथवा (**जायपइट्ठेसु वा,**) जातप्रतिष्ठित पदार्थोंपर, अथवा (**हरिएसु वा,**) हरित दूर्वादिपर, अथवा (**हरियपइट्ठेसु वा,**) हरितप्रतिष्ठित पदार्थोंपर, अथवा (**छिन्नेसु वा,**) परशु आदि द्वारा छेदन की हुई वृक्षादिकी शाखाओंपर, अथवा (**छिन्नपइट्ठेसु वा,**) छिन्नप्रतिष्ठित मथनादि पदार्थोंपर, अथवा (**सचित्तेसु वा,**) सचित्त अण्डकादिपर, अथवा '(**सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा,**) सचित्त घुणादिसे प्रतिष्ठित काष्ठादिपर अर्थात् जिन काठोंको घुण लगा हुआ हो, उनपर (**न गच्छेज्जा,**) न चले, (**न चिट्ठेज्जा**) न खडा हो, (**न निसीइज्जा**) न बैठे, (**न तुअट्टिज्जा**) न लेटे–न करवट बदले, (**अन्न**) अन्य व्यक्तिको (**न गच्छावेज्जा**) चलावे नहीं, (**न चिट्ठावेज्जा**) खडा करावे नहीं,

उत्थानिका—वनस्पतिकायकी यत्नाके पश्चात् शास्त्रकार अब त्रसकायकी यत्नाके विषयमें वर्णन करते हैं—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से कीड वा, पयग वा, कुन्थु वा, पिपीलिय वा, हत्थसि वा, पायसि वा, बाहुसि वा, उरुसि वा, उदरसि वा, सीससि वा, वत्थसि वा, पडिग्गहसि वा, कबलसि वा पायपुच्छणसि वा, रयहरणसि वा गुच्छग-सि वा, उडगसि वा, दडगसि वा, पीढगसि वा, फलगसि वा, सेज्जसि वा, सथारगसि वा, अन्नयरसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए तओ सजयामेव पडिलेहिअ पडिलेहिय पमज्जिअ पमज्जिअ एगतमवणिज्जा, नो ण सघायमावज्जिज्जा ॥ ६ ॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

हुई शाखाओंपर, उनपर रक्खे हुए पदार्थोंपर, अण्डादि सचित्त पदार्थोंपर, सचित्तको लघुमादिसे प्रतिष्ठित पदार्थोंपर, न खाय, न खडा हो, न बैठे, न सोवे, अन्यको उक्त पदार्थोंपर न चलावे, न खडा करे, न बैठावे, न सुआवे, और जो उक्त क्रियाएं करते हों उनकी अनुमोदना भी न करे। शेष प्राग्वत् ॥ ५ ॥ [॥ १८ ॥]

भाष्य—यह बात शास्त्रसम्मत है कि मनुष्य जिस प्रकारके जीवकी हिंसा करता है, उसको उसी प्रकारका जन्म धारण करके उसी प्रकारसे मरना पड़ता है। अत एव वनस्पतिकाय आदिकी हिंसा अपनेसे न हो जाय, इस बातकी पूरी सावधानी मनुष्यको करना चाहिये। इस प्रकार सावधानीसे प्रवृत्ति करते हुए मनुष्य जब संपूर्ण जीवोंकापूर्ण रक्षक बन जायगा, तभी उसे निर्वाणपदकी प्राप्ति हो सकेगी।

कृत, कारित और अनुमोदन इन तीनों करणों-कारणोंसे जीवके कर्मबन्ध होता है। इस लिये इन तीनोंके निरोध करनेसे ही जीवके आते हुए कर्म रुकेंगे, इसीलिये यहांपर तथा पूर्वमें अनेक जगहपर इन तीनोंसे ही सावधान रहनेका आदेश शास्त्रकारने दिया है।

शेष वर्णन यहांपर भी प्राग्वत् ही समझना चाहिये ॥ ५ ॥ [सूत्र ॥ १८ ॥]

वा,) पांवपर, अथवा, (बाहुंसि वा,) भुजापर, अथवा (ऊरुंसि वा,) गोदपर, अथवा (उदरंसि वा,) पेटपर, अथवा (सीसंसि वा,) सिरपर, अथवा (वत्थंसि वा,) वस्त्रपर, अथवा (पडिग्गहंसि वा,) पात्रपर, अथवा (कंबलंसि वा,) कम्बलपर, अथवा (पायपुंछणंसि वा,) पात्रप्रोञ्छण–आसनादिपर, अथवा (रयहरणंसि वा,) रजोहरणपर, अथवा (गोच्छगंसि वा,) †गोच्छगपर, अथवा (‡उंडगंसि वा,) मूत्रपात्रपर, अथवा (दंडगंसि वा) दंडपर, अथवा (पीढगंसि वा,) चौकीपर, अथवा (फलगंसि वा,) पट्टेपर, अथवा (सेज्जंसि वा,) शय्यापर, अथवा (संथारगंसि वा,) बिछौनेपर, अथवा (अन्नयरंसि वा) अन्य (तहप्पगारे) इसी प्रकारके (उवगरणजाए) किसी उपकरणपर चढ़ जानेके (तओ) बाद (संजयामेव) यत्नपूर्वक (पडिलेहिय पडिलेहिय) देख-देखकर (पमज्जिय पमज्जिय) पोंछ-पोंछकर (एगंतमवणिज्जा) एकान्त स्थानमें रख देवे (नो णं संघायमावज्जेज्जा) घात न करे–एकत्रित न करे-पीड़ा न पहुँचावे ॥ ६ ॥ [सूत्र ॥ १९ ॥]

---

† पात्रोंके पोंछनेका जो वस्त्र होता है, उसे "गोच्छग" कहते हैं।

‡ "उंडग'–'उंडक' स्थण्डिलं शय्या संस्तारको वसतिर्वा ' इति टीकायाम्।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, तद्यथा—कीटं वा, पतङ्गं वा, कुन्थुं वा, पिपीलिकां वा, हस्ते वा, पादे वा, बाहौ वा, ऊरौ वा, उदरे वा, शीर्षे वा, वस्त्रे वा, प्रतिग्रहे वा, कम्बले वा, पादप्रोञ्छनके वा, रजोहरणे वा, गुच्छे वा, उन्दके वा, दण्डके वा, पीठे वा, फलके वा, शय्यायां वा संस्तारके वा, अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे उपकरणजाते, ततः संयतमेव प्रत्युपेक्ष्य प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य प्रमृज्य एकान्तमपनयेत्, नैनं संघातमापादयेत् ॥८६॥ [सूत्र ॥ १९ ॥]

अन्वयार्थ—(से) वह (भिक्खू वा) साधु, अथवा (भिक्खुणी वा) साध्वी, जो कि (संजय) निरन्तर यत्नशील हैं, (विरय) नाना प्रकारके तप कर्मोंमें रत हैं, (पडिहय) प्रतिहत हैं, (पच्चक्खायपावकम्मे,) पापकर्मको छोड़ चुके हैं, (दिआ वा,) दिनमें, अथवा (राओ वा,) रात्रिमें, अथवा (एगओ वा,) अकेले हों, अथवा (परिसागओ वा,) परिषदमें बैठे हुए हों, अथवा (सुत्ते वा,) सोए हुए हों, अथवा (जागरमाणे वा,) जागते हुए हों, (से) यथा—(कीडं वा,) कीटकको, अथवा (पयंगं वा,) पतङ्गको, अथवा, (कुंथुं वा,) कुन्थुको, अथवा (पिपीलियं वा,) पिपीलिकाको, (हत्थंसि वा,) हाथपर, अथवा (पायंसि

जो पद दिया है उसका तात्पर्य यह है कि साधु को जिस जिस कालमें धर्मसाधनकेलिये जिस उपकरणकी आवश्यकता हो, वह उसे निस्पृह भावसे रख सकता है। जैसे कि--उक्त उपकरणोंमें पुस्तकोंका नामोल्लेख नहीं है, किन्तु आधुनिक समयमें साधु, धर्मसाधनकी आशासे पुस्तक अपने पास रखते अवश्य हैं। इसी प्रकार अन्य उपकरणोंके विषयमें भी जानना चाहिये। लेकिन यह याद रखना चाहिये कि उपकरण उसीका नाम है, जिसके द्वारा ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी पूर्णतया आराधना की जा सके।

हां! इसपर यह शङ्का अवश्य की जा सकती है कि यदि उक्त वक्तव्यका यह तात्पर्य निकाला जाय, जैसा कि ऊपर कहा गया है तो फिर मान लीजिये कि किसी समय किसी साधुको धर्म साधनेकेलिये द्रव्यादिके पास रखनेकी आवश्यकता पड़ गई तो क्या वह उसे ग्रहण करले? इसका समाधान यह है कि द्रव्यादिका तो साधु पांचवें महाव्रतमें संपूर्णरूपसे त्याग कर चुका है। उसे वह ग्रहण कभी भी नहीं कर सकता। जिसप्रकार द्रव्यादिका सर्वथा त्याग सूत्रोंमें प्रतिपादन किया गया है, उस प्रकार उपकरणोंका सर्वथा त्याग कहीं भी नहीं बतलाया गया है। हां! उपकरणोंका परिमाण कर लेना अवश्य बतलाया गया है, जो कि युक्तियुक्त है।

इस तरहसे ज्ञान साधनकेलिये पुस्तकों का रखना साधुओंकेलिये सूत्रानुसार सिद्ध है।

मूलार्थ— पञ्चमहाव्रतयुक्त वह भिक्षु अथवा भिक्षुकी, जो कि संयत है, विरत है, प्रतिहत है, और पापकर्मोंको जिसने त्याग दिया है, दिनमें, रात्रिमें, अकेले-दुकेले, सोते-जागते, यदि कीट, पतंगे, कुन्थुए, पिपीलिका आदि जीव हाथपर, पांवपर, भुजापर, गोडपर पेटपर, सिरपर, वस्त्रपर, पात्रपर, कम्बलपर, आसनपर, रजोहरणपर, गोच्छगपर, पात्रोंके पोंछनेके वस्त्रपर, मूत्रके पात्रपर, दण्डेपर, चौकीपर, पट्टेपर, शय्यापर, बिछौनेपर तथा साधुके इसी प्रकारके किसी और उपकरणपर चढ़ आयँ तो उन्हें देख-भालकर, तथा झाड़-पोंछकर अलग एकान्त स्थानमें पहुँचा दे, उनका घात न करे—पीड़ा न पहुँचावे ॥ ६ ॥ [सूत्र ॥ १९ ॥]

भाष्य—सूत्रका सारांश यह है कि साधुके किसी भी शरीरावयवपर अथवा उसके किसी भी उपकरणपर यदि कोई त्रस जीव चढ़ आवे तो वह उसे भलीभांति देख-भालकर पोंछकर किसी ऐसे एकान्त स्थानमें रख दे, जहांपर उसे किसी भी प्रकारकी तकलीफ न होने पावे। वह स्थान ऐसा भी न हो जहांपर कि और अनेक जीव मौजूद हों और वे उसकी विराधनाके कारण बन जावें। इसीलिये सूत्रमें 'एगंतमवणिज्जा'—'एकान्तमपनयेत्' पद दिया है।

जो पद दिया है, उसका तात्पर्य्य यह है कि साधु को जिस जिस कालमें धर्मसाधनकेलिये जिस उपकरणकी आवश्यकता हो, वह उस निस्पृह भावसे रख सकता है। जैसे कि—उक्त उपकरणोंमें पुस्तकोंका नामोल्लेख नहीं है किन्तु आधुनिक समयमें साधु, धर्मसाधनकी आशासे पुस्तक अपने पास रखते अवश्य हैं। इसी प्रकार अन्य उपकरणोंके विषयमें भी जानना चाहिये। लेकिन यह याद रखना चाहिये कि उपकरण उसीका नाम है, जिसके द्वारा ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी पूर्णतया आराधना की जा सके।

हां! इसपर यह शङ्का अवश्य की जा सकती है कि यदि उक्त वक्तव्यका यह तात्पर्य निकाला जाय, जैसा कि ऊपर कहा गया है तो फिर मान लीजिये कि किसी समय किसी साधुको धर्म साधनेकेलिये द्रव्यादिके पास रखनेकी आवश्यकता पड़ गई तो क्या वह उसे ग्रहण करले? इसका समाधान यह है कि द्रव्यादिका तो साधु पांचवें महाव्रतमें संपूर्णरूपसे त्याग कर चुका है। उसे वह ग्रहण कभी भी नहीं कर सकता। जिसप्रकार द्रव्यादिका सर्वथा त्याग सूत्रोंमें प्रतिपादन किया गया है, उस प्रकार उपकरणोंका सर्वथा त्याग कहीं भी नहीं बतलाया गया है। हां! उपकरणोंका परिमाण कर लेना अवश्य बतलाया गया है जो कि युक्तियुक्त है।

इस तरहसे ज्ञान साधनकेलिये पुस्तकों का रखना साधुओंकेलिये सूत्रानुसार सिद्ध है।

और जिस तरह पुस्तकोंका रखना उनकेलिये सिद्ध है, उसी प्रकार तत्सम्बन्धी यथावत्-क्रमस रखना भी साधुकेलिये अयुक्त नहीं है।

श्रीदशवैकालिकसूत्रका एक संस्करण 'आगमोदय समिति' की ओरसे भी प्रकाशित हुआ है। उक्त सूत्रका यह संस्करण 'टीका' और 'दीपिका' सहित प्रकाशित हुआ है। उस संस्करणमें 'सीससि वा, वत्थसि वा, पडिग्गहसि वा, कम्बलंसि वा, पायपुञ्छणंसि वा', ये पद मूलमें तो दिये हैं, लेकिन टीकाकारने इन पदोंकी टीका नहीं की है। साथ ही दीपिकाकारने उन पदोंका अर्थ किया है। इससे टीकाकार और दीपिकाकारोंमें परस्पर पाठविषयक मतभेद प्रतीत होता है। उक्त संस्करणके संशोधक विद्वान्ने इसी आशयसे इसपर पादटिप्पणीमें एक यह टिप्पणी कि 'नैतानि व्याख्यातानि टीकाया, दीपिकायां तु व्याख्यातानि' जोड़कर टीकाकार और दीपिकाकारके मतभेद का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है।

उक्त संस्करणके अतिरिक्त श्रीदशवैकालिक सूत्रका एक संस्करण 'भीमसिंह माणिक' की ओरसे भी प्रकाशित हुआ है। उसमें उक्त पद सब दिये हैं और गुजराती भाषामें उन सबका अर्थ भी दिया है †।

† इसी प्रकारका, पाठभेद पहिले भी एक जगह हो चुका है। जैसे कि 'आगमोदयसमिति' द्वारा प्रकाशित

उक्त संस्करणोंके अतिरिक्त इस ग्रन्थका एक संस्करण स्वामी रत्नचन्द्रजीकृत हिन्दीअर्थ सहित भी हुआ है। उसमें 'सीससि वा' और 'वत्थसि वा' पदोंके बीचमें एक 'मुहे मुहप त्तसि वा' पद और छपा हुआ मिलता है। जिसका अर्थ होता है—'मुखपर बँधी हुई मुखपत्तिमें।'

श्रीसंघमें 'मुँहपत्ति' के 'मुखपर बँधी हुई' के अर्थपर थोड़ासा विवाद है। विवाद मुँहपत्ति की आवश्यकता पर नहीं है मुँहपत्तिकी आवश्यकता तो जीवरक्षाके उद्देश्यसे दोनोंको मान्य है। विवाद केवल 'मुखपर बांधने न बांधने' के विषयमें है। संवेगी साधु मुखपर मुँहपत्ति बांधते नहीं हैं, हाथमें लिये रहते हैं। केवल बोलते समय उसे मुँहके आड़े लगा लेते हैं। और स्थानकवासी साधु उसे हर समय मुँहपर बांधे ही रहते हैं।

इसी दशवैकालिकसूत्रके तेजस्कायकी रक्षावाले सूत्रमें 'न भिंदिज्जा, न पज्जालिज्जा,' ये दो पद नहीं दिये हैं।

इस तरहके पाठभेदोंका होना अनुचित है। इधर श्रीसंघको ध्यान अवश्य देना चाहिये। इसलिये एक 'सूत्रमाला' इस प्रकारकी प्रकाशित करनी चाहिये कि जिसमें समस्त प्रतियोंके विभिन्न पाठोंके संकलनके अतिरिक्त उन प्रतियोंके संवतोंका भी उसमें उल्लेख हो। तथा सूत्र और पदोंकी संख्या भी निश्चित कर देनी चाहिये, जिससे कि भविष्यमें उनमें कोई घट-बढ़ी न कर सके।

और जिस तरह पुस्तकोंका रखना उनकेलिये सिद्ध है, उसी प्रकार तत्सय घो वथात–कुलम रखना भी साधुकेलिये अयुक्त नहीं है।

श्रीदशवैकालिकसूत्रका एक संस्करण 'आगमोदय समिति' की ओरसे भी प्रकाशित हुआ है। उक्त सूत्रका यह संस्करण 'टीका' और 'दीपिका' सहित प्रकाशित हुआ है। उस संस्करणमें 'सीससि वा, वत्थसि वा, पडिग्गहसि वा, कम्बलसि वा, पायपुञ्छणसि वा', ये पद मूलमें तो दिये हैं, लेकिन टीकाकारने इन पदोंकी टीका नहीं की है। साथ ही दीपिकाकारने उन पदोंका अर्थ किया है। इससे टीकाकार और दीपिकाकारोंमें परस्पर पाठविषयक मतभेद प्रतीत होता है। उक्त संस्करणके संशोधक विद्वान्ने इसी आशयसे इसपर पादटिप्पणीमें एक यह टिप्पणी कि 'नैतानि व्याख्यातानि टीकायां, दीपिकायां तु व्याख्यातानि' जोड़कर टीकाकार और दीपिकाकारके मतभेद का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है।

उक्त संस्करणके अतिरिक्त श्रीदशवैकालिक सूत्रका एक संस्करण 'भीमसिंह माणिक' की ओरसे भी प्रकाशित हुआ है। उसमें उक्त पद सब दिये हैं और गुजराती भाषामें उन सबका अर्थ भी दिया है †।

† इसी प्रकारका, पाठभेद पहिले भी एक जगह आ चुका है। जैसे कि 'आगमोदयसमिति' द्वारा प्रकाशित

८ उक्त संस्करणोंके अतिरिक्त इस ग्रन्थका एक संस्करण स्वामी रामचन्द्रजीकृत हिन्दीअर्थ सहित भी हुआ है। उसमें 'सीससि वा' और 'घत्थसि वा' पदोंके बीचमें एक 'मुहे मुहप त्तसि वा' पद और छपा हुआ मिलता है। जिसका अर्थ होता है—'मुखपर बँधी हुई मुखपत्तिमें।'

श्रीसंघमें 'मुँहपत्ति' के 'मुखपर बँधी हुई' के अर्थपर थोडासा विवाद है। विवाद मुँहपत्ति की आवश्यकता पर नहीं है मुँहपत्तिकी आवश्यकता तो जीवरक्षाके उद्देश्यसे दोनोंको मान्य है। विवाद केवल 'मुखपर बांधने न बाधने' के विषयमें है। संवेगी साधु मुखपर मुँहपत्ति बाधते नहीं है, हाथमें लिये रहते हैं। केवल बोलते समय उसे मुँहके आड़े लगा लेते हैं। और स्थानकवासी साधु उसे हर समय मुँहपर बाधे ही रहते हैं।

इसी दशवैकालिकसूत्रके तेजस्कायकी रक्षावाले सूत्रमें न भिंदिज्जा, न पभाजिज्जा,' ये दो पद नहीं दिये हैं।

इस तरहके पाठभेदोंका होना अनुचित है। इधर श्रीसंघको अपना लक्ष्य अवश्य देना चाहिये। इसकेलिये एक 'सूत्रमाला' इस प्रकारकी प्रकाशित करनी चाहिये कि जिसमें समस्त प्रतियोंके विभिन्न पाठोंके संकलनके अतिरिक्त उन प्रतियोंके समयोंका भी उसमें उल्लेख हो। तथा सूत्र और पदोंकी संख्या भी निश्चित कर देनी चाहिये, जिससे कि भविष्यमें इनमें कोई घटा-बढ़ी न कर सके।

शतावधानी पण्डित मुनि श्रीरत्नचन्द्रजी स्वामीके बनाये हुए 'जैनागमशब्दसंग्रह'—अर्द्ध-मागधीगुजरातीकोषमें लिखा है—

"मुहणंतक-न० (मुखानन्तक) मुखनु वस्त्र-मुहपत्ति—

मुहपत्ती-स्त्री० (मुखपत्री) मुहपत्ती, मुखवस्त्रिका—

मुहपोत्ति-स्त्री० (मुखपोत्ति) मुखे बांधवानु कपडु मुहपत्ति—

मुहपोत्तिया-स्त्री० (मुखपोत्तिका) मुखवस्त्रिका, मुखे बांधवानु एक वेंतने चार आंगुलनु वस्त्र मुहपत्ति"।

उक्त कथनसे यही सिद्ध होता है कि—मुहपत्तिका अर्थ ही यह है कि—जो मुखपर बांधी जाय।

मूल पाठमें 'मूहे मुहपत्तिसि वा' पाठ यदि न भी होता, जैसा कि कई प्रतियोंमें नहीं भी मिलता है, तो भी काम चल जाता। क्योंकि अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए' पाठसे मुँहपत्ति का ग्रहण किया ही जाता। अस्तु।

इस स्थानपर तो केवल इसी बातका प्रकरण है कि—त्रसकायके जीवोंकी सावधानता पूर्वक रक्षा करनी चाहिये। जिससे प्रथम अहिंसाव्रत सुखपूर्वक पालन किया जा सके॥ १॥ [सूत्र॥ १६॥]

उत्थानिका—सूत्रकार यत्नाधिकारके पश्चात् अब उपदेश देते हैं—

अजय चरमाणो अ (उ), पाणभूयाइ हिंसइ ।
बधइ पावय कम्म, त से होइ कडुअ फल ॥ १ ॥

अयत चरन् च (तु), प्राणिभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापक कर्म, तदस्य भवति कटुक फल ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(अजय) अयत्नसे (चरमाणो) चलता हुआ जीव (**पाणभूयाइ**) प्राणी—द्वीन्द्रियादि जीवों और भूत एकेन्द्रिय जीवोंकी (**हिंसइ**) हिंसा करता है, (**पावय**) ज्ञानावरणादि पाप (**कम्म**) कर्मको (बधइ) बाधता है (**त से**) जिससे फिर (**कडुय फल**) कटुक फल (होइ) होता है ॥ १ ॥

मूलार्थ—अयत्नसे चलता हुआ जीव प्राणिभूतोकी हिंसा करता है और पापकर्मको बाधता है, जिससे फिर उसको कटुक फल प्राप्त होता है ॥ १ ॥

शतावधानी पण्डित मुनि श्रीरत्नचन्द्रजी स्वामीके बनाये हुए 'जैनागमशब्दसंग्रह'—अर्द्ध-मागधीगुजराती कोषमें लिखा है—

"मुहपंतक-न० (मुखानन्तक) मुखनु वस्त्र-मुहपत्ति—

मुहपत्ती-स्त्री०(मुखपत्री) मुहपत्ती, मुखवस्त्रिका—

मुहपोत्ति-स्त्री० (मुखपोत्ति) मुखे बांधवानु कपडु मुहपत्ति—

मुहपोत्तिया-स्त्री० (मुखपोत्तिका) मुखवस्त्रिका, मुखे बांधवानु एक वेंतने चार आगुलनु एक मुहपत्ति"।

उक्त कथनसे यही सिद्ध होता है कि—मुहपत्तिका अर्थ ही यह है कि—जो मुखपर बांधी जाय।

मूल पाठमें 'मुहे मुहपत्तिसि वा' पाठ यदि न भी होता, जैसा कि कई प्रतियोंमें नहीं भी मिलता है; तो भी काम चल जाता। क्योंकि 'अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए' पाठसे मुँहपत्ति का ग्रहण किया ही जाता। अस्तु।

इस स्थानपर तो केवल इसी बातका प्रकरण है कि—त्रसकायके जीवोंकी सावधानता पूर्वक रक्षा करनी चाहिये। जिससे प्रथम अहिंसाव्रत सुखपूर्वक पालन किया जा सके ॥ ६ ॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

शास्त्रप्रमाणानुसार की जाएँगी तो न तो किसी प्रकारका बन्ध होगा और न किसी प्रकारकी शरीर सम्बन्धी बाधा ही उपस्थित होगी, अर्थात् यत्नपूर्वक क्रिया करनेवाले जीव, आत्म-विराधना और पर विराधना, दोनोंसे बच सकते हैं।

गाथाके प्रथम चरणमें जो 'अ' अव्यय है, व्याकरणानुसार उसकी संस्कृतछाया 'च' होती है, यह 'च' और-अर्थमें और पादपूर्तिमें आता है। यहांपर यह दोनों अर्थोंमें घटित हो सकता है। कहीं-कहीं 'अ' की जगह 'उ' भी पाठ सुना आता है। उसकी संस्कृत छाया तीन होती हैं। एक 'उत्', दूसरी 'उ' और तीसरी 'तु'। 'उत्' विपरीत, अभाव, और विशेष अर्थमें; 'उ' उपयोग रखनेके अर्थमें; और 'तु' निश्चय, वितर्क और परन्तु अर्थमें आता है। इनमेंसे यहापर 'परन्तु' अर्थ अच्छा घटता है। इसलिये 'उ' की यहापर 'तु' संस्कृत छाया की गई है।

गाथाके चतुर्थ चरणमें 'तं' अव्यय है। उसकी संस्कृतछाया 'तत्' होती है। 'तत्' वाक्यालंकार और हेतु-अर्थमें आता है। यहांपर उसे हेतु-अर्थमें मानकर ही उसका अर्थ किया गया है। यही अर्थ यहांपर सुघटित होता है।

गाथाके चतुर्थ चरणमें 'तं' के अतिरिक्त एक 'से' अव्यय भी है। अथके स्थानपर उसका

भाष्य— गमनक्रियामें अयत्न करनेका अर्थ–ईर्यासमितिसे नहीं चलनेका है। उपयोगपूर्वक देखभालकर गमन करनेको 'ईर्य्यासमिति' कहते हैं। बिना उपयोगके गमन करनेसे प्राणियोंकी हिंसा हो जाना सहज संभव है। इसलिये सारांश यह निकला कि ईर्य्यासमितिको छोड़कर जो जीव गमन करता है, वह द्वीन्द्रियादि जीवोंकी अथवा उनके प्राणोंकी हिंसा करता है। जिससे कि उसके ज्ञानावरणादि पापकर्मोंका बन्ध होता है। और फिर उस बन्धका कटुक फल उसको प्राप्त होता है।

गाथामें जो 'पाणभूयाइं' पद है, उसके दो अर्थ होते हैं। १– 'पाण'–'प्राणी'—द्वीन्द्रियादि जीव, और 'भूयाइं' स्थावर जीव। २—'पाण'–'प्राण'–इन्द्रिय, बल, आयु आदि प्राण और 'भूयाइं'–स्थावर जीव।

जिस प्रकार इस गाथामें गमनक्रियाके विषयमें उपदेश दिया गया है, उसी प्रकार आगेकी गाथाओंमें भी ठहरने, बैठने, सोने, खाने और बोलने रूप क्रियाओंके विषयमें भी उपदेश दिया गया है। इत्यादि क्रियाओंको अयत्नपूर्वक करनेसे न केवल पापकर्मका बन्ध ही होता है, किन्तु अपने शरीरको कभी कभी भारी हानि हो जाती है। प्रत्येक क्रियाका यत्न–विवेक भिन्न २ प्रकारका होता है। उसकी योजना यथास्थान स्वयं कर लेनी चाहिये। यदि सब क्रियाएं विवेकपूर्वक

मूलार्थ—अयत्नसे चलता हुआ जीव प्राणी और भूतोंकी हिंसा करता है और पापकर्मको बांधता है, जिसको फलरूपसे पीछे उसे कटुक फल प्राप्त होता है ॥ १ ॥

भाष्य—जिस प्रकार गमनक्रिया विना यत्नसे पापकर्मके उपार्जन करनेका एक हेतु बन जाती है, ठीक उसी प्रकार स्थितिक्रिया भी विना यत्नसे की हुई पापकर्मके उपार्जन करनेका कारण बन जाती है। शेष पूर्ववत् ॥ २ ॥

उत्थानिका—सूत्रकार अब बैठनेरूप क्रियाके विषयमें कहते हैं—

अजयं आसमाणो अ, पाणभूयाइ हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥ ३ ॥

अयतमासमानश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म, तदस्य भवति कटुकं फलम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(अजयं) अयत्नसे (आसमाणो) बैठता हुआ (पाणभूयाइं) प्राणी-द्वीन्द्रियादि जीवों और भूत एकेन्द्रिय जीवोंकी (हिंसइ) हिंसा करता है, (पावयं)

निपात होता है। यह 'अथ' किसी प्रकरणके प्रारम्भमें मंगल-अर्थमें, अनन्तर-अर्थमें, प्रश्न-अर्थमें और अधिकार-अर्थमें आता है। प्रकरणानुसार यहांपर 'से' का अर्थ 'अनन्तर' अर्थको घटता है। इसलिये यही अर्थ किया गया है ॥ १ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार गमनक्रियाके प्रतिकूल स्थितिक्रियाके विषयमें कहते हैं—

अजयं चिट्ठमाणो अ, पाणभूयाइ हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥ २ ॥

अयतं तिष्ठमानश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म, तदस्य भवति कटुकं फलम् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(अजयं) अयत्नसे (चिट्ठमाणो) स्थित होता हुआ (पाणभूयाइ) प्राणी—द्वीन्द्रियादि जीवों और भूत—एकेन्द्रिय जीवोंकी (हिंसइ) हिंसा करता है, (पावयं) ज्ञानावरणादि पाप (कम्मं) कर्मको (बंधइ) बांधता है (तं से) अतएव पीछे (कडुयं फलं) कटुक फल (होइ) होता है ॥ २ ॥

प्राणी-द्वीन्द्रियादि जीवों और भूत-एकेन्द्रिय जीवोंकी (हिंसइ) हिंसा करता है, (पावय) ज्ञाना-वरणादि पाप (कम्म) कर्मको (बधइ) बांधता है (त से) अतएव पीछे (कडुय फल) कटुक फल (होइ) होता है ॥ ४ ॥

मूलार्थ – अयत्नसे शयन करता हुआ जीव प्राणी और भूतोंकी हिंसा करता है और पापकर्मको बांधता है, जिसकी वजहसे पीछे उसे कटुक फल प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

भाष्य—सुगम ॥ ४ ॥

उत्थानिका--उसी प्रकार सूत्रकार अब खानेरूप क्रियाके विषयमें कहते हैं—

अजय भुजमाणो अ, पाणभूयाइ हिंसइ ।
बधइ पावय कम्म, त से होइ कडुअ फल ॥ ५ ॥

अयत भुञ्जानश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापक कर्म, तदस्य भवति कटुक फलम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(अजय) अयत्नपूर्वक (भुजमाणो) भोजन करता हुआ

ज्ञानावरणादि पाप (कम्म) कर्मको (बंधइ) बांधता है (तं से) अतएव पीछे (कडुयं फलं) कटुक फल (होइ) होता है ॥ २ ॥

मूलार्थ—अयत्नसे बैठता हुआ जीव प्राणी और भूतोंकी हिंसा करता है और पापकर्मको बांधता है, जिसकी वजहसे पीछे उसे कटुक फल प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

भाष्य—सुगम ॥ ३ ॥

उत्थानिका—उसी तरह सूत्रकार अब शयनक्रियाके विषयमें कहते हैं –

अजयं सयमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥ ४ ॥

अयतं शयानस्तु, प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म, तदस्य भवति कटुकं फलम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(अजयं) अयत्नसे (सयमाणो) शयन करता हुआ (पाणभूयाइं)

प्राणी-द्वीन्द्रियादि जीवों और भूत-एकेन्द्रिय जीवोंकी (हिंसइ) हिंसा करता है, (पावय) ज्ञाना-वरणादि पाप (कम्म) कर्मको (बंधइ) बांधता है (त से) अतएव पीछे (कडुय फल) कटुक फल (होइ) होता है ॥ ४ ॥

मूलार्थ – अयत्नसे शयन करता हुआ जीव प्राणी और भूतोंकी हिंसा करता है और पापकर्मको बांधता है, जिसकी वजहसे पीछे उसे कटुक फल प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

भाष्य—सुगम ॥ ४ ॥

उत्थानिका—उसी प्रकार सूत्रकार अब खानेरूप क्रियाके विषयमें कहते हैं—

अजयं भुंजमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥ ५ ॥

अयतं भुञ्जानश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म, तदस्य भवति कटुकं फलम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(अजयं) अयत्नपूर्वक (भुंजमाणो) भोजन करता हुआ

(पाणभूयाइ) प्राणी-द्वीन्द्रियादि जीवों और भूत—एकेन्द्रिय जीवोंकी (हिंसइ) हिंसा करता है, (पावय) ज्ञानावरणादि पाप (कम्म) कर्मको (बंधइ) बांधता है (त से) अतएव पीछे (कडुय फल) कटुक फल (होइ) होता है ॥ ५ ॥

मूलार्थ—अयत्नसे आहार पानी करता हुआ जीव प्राणी और भूतोंकी हिंसा करता है और पापकर्मको बांधता है, जिसकी वजहसे पीछे उसे कटुक फल प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

भाष्य—यों तो पांचों ही इन्द्रियां जीवको अपने-अपने विषयमें घसीट ले जाती हैं—वशीभूत करती रहती हैं। और इन पांचों ही इन्द्रियोंके वशीभूत हुआ जीव अनेक दुःख इस भवके तथा परभवके प्राप्त करता है। इनमेंसे जिह्वा इन्द्रिय एक बहुत ही प्रबल इन्द्रिय है। इस इन्द्रियके वशीभूत होजानेसे जीव बड़ी भारी गलती कर बैठता है। इसलिये इसका विषय जो भोजन है, उसमें जीवको बड़ी सावधानीसे प्रवृत्ति करनी चाहिये।

भोजन करते समय जीवको यह ख्याल रखना चाहिये कि भोजन शुद्ध और प्रमाणपूर्वक हो। भोजन करते समय साधुको केवल उदरपूर्तिका ध्यान रखना चाहिये स्वादका नहीं। और भोजनको साधु इस तरहसे ग्रहण करे, जिससे कि बादमें उसे झूठे गेरनेकी आवश्यकता न पड़े।

इस तरहसे यत्नपूर्वक आहार ग्रहण करनेवाला साधु कर्मका बन्ध नहीं करता और किसी प्रकारकी शारीरिक बाधाको भी नहीं प्राप्त करता ॥ ५ ॥

उत्थानिका - शास्त्रकार अब भाषाविषयक यत्नाचारका उपदेश करते हैं—

अजयं भासमाणो य, पाणभूयाइ हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥ ६ ॥

अयतं भाषमाणस्तु, प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म, तदस्य भवति कटुकं फलम् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(अजयं) अयत्नपूर्वक (भासमाणो) बोलता हुआ (पाणभूयाइ) प्राणी-द्वीन्द्रियादि जीवों और भूत-एकेन्द्रिय जीवोंकी (हिंसइ) हिंसा करता है, (पावयं) ज्ञानावरणादि पाप (कम्मं) कर्मको (बंधइ) बांधता है (तं से) अतएव पीछे (कडुअं फलं) कटुक फल (होइ) होता है ॥ ६ ॥

मूलार्थ—अयत्नपूर्वक बोलता हुआ जीव प्राणी और भूतोंकी हिंसा करता है और पापकर्मको बांधता है, जिसकी वजहसे पीछे उसे कटुक फल प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भाष्य—इस गाथामें भाषाविषयक उल्लेख किया गया है। जो साधु गृहस्थके समान कठिन और आक्रोशयुक्त वचनका प्रयोग करता है, वह पापकर्मको अवश्यमेव बांधता है, जिसका कि परिणाम उसकेलिये अवश्यमेव दुःखमय होता है। वाणीके घावसे व्यथित हुए प्राणी कभी-कभी अपने पवित्र जीवनसे भी हाथ धो बैठते हैं। अतः वचन बोलते समय अवश्य सावधानी रखनी चाहिये। ताकि कोई वचन ऐसा न निकल जाय जो परपीडाकारक हो। असावधानीसे बोले गये वचनोंसे सत्यकी रक्षा होना कठिन है। तथा वचन-समाधारणासे दर्शनकी विशेष शुद्धि होती है, जिससे आत्मा अध्यात्ममें प्रविष्ट हो जाता है। अतः वचनका प्रयोग बिना यत्नके कदापि न होना चाहिये। जीवोंको जितने कष्ट होते हैं, उनमें अधिकांश कष्ट असावधानी-अयत्नसे बोले गये वचनोंके द्वारा होते हैं॥६॥

उत्थानिका—इस प्रकार गुरुके उपदेशको सुनकर शिष्यने प्रश्न किया कि—जब पाप-कर्मका बन्ध इस प्रकारसे होता है तो फिर क्या करना चाहिये और कैसे वर्तना चाहिये, ताकि पापकर्मका बन्ध न हो—

कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए।
कहं भुंजतो भासतो, पावकम्मं न बंधइ॥७॥

कथं चरेत् कथं तिष्ठेत्, कथमासीत् कथं स्वपेत्।
कथं भुञ्जानो भाषमाणः, पापकर्म न बध्नाति ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(कहं) किस प्रकारसे (चरे) चले ? (कहं) किस प्रकारसे (चिट्ठे) खड़ा हो ? (कहं) किस प्रकारसे (आसे) बैठे ? (कहं) किस प्रकारसे (सए) सोवे ? (कहं) किस प्रकारसे (भुंजतो) भोजन करता हुआ और (भासतो) भाषण करता हुआ (पावकम्मं) पापकर्मको (न बंधइ) नहीं बांधता है ॥ ७ ॥

मूलार्थ—हे भगवन् ! जीव किस प्रकारसे चले ? किस प्रकारसे खड़ा हो ? किस प्रकारसे बैठे ? किस प्रकारसे सोवे ? किस प्रकारसे भोजन करे ? और किस प्रकारसे बोले ? जिससे कि उसे पापकर्मका बन्ध न हो ॥ ७ ॥

भाष्य—चलना-फिरना, उठना-बैठना, सोना-जागना, खाना-पीना आदि क्रियाएं ऐसी हैं कि यदि इन्हें जीव न करे तो मृत्युको प्राप्त हो जाय और यदि करता है तो कर्मका बन्ध होता है। तो फिर क्या किया जाय ? यह बड़ा विकट प्रश्न है। जिसका उत्तर होना अत्यन्त आवश्यक

है। शास्त्रकार इसका उत्तर आगाड़ी स्वयं ही करनेवाले हैं और एक विधि ऐसी बतलानेवाले हैं, जिससे ये क्रियाएं भी होती रहें—जीव मोक्षका भाग भी न बने और पापकर्मका बन्ध भी उसको न हो।

इन उपरोक्त गाथाओंमें 'चरे, चिट्ठे' आदि केवल क्रियापद ही दिये गये हैं, उनके कर्ताका वाचक कोई पद नहीं दिया गया है। व्याकरणका एक नियम है कि जिस क्रियाका कर्ता उपलब्ध न हो उसका कर्ता क्रियाके पुरुषवचनानुरूप ऊपरसे अध्याहृत कर लेना चाहिये। इस नियमके अनुसार गाथाओंके अर्थमें यहांपर प्रथम पुरुषका एक वचनरूप कोई कर्ता अध्याहृत किया जा सकता है। तदनुसार उनका कर्ता 'जीव' मानकर ऊपर गाथाओंका अर्थ लिखा गया है। यद्यपि प्रकरण साधुका है, इसलिये 'साधु' पद ही यहां अध्याहृत होना चाहिये। लेकिन उपदेशका पात्र-अधिकारी जीवमात्र होता है। इसीलिये यहांपर 'जीव' ही उक्त क्रियाओंका कर्ता मानकर उक्त गाथाओं का अर्थ किया गया है ॥ ७ ॥

उत्थानिका—अब शास्त्रकार उक्त प्रश्नोंके उत्तर देते हैं—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जयं भुजंतो भासतो, पावकम्मं न बंधइ ॥ ८ ॥

यत चरेत् यत तिष्ठेत्, यतमासीत् यत स्वपेत्।
यतं भुञ्जान भापमाणः, पापकर्म न बध्नाति ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(जय) यत्नपूर्वक (चरे) चले (जय) यत्नपूर्वक (चिट्ठे) खडा होवे (जय) यत्नपूर्वक (आसे) बैठे (जय) यत्नपूर्वक (सए) सोवे (जय) यत्नपूर्वक (भुजंतो) भोजन करता हुआ और (भासतो) भाषण करता हुआ (पावकम्म) पापकर्मको (न बंधइ) नहीं बांधता है ॥ ८ ॥

मूलार्थ—जीव यत्नपूर्वक चले, यत्नपूर्वक खडा होवे, यत्नपूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक सोवे, यत्नपूर्वक भोजन करे और यत्नपूर्वक भाषण करे तो वह पापकर्मको नहीं बांधता है ॥ ८ ॥

भाष्य— पूर्व गाथाओंमें शिष्यने जिस क्रमसे प्रश्न किये हैं, शास्त्रकारने इन गाथाओंमें उसी क्रमसे उनका उत्तर दिया है। उनका आशय यह है—

प्रश्न—हे भगवन्! चलना किस प्रकार चाहिये?

उत्तर-हे शिष्य! सूत्रोक्त विधिसे-ईर्यासमिति यत्नसे-पूर्वक चलना चाहिये।

प्रश्न—हे भगवन्! खडा किस प्रकार होना चाहिये?

उत्तर-हे शिष्य ! यत्नपूर्वक—समाहितहस्तपादादि—अविक्षेपताके साथ खड़ा होना चाहिये।

प्रश्न—हे भगवन् ! बैठना किस प्रकार चाहिये ?

उत्तर-हे शिष्य ! यत्नपूर्वक—आकुञ्चनादिसे रहित होकर बैठना चाहिये ।

प्रश्न—हे भगवन् ! शयन किस प्रकार करना चाहिये ?

उत्तर-हे शिष्य ! समाधिमान होकर प्रकाम शय्यादिका परित्याग कर फिर रात्रिकी प्रथम पौरुषीमें स्वाध्यायादि करके पश्चात् यत्नपूर्वक शयन करना चाहिये ।

प्रश्न—हे भगवन् ! भोजन किसप्रकार करना चाहिये ?

उत्तर-हे शिष्य ! प्रयोजनके उपस्थित होजानेपर अप्रणीत आहार यत्नपूर्वक खाना चाहिये, किन्तु प्रतरसिंह भक्षितादि भोजन अक्षवृत्ति करनेवाला न करना चाहिये ।

प्रश्न—हे भगवन् ! भाषण किस प्रकार करना चाहिये ?

उत्तर-हे शिष्य ! साधु भाषासे मृदु और काल मास जानकर यत्नपूर्वक भाषण करना चाहिये । अर्थात् समयको जानकर मृदुभाषी बनना चाहिये ।

प्रश्न--हे भगवन् ! पापकर्मका बन्ध किस प्रकारसे प्रवृत्ति करनेपर नहीं होता ?

उत्तर-हे शिष्य ! यत्नपूर्वक क्रियाओंके करनेसे आत्मा पापकर्मका बन्ध नहीं करता ।

सारांश यह कि यत्नपूर्वक यदि क्रियाएं की जायँ तब आत्मा पापकर्मका बन्ध नहीं करता। और अयत्नपूर्वक क्रियाएँ यदि की जायँ तो पापकर्मका बन्ध अवश्यमेव होता है ॥ ८ ॥

उत्थानिका—अब शास्त्रकार पूर्वोक्त विषयको ही दृढ करते हैं—

सव्वभूयप्पभूअस्स, सम्म भूयाइ पासओ ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावकम्म न बंधइ ॥ ९ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य, सम्यक् भूतानि पश्यतः ।
पिहितास्रवस्य दान्तस्य, पापकर्म न बध्यते ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(सव्वभूयप्पभूयस्स) सब जीवोंको अपने समान जाननेवालेके (सम्म भूयाइ पासओ) सम्यग् प्रकारसे सब जीवोंको देखनेवालेके (पिहियासवस्स) सब प्रकारके आश्रवोंका निरोध करनेवालेके और (दंतस्स) पाचों इन्द्रियोंके दमन करनेवालेके (पावकम्म) पापकर्म (न बंधइ) नहीं बँधता ॥ ९ ॥

मूलार्थ—जो जगत्के जीवोंको अपने समान समझता हो, जो जगत्के जीवोंको भले प्रकार

देखता हो, कर्मोंके आनेके मार्गको जिसने रोक दिया हो, और जो इन्द्रियोंका दमन करनेवाला हो, ऐसे साधुको पापकर्मका बन्ध नहीं होता ॥ ९ ॥

भाष्य—जो मुनि अपनी आत्माके समान अनन्तशक्तिशाली, दुःखभीरु और सुखाभिलाषी संपूर्ण जीवोंकी आत्माको समझता है, जो मुनि जीवोंके स्वरूपको उसी प्रकार देखता है जिस प्रकार कि श्रीसर्वज्ञ भगवान्‌ने कहा है; जिस मुनिने पांचों इन्द्रियों और मनको अपने वशमें कर लिया है और जिस मुनिने क्रोध मान-माया-लोभ रूप कषायोंको एवं प्राणातिपातादि रूप आश्रव को—कर्मोंके आनेके मार्गको शुभ भावनाओं द्वारा रोक दिया है, उसके पापकर्मोंका बन्ध नहीं होता। अतः उसको मोक्ष प्राप्त कर लेना स्वाभाविक है।

यहांपर यह शङ्का की जा सकती है कि मोक्ष तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र, इन तीनोंकी एकतासे मिलती है। जैसा कि शास्त्रोंमें वर्णन है कि 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।' तो फिर उपरोक्तसे—केवल चारित्रसे मोक्ष कैसे मिल सकती है? इसका समाधान यह है कि—ठीक है सम्यग्ज्ञान ...

भूतस्य' पदसे सम्यग्ज्ञानका, 'सम्म भूयाइ पासओ'- 'सम्यग्भूतानि पश्यतः' पदसे सम्यग्दर्शनका और 'पिहियासवस्स दतस्स'—'पिहिताश्रवस्य दान्तस्य' पदसे सम्यक्चारित्रका यहांपर निरूपण किया गया है।

शास्त्रकारने जिस प्रकार उपरोक्त गाथाके तीन चरणोंसे तीनों उपायोंको बतलाया है, उसी प्रकार चौथे चरणसे उक्त तीनों उपायोंका फल जो मोक्षप्राप्ति है, उसका भी वर्णन कर दिया है। यथा 'पावकम्मं न बंधइ'—'पापकर्म न बध्नाति'।

यहांपर यह शङ्का की जा सकती है कि चौथे चरणमें तो यह बतलाया है कि उसके केवल पापकर्मका बन्ध नहीं होता। लेकिन इससे पुण्यकर्मके बन्धका निषेध नहीं होता। जब तक आत्माके पुण्यकर्मका बन्ध होता है तबतक उसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। स्वर्गादिकी प्राप्ति भले ही हो जाय। इसलिये गाथाके चौथे चरणमें मोक्षकी प्राप्तिका वर्णन कहां हुआ ? इसका समाधान यह है कि शुद्ध-आत्माकेलिये पाप जितना हानिकर है, पुण्य भी उतना ही हानिकर है। पाप लोहेकी बेड़ियां हैं तो पुण्य सुवर्णकी बेड़ियां हैं। बेड़ियां दोनों हैं। शुद्ध आत्माकी दृष्टिसे-शुद्ध निश्चयनयसे-अमल आत्माकी अपेक्षा पाप तो पाप है ही, पुण्य भी पाप ही है। क्योंकि आत्माको सिवाय अपने स्वरूपके

देखता हो, कर्मोंके आनेके मार्गको जिसने रोक दिया हो, और जो इन्द्रियोंका दमन करनेवाला हो, ऐसे साधुको पापकर्मका बन्ध नहीं होता ॥ ९ ॥

भाष्य—जो मुनि अपनी आत्माके समान अनन्तशक्तिशाली, दुःखभीरु और सुखाभिलाषी संपूर्ण जीवोंकी आत्माको समझता है, जो मुनि जीवोंके स्वरूपको उसी प्रकार देखता है जिस प्रकार कि श्रीसर्वज्ञ भगवान्‌ने कहा है, जिस मुनिने पांचों इन्द्रियों और मनको अपने वशमें कर लिया है और जिस मुनिने क्रोध मान-माया-लोभ रूप कषायोंको एवं प्राणातिपातादि रूप आश्रव की—कर्मोंके आनेके मार्गको शुभ भावनाओं द्वारा रोक दिया है, उसके पापकर्मोंका बन्ध नहीं होता। अतः उसको मोक्ष प्राप्त कर लेना स्वाभाविक है।

यहांपर यह शङ्का की जा सकती है कि मोक्ष तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र, इन तीनोंकी एकतासे मिलती है। जैसा कि शास्त्रोंमें वर्णन है कि 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।' तो फिर उपरोक्तसे—केवल चारित्रसे मोक्ष कैसे मिल सकती है? इसका समाधान यह है कि—ठीक है, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्‌चारित्रसे ही मोक्ष प्राप्त होती है। उपरोक्त गाथामें भी तो इन्हीं तीनोंका वर्णन है। देखिए 'सव्वभूयप्पभूयस्स'—'सर्वभूतात्म

अन्वयार्थ—(पढम) प्रथम (नाण) ज्ञान (तओ) तब (दया) दया है, (एव) इस प्रकार—ज्ञानपूर्वक दया करनेसे (सव्वसजए) सब संयत (चिट्ठइ) ठहरा हुआ है, (अन्नाणी) अज्ञानी (किं काही ?) क्या करेगा ? (किं वा) और क्या (छेयपावग) पुण्य और पापको (नाही ?) जानेगा ? ॥ १० ॥

मूलार्थ—पहिले ज्ञान है, पीछे दया है। इसी प्रकारसे सब संयतवर्ग स्थित है अर्थात् मानता है। अज्ञानी क्या करेगा ? और पुण्य और पापके मार्गको वह क्या जानेगा ? ॥ १० ॥

भाष्य—इस गाथामें ज्ञानका माहात्म्य दिखलाया गया है। और क्रियाको अन्धरूप कहा गया है। ठीक भी है। क्योंकि जीव जब जीवाजीवके स्वरूपको जानेगा ही नहीं तो फिर दया करेगा किसकी ? अज्ञानी आत्मा जब साध्यके उपायको जानेगा ही नहीं तो फिर उसको सिद्ध किस प्रकार कर सकेगा ? नहीं कर सकेगा। वह सर्वत्र अन्धतुल्य होनेसे प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप मार्गमें तत्पर ही नहीं हो सकता। अज्ञानी जीव न मोक्षके मार्गको जान सकता है, न पापके मार्गको। जब वह जिन बातोंसे अनभिज्ञता रखता है तो भला फिर उनमें वह प्रवृत्ति या निवृत्ति किस प्रकारसे कर सकेगा ? अतएव वह अन्धप्रदीप्तपलायनघुणाक्षरकरणवत् कुछ भी नहीं कर सकता।

और सब 'हेय' हैं। यहांपर 'हेय' अर्थमें ही 'पाप' शब्द आया हुआ है। 'पापकर्म' में 'पाप' शब्दको 'कर्म' का विशेषण न समझना चाहिये। बल्कि यहांपर ये दोनों एक अर्थकेही बोधक हैं। और उनका समास 'पाप एव कर्म इति पापकर्म' करना चाहिये। अथवा उपलक्षणसे यहांपर पापके साथ पुण्यका भी ग्रहण कर लेना चाहिये। जैसा कि 'वीतराग' शब्दमें 'राग' शब्दसे 'द्वेष' भी ग्रहण कर लिया जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि उक्त गाथाका चौथा चरण मोक्षप्राप्तिका वर्णन करनेवाला है।

इस तरहसे उक्त गाथामें त्रयात्मक मोक्ष पथका प्रतिपादन किया गया है। आत्माको उसे प्राप्त करनेकेलिये पुरुषार्थ करना चाहिये ॥ ९ ॥

उत्थानिका—प्रायः लोग शंका किया करते हैं कि दया ही केवल पापकर्मके बन्धको रोक देती है। तब दया ही करना चाहिये। ज्ञानाभ्यासके झंझटमें जीवको क्यों पडना चाहिये ? इसके लिये शास्त्रकार कहते हैं—

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही ?, किं वा नाही सेयपावगं ? ॥ १० ॥

प्रथमं ज्ञानं ततो दया, एवं तिष्ठति सर्वसंयतः ।
अज्ञानी किं करिष्यति ? किं वा ज्ञास्यति श्रेयःपापकम् ? ॥ १० ॥

उत्थानिका—सूत्रकार फिर भी उसी विषयको दृढ करते हैं—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ॥ ११ ॥

श्रुत्वा जानाति कल्याणं, श्रुत्वा जानाति पापकम् ।
उभयमपि जानाति श्रुत्वा, यत् श्रेयस्तत् समाचरेत् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(**सोच्चा**) सुनकर ही (**कल्लाणं**) कल्याणको (**जाणइ**) जानता है, (**सोच्चा**) सुनकर ही (**पावगं**) पापको (**जाणइ**) जानता है और (**सोच्चा**) सुनकर ही (**उभयं पि**) दोनोंको (**जाणइ**) जानता है, (**जं**) जो (**सेयं**) हितकारी हो (**तं**) उसे (**समायरे**) ग्रहण करे ॥ ११ ॥

मूलार्थ—मनुष्य सिद्धान्तको सुनकर ही कल्याणकारी कर्मको जानता है, सुनकर ही पापकारी कर्मको जानता है और सुनकर ही पुण्य-पापको पहचानता है। और तभी उसमेंसे जो आत्माका हितकारी मार्ग है, उसे वह ग्रहण करता है ॥ ११ ॥

अतः सिद्ध हुआ कि—ज्ञानका अभ्यास अवश्यमेव करना चाहिये। तभी सम्यक्चारित्र हो सकता है।

ज्ञान स्व और परका प्रकाशक है। क्रिया—दयारूप क्रिया कर्मोंके नष्ट करनेमें समर्थ है। अतः यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानपूर्वक की गई क्रिया ही मोक्षकी साधक है। और यही क्रिया चारित्र कहलाती है। क्योंकि सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रका कारण बतलाया गया है।

गाथाके दूसरे चरणमें जो 'चिट्ठइ' पद है। यह 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' से बना है। और यह वर्तमानकालके प्रथम पुरुषका एक वचन है। उसका अर्थ वास्तवमें 'ठहरता है ठहरा है, ठहरा हुआ है,' यही होता है। और जब, 'समस्त संयतवर्ग इसी सिद्धान्तपर ठहरा हुआ है,' यह अर्थ हुआ तो उसका तात्पर्य यही तो हुआ कि 'इस प्रकार सब संयतवर्ग मानता है' इसीलिये मूलार्थमें वैसा लिखा गया है।

गाथाके 'सेयपावगं' की जगह 'छेयपावगं' पाठ भी कहीं-कहीं मिलता है। 'छेय'—'छेक' शब्दके तीन अर्थ हैं—'छेकं-निपुण हितं कालोचितम्' निपुण, हित और समयोचित। प्रकरणा नुसार यहांपर उसका 'हित' अर्थ ग्रहण करना चाहिये ॥ १० ॥

उत्थानिका—शास्त्रकार फिर भी उसी विषयमें कहते हैं—

जो जीवे वि न याणेइ, अजीवे वि न याणइ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं ? ॥ १२ ॥

यो जीवानपि न जानाति, अजीवानपि न जानाति।
जीवाजीवानजानन्, कथमसौ ज्ञास्यति संयमम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (जीवे वि) जीवको (न याणेइ) नहीं जानता और (अजीवे वि) अजीवको भी (न याणइ) नहीं जानता (जीवाजीवे) जीव और अजीवको (अयाणंतो) न जानता हुआ (सो) वह (संजमं) संयमको (कहं) किस प्रकार (नाहीइ) जानेगा ? ॥ १२ ॥

मूलार्थ—जो न तो जीव पदार्थको जानता है और न अजीव पदार्थको। जो जीव जीवाजीवको नहीं जानता, वह संयमको किस प्रकार जान सकेगा ? ॥ १२ ॥

भाष्य—इस गाथामें इस भावका प्रकाश किया गया है कि—श्रुतज्ञान ही परमोपकारी है। क्योंकि सुनकर ही जीव मोक्षके स्वरूपको जानता है और सुनकर ही जीव पाप (संसार) के स्वरूपको जानता है तथा संयमासंयमरूप श्रावकधर्मको भी जीव सुनकर ही जानता है। फिर जो उसको हितकारी प्रतीत होता है, उसे वह ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य यह कि—श्रुतधर्म सर्वोत्कृष्ट है। अतएव श्रवण करना प्रत्येक व्यक्तिका मुख्य कर्तव्य होना चाहिये।

इस गाथासे यह भी ध्वनि निकलती है कि—जो पढ़ नहीं सकता, उसे शास्त्रश्रवण अवश्य करना चाहिये।

गाथाके चतुर्थ चरणसे धर्मादि क्रियाओंमें जीवकी स्वतन्त्रता सिद्ध की गई है। इसीलिये शास्त्रकारने यह कथन किया है कि—जो उसे योग्य हो, उसीका वह समाचरण करे।

'कल्याण'[1] अर्थात् दया से संयमवृत्ति, 'पाप' से असंयमवृत्ति, उभयसे संयमासंयमरूप श्रावकवृत्ति, इस तरह इन तीनों वृत्तियोंका यहां निर्देश किया गया है। इनमेंसे अपनी शक्तिके अनुसार जिसको जो उपादेय प्रतीत हो, उसे वह ग्रहण करे ॥ ११ ॥

---

[1] 'कल्याण' शब्दका इसका ग्रहण इसलिये किया गया है कि—दया कल्याण—मोक्ष पहुंचाती है। तथा चाहाप्यत— 'कल्याणं'—कल्यो मोक्षमामयति प्रापयतीति कल्याणं दयास्वरूपसंयमस्वरूपम्।

यो जीवानपि विजानाति, अजीवानपि विजानाति ।

जीवाजीवान् विजानन्, स एव ज्ञास्यति संयमम् ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (जीवे वि) जीवको भी (वियाणेइ) जानता है, (अजीवे वि) अजीवको भी (वियाणइ) जानता है, (जीवाजीवे) जीव और अजीवको (वियाणंतो) जानता हुआ (सो) वह (संजमं) संयमको (हु) निश्चयसे (नाहीइ) जानेगा ॥ १३ ॥

मूलार्थ—जो जीव जीवके, अजीवके और जीवाजीवके स्वरूपको जानता है, वही जीव वास्तवमें संयमके स्वरूपको जान सकेगा ॥ १३ ॥

भाष्य— 'संयम' शब्दका अर्थ आश्रवका निरोध है सो जब आश्रवका निरोध किया गया तब आत्मा निराश्रवी होकर मोक्षपदकी प्राप्ति कर लेता है परन्तु स्मृति रहे कि—यावत्काल पर्यन्त जीव जीवाजीवके स्वरूपको सम्यक्तया जान नहीं लेता, तावत्काल पर्य्यन्त सर्वथा आश्रवका निरोध भी नहीं किया जा सकता। अतएव ज्ञानाभ्यास अवश्यमेव करना चाहिये, जिससे फिर क्रमसे निर्वाणपद प्राप्त किया जा सके ॥ १३ ॥

भाष्य—यहां यदि यह कहा जाय कि उक्त गाथाके प्रथम चरणमें 'जीव' को ग्रहण है और दूसरे चरणमें 'अजीव' का ग्रहण है। इस तरह जब दोनोंका ग्रहण हो ही गया तो फिर तीसरे चरणमें 'जीवाजीव' क्यों ग्रहण किया है? इसका समाधान यह है कि पहिले चरणके 'जीवे' पदसे यहांपर केवल शुद्ध जीव अर्थात् मोक्षात्माका ग्रहण करना चाहिये। और दूसरे चरणके 'अजीवे' पदसे धर्मास्तिकायादिका ग्रहण करना चाहिये। ये दोनों शब्द शुद्ध जीव और शुद्ध अजीवके बोधक हैं, जो कि परद्रव्यसे सर्वथा अलिप्त हैं। तीसरे चरणके 'जीवाजीवे' पदसे संसारी जीवका, जो कि पुद्गल द्रव्यकी वर्गणाओंसे लिप्त–मिश्रित हो रहा है, ग्रहण करना चाहिये † ॥ १२ ॥

उत्थानिका—तब फिर संयमको कौन जान सकता है? इसका उत्तर शास्त्रकार अगाडीकी गाथासे करते हैं—

जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥ १३ ॥

† 'जीवशब्देन सिद्धा उक्ताः, अजीवशब्देन धर्मास्तिकायादयः पञ्चोक्ताः जीवाजीवशब्देन संसारवासिनः सर्वे चतुरशीतिलक्षयोनिस्था उक्ताः ।' —अवचूरिप्रकरणम् ।

यो जीवानपि विजानाति, अजीवानपि विजानाति ।
जीवाजीवान् विजानन्, स एव ज्ञास्यति सयमम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(**जो**) जो (**जीवे वि**) जीवको भी (**वियाणेइ**) जानता है, (**अजीवे वि**) अजीवको भी (**वियाणइ**) जानता है, (**जीवाजीवे**) जीव और अजीवको (**वियाणतो**) जानता हुआ (**सो**) वह (**सजम**) सयमको (**हु**) निश्चयसे (**नाहीइ**) जानेगा ॥ १२ ॥

मूलार्थ—जो जीव जीवके, अजीवके और जीवाजीवके स्वरूपको जानता है, वही जीव वास्तवमें सयमके स्वरूपको जान सकेगा ॥ १२ ॥

भाष्य— 'सयम' शब्दका अर्थ आश्रवका निरोध है सो जब आश्रवका निरोध किया गया तब आत्मा निराश्रवी होकर मोक्षपदकी प्राप्ति कर लेता है परन्तु स्मृति रहे कि—यावत्काल पर्यन्त जीव जीवाजीवके स्वरूपको सम्यक्तया जान नहीं लेता, तावत्काल पर्य्यन्त सर्वथा आश्रवका निरोध भी नहीं किया जा सकता। अतएव ज्ञानाभ्यास अवश्यमेव करना चाहिये, जिससे फिर क्रमसे निर्वाणपद प्राप्त किया जा सके ॥ १३ ॥

उत्थानिका—ज्ञानका माहात्म्य बतलाकर शास्त्रकार अब ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली फल-परम्पराका वर्णन करते हैं†—

जया जीवमजीवे अ, दोऽवि एए वियाणइ ।
तया गइ बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥ १४ ॥

यदा जीवानजीवांश्च, द्वावप्येतौ विजानाति ।
तदा गतिं बहुविधां, सर्वजीवानां जानाति ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(जया) जिस समय (जीवमजीवे अ) जीव और अजीव (एए) इन (दोऽवि) दोनोंको (वियाणइ) जान लेता है (तया) उस समय (सव्वजीवाण) सब जीवोंकी (बहुविहं) बहु भेदवाली (गइ) गतिको (जाणइ) जान लेता है ॥ १४ ॥

मूलार्थ—जिस समय जीव, जीव और अजीव, इन दोनोंको जान लेता है, उस समय वह सब जीवोंकी बहु भेदवाली गतिको भी जान लेता है ॥ १४ ॥

---

† टीकामें इससे पहलेको 'ज्ञान स्वरूपाधिकार' और इससे आगेको 'धर्मफलाधिकार' कहा गया है।

भाष्य   यहां यह शङ्का की जा सकती है कि नारक, तिर्यञ्च, मानुष और देव, गतियां तो ये ही चार शास्त्रोंमें वर्णन की गई हैं। तो यहांपर 'गइ बहुविह' अर्थात् 'बहुत प्रकारकी गतियां' ऐसा क्यों कहा ? इसका समाधान यह है कि वास्तवमें मूल गतियां तो चार ही हैं, लेकिन तिर्यग्गतिमें रहनेवाले पांच स्थावरोंके उत्पत्तिस्थान असंख्यात हैं तथा इनकी उत्पत्ति असंख्यात लोकमें होती है। इस अपेक्षासे इस जगह गतिको बहुभेदवाली लिखा है। अर्थात् उत्तरभेदोंके सम्मिलित कर लेनेपर गतियां असंख्यात मानी जा सकती हैं ॥ १४ ॥

उत्थानिका—जीवाजीवके स्वरूपको जान लेनेका फल गतियोंका जान लेना है। तो फिर गति जान लेनेका क्या फल है ? सो शास्त्रकार कहते हैं—

जया गइ बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ।
तया पुरणं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ ॥ १५ ॥

यदा गतिं बहुविधां, सर्वजीवानां जानाति ।
तदा पुण्यं च पापं च, बन्धं मोक्षं च जानाति ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(जया सव्वजीवाण बहुविहं गइं जाणइ) जिस समय सर्व जीवोंकी बहुभेदवाली गतिको जान लेता है, (तया) उस समय (पुण्णं च पावं च) पुण्य और पापको तथा (बंधं च मुक्खं च) बंध और मोक्षको भी (जाणइ) जान लेता है ॥ १५ ॥

मूलार्थ—जिस समय जीव, सब जीवोंकी बहु भेदवाली गतिको जान लेता है, उस समय वह पुण्य और पाप तथा बन्ध और मोक्षके स्वरूपको भी जान लेता है ॥ १५ ॥

भाष्य—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप, जैनशासनमें ये नव तत्त्व हैं। इनमेंसे जीव और अजीव, ये दो मूल तत्त्व हैं, शेष सात तत्त्व इन दोनोंकी संयोग वियोगरूप अवस्था, उसके तारतम्य तथा कारणकी अपेक्षासे निष्पन्न होते हैं। तथा च—

जिस प्रकार लोहपिण्डमें अग्नि प्रविष्ट हो जाती है, अथवा गर्म लोहपिण्डमें, यदि वह जलमें पटक दिया जाय तो जिस प्रकार उसके अन्दर पानी समा जाता है, अथवा जिस प्रकार दूधमें पानी एकमेक हो जाता है; अथवा जिस प्रकार गर्म कुल्फीको चाशनीमें डाल देनेपर उसके अन्दर चाशनी प्रविष्ट हो जाती है, उसी प्रकार कषायसहित हो जानेपर आत्मामें कर्म प्रविष्ट हो जाते हैं। यही 'बन्ध तत्त्व' कहलाता है।

कर्म जिस मार्गसे—जिस कारणसे आत्मामें आते हैं, उस कर्मागम द्वारको शास्त्रमें 'आस्रव तत्त्व' कहा गया है।

जब जीव अपने मन-वचन-कायके निरोधसे कर्मोंके आगमनको रोकने लगता है, तब वही 'संवर तत्त्व' कहलाता है।

जितने समयकेलिये कर्म आत्मासे बँधते हैं, उतने समयके बीत आनेपर जब वे कर्म आत्मासे अलग होने लगते हैं, कर्मोंकी उस अवस्थाको 'निर्जरा तत्त्व' कहते हैं।

संवर और निर्जरा होते होते आत्मा जब बिल्कुल असित—नीरजस्क—परिशुद्ध हो जाता है, आत्माकी यह अवस्थाविशेष 'मोक्ष तत्त्व' कहलाती है।

आत्माकी यह मोक्षदशा बन्धदशासे सर्वथा प्रतिकूल है। आत्माका जब बन्ध होता है, तब उसकी मोक्ष अवश्य ही होगी। 'संयुक्तानां वियोगश्च भविता हि नियोगतः' अर्थात् जिन दो पदार्थोंका संयोग हुआ है, उनका वियोग होना अवश्यभावी है ॥ १५ ॥

उत्थानिका--पुण्य और पाप तथा बन्ध और मोक्षके जान लेनेसे जीवको फिर क्या फल प्राप्त होता है? सो कहते हैं—

जया पुण्णं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ ।
तया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे अ माणुसे ॥ १६ ॥

यदा पुण्यं च पापं च, बन्धं मोक्षं च जानाति ।
तदा निर्विन्दते भोगान्, यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(जया पुण्णं च पावं च बंधं मुक्खं च जाणइ) जिस समय पुण्य और पाप तथा बन्ध और मोक्षको जान लेता है, **(तया)** उस समय **(जे)** जो **(दिव्वे)** देवोंके **(जे अ)** और जो **(माणुसे)** मनुष्योंके **(भोए)** भोग हैं, उनको **(निव्विदए)** जान लेता है—उनसे विरक्त हो जाता है ॥ १६ ॥

मूलार्थ—जिस समय जीव, पुण्य और पापको तथा बन्ध और मोक्षको जान लेता है, उस समय वह देव और मनुष्योंके भोगने योग्य भोगोंको जान लेता है अर्थात् उनसे विरक्त हो जाता है ॥ १६ ॥

भाष्य— इस गाथामें ज्ञानका सार चारित्र बतलाया गया है। जैसे कि—जिस समय

आत्मा पुण्य और पाप तथा बन्ध और मोक्ष, इनके स्वरूपको जान लेता है, तब वह आत्मा जो देवोंके कामभोग हैं या जो मनुष्योंके कामभोग हैं, उनसे विरक्त हो जाता है। कारण कि—फिर वह आत्मा ज्ञानद्वारा उन भोगोंको पापकर्मके बन्ध करनेवाले मानने लग जाता है। और फिर उनसे वह छूट जानेकी बुद्धि करता है। जैसे कि—कोई सम्यग् विचारवाला व्यक्ति मृत्युके लिये। विषभक्षण नहीं करता तथा बालू आदि असार पदार्थोंका संग्रह नहीं करता। ठीक उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा विषयविकारोंसे अपने आत्माको पृथक् कर लेता है। क्योंकि फिर वह उन भोगोंको दुःखप्रद समझने लग जाता है ॥ १६ ॥

उत्थानिका--दिव्य और मानवीय भोगोंसे विरक्त हो जानेके अनन्तर जीव क्या करता है ' सो कहते हैं—

जया निव्विंदए भोए, जे दिव्वे जे अ माणुसे ।
तया चयइ संजोग, सब्भिंतरबाहिर ॥ १७ ॥

यदा निर्विन्दते भोगान्, यान् दिव्यान् याँश्च मानुषान् ।
तदा त्यजति संयोगं, साभ्यन्तरबाह्यम् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(जया जे दिव्वे अ माणुसे भोए निव्विंदए) जिस समय
दिव्य और मानवीय भोगोंसे विरक्त हो जाता है, (तया) उस समय (सब्भिंतरबाहिर)
आभ्यन्तर और बाहिरके (संजोग) संयोगको (चयइ) छोड़ देता है ॥ १७ ॥

मूलार्थ—जिस समय जीव, दिव्य और मानवीय भोगोंसे विरक्त हो जाता है, उस समय
वह आन्तरिक और बाह्य संयोगका परित्याग कर देता है ॥ १७ ॥

भाष्य—यहांपर अन्तरङ्ग संयोग क्रोध-मान माया-लोभ और बाह्य संयोग माता-पिता
आदिका संबन्ध ग्रहण करना चाहिये। ये संयोग ही वास्तवमें जीवको बन्धनमें डाले हुए हैं।
और उसकेलिये अनेक दुःखोंके कारण बने हुए हैं।

हां! यहांपर इस बातका ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि संयोग दो तरहके होते हैं। एक
प्रशस्त और दूसरा अप्रशस्त। इनमेंसे अप्रशस्त संयोगोंको छोड़कर जीवको प्रशस्त संयोग ग्रहण
करना चाहिये ॥ १७ ॥

उत्थानिका—बाह्याभ्यन्तर संयोगोंको त्याग देनेके बाद जीव फिर क्या करता है' सो
कहते हैं—

जया चयइ सजोग, सब्भिंतरबाहिर ।
तया मुडे भवित्ताण, पव्वइए अणगारियं ॥ १८ ॥

यदा त्यजति संयोगं, साभ्यन्तरबाह्यम् ।
तदा मुण्डो भूत्वा, प्रव्रजति अनगारम् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(जया सब्भिंतरबाहिर सजोग चयइ) जिस समय बाह्य और अन्तरङ्ग संयोगको छोड देता है, (तया) उस समय (मुडे भवित्ताण) मुण्डित होकर (अणगारियं) अनगारवृत्तिको (पव्वइए) ग्रहण करता है ॥ १८ ॥

मूलार्थ—जिस समय जीव बाह्य और अन्तरङ्ग संयोगको छोड देता है, उस समय वह द्रव्य और भावसे मुण्डित होकर अनगार वृत्तिको प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

भाष्य—मुण्डन दो प्रकारका होता है। एक द्रव्यमुण्डन और दूसरा भावमुण्डन। केश लुञ्चनादि द्रव्यमुण्डन है और इन्द्रियनिग्रहादि भावमुण्डन है।

अन्वयार्थ—(जया जे दिव्वे जे अ माणुसे भोए निव्विंदए) जिस समय दिव्य और मानवीय भोगोंसे विरक्त हो जाता है, (तया) उस समय (सब्भिंतरबाहिरं) अभ्यन्तर और बाहिरके (संजोगं) संयोगको (चयइ) छोड़ देता है ॥ १७ ॥

मूलार्थ—जिस समय जीव, दिव्य और मानवीय भोगोंसे विरक्त हो जाता है, उस समय वह आन्तरिक और बाह्य संयोगका परित्याग कर देता है ॥ १७ ॥

भाष्य—यहांपर अभ्यन्तर संयोग क्रोध-मान माया-लोभ और बाह्य संयोग माता-पिता आदिका संबन्ध ग्रहण करना चाहिये। ये संयोग ही वास्तवमें जीवको बन्धनमें डाले हुए हैं। और उसकेलिये अनेक दुःखोंके कारण बने हुए हैं।

हां! यहांपर इस बातका ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि संयोग दो तरहके होते हैं। एक प्रशस्त और दूसरा अप्रशस्त। इनमेंसे अप्रशस्त संयोगोंको छोड़कर जीवको प्रशस्त संयोग ग्रहण करना चाहिये ॥ १७ ॥

उत्थानिका—बाह्याभ्यन्तर संयोगोंको त्याग देनेके बाद जीव फिर क्या करता है? सो कहते हैं—

मुण्डित होकर अनगार भावको प्राप्त हो जाता है, (तया) उस समय (उक्किट्ठ संवर) उत्कृष्ट संवर (अणुत्तर) सबसे श्रेष्ठ (धम्म) धर्मको (फासे) स्पर्शित करता है ॥ १९ ॥

मूलार्थ– जिस समय जीव, मुण्डित होकर साधुवृत्तिको ग्रहण कर लेता है, उस समय वह उत्कृष्ट संयम और अनुपम धर्मको स्पर्शित करता है ॥ १९ ॥

भाष्य—गाथाके उत्तरार्द्धमें आये हुए 'उक्किट्ठ' को 'संवर' का और 'अणुत्तर' को 'धम्म' का विशेषण मानकर ऊपर अर्थ किया गया है। लेकिन 'उक्किट्ठं' और 'अणुत्तर', इन दोनों पदोंको 'संवर' का विशेषण करके उसे फिर 'धम्म' का विशेषण भी किया जा सकता है। उस समय उत्तरार्द्धका अर्थ होगा—'सबसे श्रेष्ठ और उत्कृष्ट संवररूप धर्मको जीव उस समय स्पर्शित करता है।'

होनेको तो गृहस्थावस्थामें भी संवर हो सकता है, लेकिन वास्तवमें उत्कृष्टरूपसे वह साधु अवस्थामें ही होता है। उस अवस्थामें कर्मोंके आगमनका द्वार भलीभांति रुक जाता है और उसीका नाम संवर है। संवर धर्म है।

'अगार' अर्थात् घर, अनगार अर्थात् घररहित वृत्ति अर्थात् साधुवृत्ति। जब तक जीवको बाह्याभ्यन्तर संयोग बना रहता है, तब तक वह मोक्ष पदकी साक्षात्साधिका साधुवृत्ति ग्रहण नहीं करता। वह उसकी विरोधक है। और ज्यों ही जीव उन संयोगोंसे रहित हुआ नहीं कि त्यों ही वह उस साधुवृत्तिको धारण कर लेता है ॥ १८ ॥

उत्थानिका—मुण्डित होकर और अनगारवृत्तिको प्राप्त कर जीव फिर क्या करता है? सो कहते हैं—

जया मुंडे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ॥ १९ ॥

यदा मुण्डो भूत्वा, प्रव्रजत्यनगारम् ।
तदा संवरमुत्कृष्टं, धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(जया मुंडे भवित्ताण अणगारियं पव्वइए) जिस समय

यह ज्ञान आत्मामें ज्योंका त्यों प्रगट हो जाता है।

ठीक इसी भांति यहां यह बात कही गई है कि मिथ्यादर्शन आदि कारणोंसे जो कर्मरज आत्मासे लग गया था, संवरकेद्वारा वह ज्यों ही हटा नहीं कि त्यों ही झट केवलज्ञान और केवल दर्शन जो कि आत्मामें स्वभावसे ही सदासे मौजूद रहते हैं, प्रगट हो आते हैं। बादलोंके हट जानेसे जैसे दैदीप्यमान सूर्य प्रगट हो आता है। ॥ २१ ॥

उत्थानिका—सर्वत्र व्यापकस्वरूप केवलज्ञान और केवलदर्शनके प्राप्त हो जानेपर जीवको फिर क्या फल प्राप्त होता है ? सो कहते हैं—

जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥ २२ ॥

यदा सर्वत्रगं ज्ञानं, दर्शनं चाधिगच्छति।
तदा लोकमलोकं च, जिनो जानाति केवली ॥ २२ ॥

यदा धुनोति कर्मरजं, अबोधिकलुषकृतम् ।
तदा सर्वत्रगं ज्ञानं, दर्शनं चाधिगच्छति ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(जया अबोहिकलुसकडं कम्मरयं धुणइ) जिस समय मिथ्यादृष्टि भावसे संचय किया हुआ कर्मरज आत्मासे पृथक् करदेता है, (तया) उस समय (सव्वत्तगं) सर्व लोकमें व्याप्त होनेवाला (नाणं) ज्ञान (च) और (दंसणं) दर्शनको (अभिगच्छइ) प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

मूलार्थ—जिस समय जीव, मिथ्यादृष्टि भावसे संचित किये हुए कर्मरजको आत्मासे पृथक् कर देता है, उस समय वह लोकालोकके प्रकाश करनेवाले केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

भाष्य—जिस समय जीव किसी कारणवश आकुलित हो जाता है, उस समय उसकी बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। स्मरणशक्ति निर्बल पड़ जाती है। और हेयोपादेयका विशेष ज्ञान उसे नहीं रहता। निराकुलतामें मनुष्यका दिमाग सही रहता है। स्मरणशक्ति अपना काम बदस्तूर करती है और कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान उस समय जीवको विशेषरूपसे रहता है। यह बात अनुभव

यहां यदि यह शङ्का की जाय कि—रज्जु किसे कहते हैं ? तो इसका समाधान यह है कि—मान लीजिये कि यदि सौधर्म देवलोकसे हजार मनका लोहका गोला नीचे गेरा जाय, तो वह गोला षट्मास षट्दिन और षट् मुहूर्तमें मध्यलोककी भूमिपर आकर गिरेगा। इतने कालमें यावन्मात्र क्षेत्र उस गोलेने अतिक्रम किया है, वह क्षेत्र एक रज्जुप्रमाण होता है।

इसी प्रकार ऊर्ध्वरज्जु तिर्यग्रज्जु और अधोरज्जुका प्रमाण किया जाता है। जैसे कि—मध्य (मृत्यु) लोककी भूमिसे सौधर्म देवलोक एक रज्जुप्रमाण है। द्वितीय रज्जु माहेन्द्रनामक चतुर्थ देवलोक तक है। तृतीय रज्जु छठे देवलोक तक है। चतुर्थ रज्जु आठवें देवलोक तक है। पञ्चम रज्जु बारहवें देवलोक तक है। छठा रज्जु इक्कीसवें देवलोक तक है। सातवा रज्जु सिद्ध शिला पर्यन्त है। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक सात रज्जुप्रमाण कहा जाता है।

इसी प्रकार अधोलोक भी सात रज्जु प्रमाण है। क्योंकि नरक सात ही हैं। प्रत्येक नरक एक रज्जुप्रमाण कथन किया गया है।

तिर्यग् लोक एक रज्जुप्रमाण कथन किया गया है। जैसे कि—भरतक्षेत्रसे लेकर स्वयम्भू रमण समुद्रकी सीमा पर्यन्त एक रज्जुप्रमाण तिर्यग्लोकका क्षेत्र वर्णन किया गया है। सो केवली भगवान् लोकालोकको हस्तामलकवत् अपने ज्ञानमें देखते हैं ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(जया सव्वत्तगं नाण च दंसण अभिगच्छइ) जिस समय सर्व व्यापी ज्ञान और दर्शनको प्राप्त हो जाता है, (तया) उस समय (केवली) केवलज्ञानका धारी (जिणो) रागद्वेषके जीतनेवाला व्यक्ति (लोग) लोक (च) और (अलोग) अलोकको (जाणइ) जान लेता है ॥ २२ ॥

मूलार्थ—जिस समय जीव सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है, उस समय वह रागद्वेषके जीतनेवाला केवली लोक और अलोकको जान लेता है ॥ २२ ॥

भाष्य—आत्माका यह केवलज्ञान तीनों लोकोंकी बातोंको इस तरह जानता है जैसे हाथपर रक्खे हुए आँवलेको हम और आप जानते हैं।

केवली जिन 'लोकालोक' को जानते हैं, यह बात इस गाथामें कही गयी है। इसलिये 'लोकालोक' का संक्षिप्त स्वरूप यहां कह देना उचित है—

'लोक' असंख्यात योजन आयाम और विष्कम्भवाला प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् लोक चतुर्दशरज्ज्वात्मक प्रमाण माना जाता है। अर्थात् स्वर्गलोक, मध्यलोक और पाताललोक, इस प्रकार तीनों लोक चतुर्दशरज्जुप्रमाण सिद्ध होते हैं।

यहां यदि यह शङ्का की जाय कि—रज्जु किसे कहते हैं? तो इसका समाधान यह है कि—मान लीजिये कि यदि सौधम देवलोकसे हजार मनका लोहका गोला नीचे गेरा जाय, तो वह गोला षट्मास षट्दिन और षट् मुहूर्तमें मध्यलोककी भूमिपर आकर गिरेगा। इतने कालमें यावन्मात्र क्षेत्र उस गोलेने अतिक्रम किया है, वह क्षेत्र एक रज्जुप्रमाण होता है।

इसी प्रकार ऊर्ध्वरज्जु तिर्यग्रज्जु और अधोरज्जुका प्रमाण किया जाता है। जैसे कि—मध्य (मृत्यु) लोककी भूमिसे सौधम देवलोक एक रज्जुप्रमाण है। द्वितीय रज्जु माहेन्द्रनामक चतुर्थ देवलोक तक है। तृतीय रज्जु छठे देवलोक तक है। चतुर्थ रज्जु आठवें देवलोक तक है। पञ्चम रज्जु बारहवें देवलोक तक है। छठा रज्जु इकीसवें देवलोक तक है। सातवा रज्जु सिद्ध शिला पर्यन्त है। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक सात रज्जुप्रमाण कहा जाता है।

इसी प्रकार अधोलोक भी सात रज्जु प्रमाण है। क्योंकि नरक सात ही हैं। प्रत्येक नरक एक रज्जुप्रमाण कथन किया गया है।

तिर्यग् लोक एक रज्जुप्रमाण कथन किया गया है। जैसे कि—भरतक्षेत्रसे लेकर स्वयम्भू रमण समुद्रकी सीमा पर्यन्त एक रज्जुप्रमाण तिर्यग्लोकका क्षेत्र वर्णन किया गया है। सो केवली भगवान् लोकालोकको हस्तामलकवत् अपने ज्ञानमें देखते हैं ॥ २२ ॥

उत्थानिका—लोकालोकको जान लेनेके बाद केवली जिन फिर क्या करते हैं ? सो हते हैं—

जया लोगमलोग च, जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ॥ २३ ॥

यदा लोकमलोकं च, जिनो जानाति केवली ।
तया योगान्निरुद्ध्य, शैलेशीं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(जया लोगमलोग च केवली जिणो जाणइ) जिस समय लोक ौर अलोकको केवलज्ञानी जिन जान लेते हैं, (तया) उस समय (जोगे) योगको (निरुभित्ता) ोध कर (सेलेसिं) पर्वतराजको—निश्चयभावको (पडिवज्जइ) प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

मूलार्थ--जिस समय केवलज्ञानी जिन लोक और अलोकको जान लेते हैं, उस समय वे न, वचन और कायरूप योगोंका निरोधकर पर्वतकी तरह स्थिर परिणामवाले बन जाते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ—मन, वचन और कायके द्वारा आत्माके प्रदेशोंका जो परिस्पन्दन होता है, उसे 'योग' कहते हैं। यह योग जब शुभ कार्यमें प्रवृत्त होता है तब वह शुभकर्मोंका आस्रव करता है और जब वह अशुभ कार्यमें प्रवृत्त होता है तब वह अशुभ कर्मका आस्रव करता है। लेकिन केवली जिन ऐसा नहीं करते, वे योगोंका निरोध करते हैं। निरोध वे इसलिये करते हैं कि चार अघातिया-वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र रूप जो कर्म नष्ट करनेसे अभीतक बाकी बचे हुए हैं, उनको भी नष्ट कर दें। योगोंसे जब कर्मोंका आस्रव होता है, तब उसके निरोधसे कर्मोंका अभाव होना स्वाभाविक है। वे 'भवोपग्राहिकर्मांशक्षयाय' अर्थात् अनेक भवोंका संचित जो कर्मांश है, उसके क्षय करनेकेलिये योगका निरोध करते हैं।

योगोंकी चपलता ही आकुलता है, आकुलता ही वास्तवमें दुःख है। दुःखको कोई जीव पसन्द नहीं करता। सब सुखके अभिलाषी हैं। दुःख दूर निराकुलतासे होता है निराकुलता योगनिरोधसे होती है। निराकुलता ही वास्तवमें पूर्ण सुख है।

संसार परिभ्रमणसे अकुताए हुए और अनन्तकालीन स्थायीस्वरूप अपनी आत्मिक संपत्तिको चाहनेवालोंको धर्म और शुक्ल ध्यान तथा व्युत्सर्ग, तप आदि द्वारा अपने शुभाशुभ कर्मोंके क्षय करनेका पुरुषार्थ करना चाहिये ॥ २३ ॥

उत्थानिका—योगनिरोधजन्य स्थिरता प्राप्त हो जानेपर केवली जिनको फिर क्या फल प्राप्त होता है ? सो कहते हैं—

जया जोगे निरुभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥ २४ ॥

यदा योगान्निरुद्ध्य, शैलेशीं प्रतिपद्यते ।
तदा कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(**जया जोगे निरुभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ**) जिस समय को निरोधकर पर्वतराजवत् स्थिर हो जाता है, (**तया**) उस समय (**नीरओ**) रज रहित (**कम्मं**) कर्मको (**खवित्ताणं**) क्षय करके (**सिद्धिं**) सिद्ध गतिको (**गच्छइ**) चला है ॥ २४ ॥

मूलार्थ—जिस समय केवली जिन योगोंका निरोधकर सुमेरु पर्वतकी भांति निश्चल हो जाता है, उस समय वह भवोपग्राही कर्मोंका क्षय करके कर्मरजसे रहित होता हुआ सिद्ध गतिको प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

भाष्य—कषायोंका अभाव तो मुनिके पहिले ही—बारहवें गुणस्थानमें हो गया। कषायोंके और ज्ञानावरण आदि चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे तो उन्हें केवलज्ञान ही प्राप्त हुआ है। अब जैन मुनिको योगोंका भी अभाव करना पड़ता है। तभी उनके पूर्वसंचित कर्म नष्ट हो सकते हैं और तभी उन्हें सिद्धि अर्थात् सिद्ध गतिकी प्राप्ति हो सकती है। इससे यह बात सिद्ध हो गई कि बिल्कुल अक्रिय बननेसे ही जीवको सिद्धगति प्राप्त होती है। क्योंकि जीवसे क्रिया करानेवाली दो ही चीज़ें हैं। एक मन-वचन-काय रूप योग और दूसरी क्रोध-मान माया-लोभ रूप कषाय। जब देवाधिदेव श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌ने इन दोनों कारणोंका अभाव कर दिया तो क्रिया कैसे हो सकती है? कारणके नष्ट हो जानेपर कार्यकी उत्पत्ति किसी भी तरह सिद्ध नहीं होती। यह बात सर्वसम्मत है। और इसीलिये सिद्धावस्थामें भी जीव अक्रिय ही रहता है। बल्कि यों कहना चाहिये कि सर्वथा अक्रिय दशाका नाम ही 'सिद्धि' या 'मोक्ष' है।

इससे जो लोग 'क्रियावान् रहते हुए भी मोक्ष हो जाती है' या 'सिद्ध जीव क्रिया करते हैं' यह मानते हैं, उनके निषेध करनेका शास्त्रकारका आशय है ॥ २४ ॥

उत्थानिका—योगनिरोधजन्य स्थिरता प्राप्त हो जानेपर केवली जिनको फिर क्या फल प्राप्त होता है? सो कहते हैं—

जया जोगे निरुम्भित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥ २४ ॥

यदा योगान्निरुध्य, शैलेशीं प्रतिपद्यते ।
तदा कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(**जया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ**) जिस समय योगोंको निरोधकर पर्वतराजवत् स्थिर हो जाता है, (**तया**) उस समय (**नीरओ**) रज रहित होकर (**कम्मं**) कर्मको (**खवित्ताण**) क्षय करके (**सिद्धिं**) सिद्ध गतिको (**गच्छइ**) चला जाता है ॥ २४ ॥

मूलार्थ—जिस समय केवली जिन योगोंका निरोधकर सुमेरु पर्वतकी भांति निश्चल हो जाता है, उस समय वह भवोपग्राही कर्मोंका क्षय करके कर्मरजसे रहित होता हुआ सिद्ध गतिको प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

भाष्य—यहांपर सिद्धको 'शाश्वत' का विशेषण दिया है। उसका अभिप्राय यह है कि कुछ लोग सिद्धावस्थासे जीवको लौटता हुआ मानते हैं, यह ठीक नहीं है। जब संसारपरिभ्रमणके कारणीभूत कर्म आत्मासे सर्वथा अलग होगये, तब उस शुद्ध बुद्ध मुक्त निर्लेप निष्कलङ्क अलिप्त परमेश्वरको संसारमें फिरसे लानेवाला पदार्थ कौन है? कोई नहीं। बीजकी सत्ता रहनेपर ही अंकुरके प्रादुर्भूत होनेकी आशङ्का रहती है। बीज नष्ट हो जानेपर अंकुरका प्रादुर्भाव कोई नहीं कर सकता। वैसा हो ही नहीं सकता। अतः उनके खण्डनार्थ यहां सिद्धकेलिये 'शाश्वत' विशेषण शास्त्रकारने दिया है।

दूसरी बात एक और है। और वह यह है कि न्यायशास्त्रका यह नियम है कि जो पदार्थ सादि अनन्त होता है, उसका पुनः प्रादुर्भाव नहीं होता। जैसे कि प्रध्वंसाभाव। प्रध्वंसाभाव सादि और अनन्त है, उसका प्रादुर्भाव नहीं होता। अतः उक्त न्यायशास्त्रके नियमानुसार सिद्ध भगवान् पुनर्जन्म-मरणके संकट कभी नहीं उठाते। इसलिये शास्त्रकारने उनकेलिये 'शाश्वत' विशेषण प्रदान किया है।

यहां यदि यह शङ्का की जाय कि सिद्ध भगवान् जब लोकके अग्रभाग तक पहुँच गये, तब फिर अलोकमें भी क्यों न चले गये? वहीं क्यों स्थिर होगये? इसका समाधान यह है कि मिट्टी

उत्थानिका—कर्मोका नाशकर सिद्धगतिको प्राप्त कर लेनेपर निष्कर्म जीवको फिर क्या फल प्राप्त होता है ? सो कहते हैं—

जया कम्म खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥ २५ ॥

यदा कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः ।
तदा लोकमस्तकस्थः, सिद्धो भवति शाश्वतः ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(जया कम्म खविताण नीरओ सिद्धिं गच्छइ) जिस समय कर्म क्षय करके और निरज होकर सिद्धगतिको जाता है, (तया) उस समय (लोगमत्थयत्थो) लोकके मस्तकपर स्थित होता हुआ (सासओ) शाश्वत पदवाला (सिद्धो) सिद्ध (हवइ) हो जाता है ॥ २५ ॥

मूलार्थ—जिस समय जीव, कर्म क्षय कर—कर्मरजसे रहित होकर सिद्धगतिको प्राप्त करता है, उस समय वह लोकके मस्तकपर जाकर विराजता है और शाश्वत रूपसे सिद्ध हो जाता है ॥ २५ ॥

रूप परणमानेमें नहीं है। इसलिये धर्मास्तिकायके अभावसे अलोकाकाशमें न आकर सिद्ध भगवान् लोकके ही अग्रभागमें विराजमान होते हैं ॥ २५ ॥

उत्थानिका—पूर्वोक्त धर्मफल जिसको दुर्लभ है, शास्त्रकार अब उसका वर्णन करते हैं—

सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।
उच्छोलणापहोअस्स, दुल्लहा सुगई तारिसगस्स ॥ २६ ॥

सुखास्वादकस्य श्रमणस्य, साताकुलस्य निकामशायिन ।
उत्क्षालनाप्रधौतस्य, दुर्लभा सुगतिः तादृशस्य ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(सुहसायगस्स) सुखके स्वादको चाहनेवाले (सायाउलगस्स) साताकेलिये आकुलित (निगामसाइस्स) अत्यन्त शयन करनेवाले (†उच्छोलणापहोयस्स) विना यत्नके हाथ-पैर धोनेवाले (तारिसगस्स) ऐसे (समणस्स) साधुको (सुगई) उत्तम गति (दुल्लहा) दुर्लभ है ॥ २६ ॥

---

† "उच्छोलण—न० (उत्क्षालन) अयतनासे हाथ पग धोवा ते"—अर्धमागधी-गुजराती कोष।

लगा पानीमें डूबा हुआ तूंबा मिट्टीके हट जानेपर-निर्लेप हो जानेपर जिस तरह ऊपर आकर ठहर जाता है और स्थलपर या आकाशमें अधर वह नहीं पहुँचता, क्योंकि उसकी गति जलके आश्रित है। ठीक उसी प्रकार सिद्ध जीवोंकी गति 'धर्मास्तिकाय' के आश्रित है। जहां धर्मास्तिकाय थी, वहां तक वे पहुँचे। अलोकाकाशमें धर्मास्तिकाय नहीं थी। इसलिये वे आगाड़ी गमन न कर सके और वहींपर स्थिर हो गये।

यहां यदि यह शङ्का की जाय कि, सिद्ध भगवान् अनन्त शक्तिशाली, अचिन्त्य प्रभाववान् और पूर्ण वीर्यवान् हैं। इतनेपर भी क्या वे धर्मास्तिकायके अधीन ही बने रहे, जो कि उसके अभावमें आगाड़ी गमन न कर सके? इसका समाधान यह है कि अवश्य ही वे अनन्त शक्तिशाली, अचिन्त्य प्रभाववान् और पूर्ण वीर्यवान् हैं, लेकिन वस्तु-स्वरूपको अन्यथा कोई भी नहीं कर सकता। वस्तुके स्वभावको पलटनेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं है। वस्तुका स्वभाव त्रिकालमें पलटता नहीं है। यदि वस्तुस्वभाव पलट जाया करे तो सर्वसाङ्कर्य्य हो जाय। सब वस्तु एकमेक हो जायं। भिन्न भिन्न पदार्थोंकी व्यवस्था—सत्ता जो सर्व मतावलम्बियोंको स्वीकृत है वह न रहे। सिद्ध भगवान्‌को जो अनन्तशक्ति प्राप्त हुई है वह अपने स्वरूपमें है। पर पदार्थोंको अपने

है। सो इस स्थानपर शारीरिक सुखकी इच्छासे उक्त क्रियाओंको करनेवाले साधुको सुगतिका अनधिकारी कहा गया है ॥ २६ ॥

उत्थानिका—तो अब सुगति किसको प्राप्त हो सकती है, सो कहते हैं—

तवोगुणपहाणस्स, उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स ।
परीसहे जिणंतस्स, सुलहा सुगई तारिसगस्स ॥ २७ ॥

तपोगुणप्रधानस्य, ऋजुमतेः क्षान्तिसंयमरतस्य ।
परीषहान् जयतः, सुलभा सुगतिः तादृशस्य ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—(तवोगुणपहाणस्स) तपरूपी गुणसे प्रधान (उज्जुमइ) जिसकी मोक्षमार्गमें मति है (खंतिसंजमरयस्स) क्षमा और संयममें रक्त (परीसहे) परिषहोंके (जिणंतस्स) जीतनेवाले, (तारिसगस्स) ऐसेकी (सुगई) सुगति—मोक्ष (सुलहा) सुलभ है ॥ २७ ॥

मूलार्थ—जो तप गुणमें प्रधान हैं, मोक्षमार्गमें जिनकी बुद्धि प्रवृत्त हो रही है, क्षमा और

मूलार्थ—सुखके स्वादको चाहनेवाले, आगामी कालकी साताकेलिये चित्तमें अत्यन्त व्याकुलता धारण करनेवाले, सूत्रोक्त विधिको छोड़कर शयन करनेवाले, एवं बिना यत्नके हाथ पैर आदि अवयवोंको धोनेवाले मुनिको मोक्षगति प्राप्त होनी दुर्लभ है ॥ २६ ॥

भाष्य—जो स्वाद और इन्द्रिय सुखकी लालसा रखता है, उसकेलिये आकुलित रहता है, सोनेका प्रेमी है, हाथ, पैर, मुंह आदि अवयवोंको धोनेमें यत्नायत्नका भी जो विवेक नहीं रखता है, वह द्रव्यलिङ्गी साधु है, भावलिङ्गी नहीं।

सो इस प्रकारके द्रव्यसाधुको मोक्षगतिका प्राप्त होना दुर्लभ है। क्योंकि—जो श्रीभगवान्की आज्ञाका उल्लंघन करनेवाला है, वह उक्त सुगतिको प्राप्त नहीं कर सकता। कारण कि—

ज्ञान और क्रिया द्वारा जीवको मोक्षरूपी सुगतिकी प्राप्ति हो सकती है। सो अब किसी साधुने सूत्रोक्त क्रियाओंका परित्याग कर दिया हो, और वह केवल शारीरिक सुखमें ही निमग्न हो गया हो तो भला फिर वह सुगति किस प्रकार प्राप्त कर सकता है ?

भोजन, शयन, हस्तपाद-प्रक्षालन आदि क्रियाएं तो सभी मुनिको करनी पड़ती हैं। लेकिन एक शारीरिक सुखकेलिये क्रियाएँ की जाती हैं और एक शरीरके निर्वाहकेलिये क्रियाएँ की जाती

उत्थानिका—सूत्रकार अब इस विषयमें कहते हैं कि-यदि किसी जीवको मोक्ष प्राप्त न हो सके तो फिर क्या हो—

पच्छावि ते पयाया, खिप्प गच्छति अमरभवणाइ ।
जेसिं पिओ तवो सजमो अ खती अ बभचेरं च ॥ २८ ॥

पश्चादपि ते प्रयाताः, क्षिप्रं गच्छन्ति अमरभवनानि ।
येषां प्रियं तपः सयमश्च क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यश्च ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(**जेसिं**) जिनको (**तवो**) तप (**अ**) और (**सजमो**) सयम (**अ**) तथा (**खती**) क्षमा (**अ**) और (**बभचेर च**) ब्रह्मचर्य (**पिओ**) प्रिय हैं, (**ते**) वे (**पच्छावि**) पिछली अवस्थामें भी—वृद्ध हो जानेपर (**पयाया**) सयममार्गमें चलते हुए (**खिप्प**) शीघ्र (**अमरभवणाइ**) देवोंके आवासोंके प्रति (**गच्छति**) जाते हैं ॥ २८ ॥

मूलार्थ—जिन पुरुषोंके तप, सयम, क्षमा, और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं, वे पुरुष पिछली अवस्थामें भी दीक्षित हो जानेपर तथा सयममार्गमें न्यायपूर्वक चलनेसे शीघ्र ही देवलोकमें चले जाते हैं ॥ २८ ॥

संयमके पालनेमें जो तत्पर हैं और जो परिषहोंके जीतनेवाले हैं, ऐसे मुनिको मोक्षरूपी सुगति प्राप्त होनी सुलभ है ॥ २७ ॥

भाष्य—'उज्जुमइ'—'ऋजुमतेः' के दो अर्थ हैं। एक 'मोक्षमें बुद्धि रखनेवाले' और दूसरा 'सरलाशयवाले'। यहांपर दोनों ही अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं।

'खतिसंजमरयस्स'—'क्षान्तिसंयमरतस्य' के भी दो अर्थ हैं। एक 'क्षमा और संयममें रत' और दूसरा 'क्षमाप्रधान संयममें रत'। क्योंकि क्षमा संयमका मूल है। ये दोनों ही अर्थ यहांपर ग्रहण किये जा सकते हैं।

मोक्षरूपी सुगति आत्मिक गुणोंके आश्रित है, न तु शारीरिक सुखके आश्रित। अतः शारीरिक सुखको छोड़कर सुगतिकी प्राप्तिकेलिये उक्त गुणोंका आश्रय अवश्य लेना चाहिये।

तथा सूत्रकर्ताने उक्त गुणोंका जो वर्णन किया है, उसमें तप और संयम शब्दों द्वारा चारित्रका निर्देश कर दिया है। यद्यपि चारित्रमें ज्ञान ही कारण है। लेकिन मोक्षप्राप्तिका साक्षात्कारण चारित्र ही है। इसलिये सूत्रकर्ताने सुगतिका मुख्य कारण चारित्र ही प्रतिपादन किया है। अतएव ! इसी क्रमसे प्रत्येक व्यक्तिको ज्ञानपूर्वक चारित्रसे मोक्ष प्राप्त करना चाहिये। ~७॥

उत्थानिका—सूत्रकार अब इस विषयमें कहते हैं कि–यदि किसी जीवको मोक्ष प्राप्त न हो सके तो फिर क्या हो—

पच्छावि ते पयाया, खिप्प गच्छति अमरभवणाइ ।
जेसिं पिओ तवो सजमो अ खती अ बभचेरं च ॥ २८ ॥

पश्चादपि ते प्रयाता, क्षिप्र गच्छन्ति अमरभवनानि ।
येषां प्रिय तप सयमश्च क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यश्च ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(**जेसिं**) जिनको (**तवो**) तप (**अ**) और (**सजमो**) सयम (**अ**) तथा (**खती**) क्षमा (**अ**) और (**बभचेर च**) ब्रह्मचर्य (**पिओ**) प्रिय है, (**ते**) वे (**पच्छावि**) पिछली अवस्थामें भी–वृद्ध हो जानेपर (**पयाया**) सयममार्गमें चलते हुए (**खिप्प**) शीघ्र (**अमरभवणाइ**) देवोंके आवासोंके प्रति (**गच्छति**) जाते हैं ॥ २८ ॥

मूलार्थ—जिन पुरुषोंके तप, सयम, क्षमा, और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं, वे पुरुष पिछली अवस्थामें भी दीक्षित हो जानेपर तथा सयममार्गमें न्यायपूर्वक चलनेसे शीघ्र ही देवलोकमें चले जाते हैं ॥ २८ ॥

संयमके पालनेमें जो तत्पर हैं और जो परिषहोंके जीतनेवाले हैं, ऐसे मुनिको मोक्षरूपी सुगति प्राप्त होनी सुलभ है ॥ २७ ॥

भाष्य—'उज्जुमइ'—'ऋजुमतेः' के दो अर्थ हैं। एक 'मोक्षमें बुद्धि रखनेवाले' और दूसरा 'सरलाशयवाले'। यहांपर दोनों ही अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं।

'खंतिसंजमरयस्स'—'क्षान्तिसंयमरतस्य' के भी दो अर्थ हैं। एक 'क्षमा और संयममें रत' और दूसरा 'क्षमाप्रधान संयममें रत'। क्योंकि क्षमा संयमका मूल है। ये दोनों ही अर्थ यहांपर ग्रहण किये जा सकते हैं।

मोक्षरूपी सुगति आत्मिक गुणोंके आश्रित है, न तु शारीरिक सुखके आश्रित। अतः शारीरिक सुखको छोड़कर सुगतिकी प्राप्तिकेलिये उक्त गुणोंका आश्रय अवश्य लेना चाहिये।

तथा सूत्रकर्ताने उक्त गुणोंका जो वर्णन किया है, उसमें तप और संयम शब्दों द्वारा चारित्रका निर्देश कर दिया है। यद्यपि चारित्रमें ज्ञान ही कारण है। लेकिन मोक्षप्राप्तिका साक्षात्कारण चारित्र ही है। इसलिये सूत्रकर्ताने सुगतिका मुख्य कारण चारित्र ही प्रतिपादन किया है। अतएव! इसी क्रमसे प्रत्येक व्यक्तिको ज्ञानपूर्वक चारित्रसे मोक्ष प्राप्त करना चाहिये ॥ २७ ॥

उत्थानिका—सूत्रकार अब इस विषयमें कहते हैं कि–यदि किसी जीवको मोक्ष प्राप्त न हो सके तो फिर क्या हो—

पच्छावि ते पयाया, खिप्प गच्छति अमरभवणाइ ।
जेसिं पिओ तवो सजमो अ खती अ वमचेर च ॥ २८ ॥

पश्चादपि ते प्रयाता, क्षिप्र गच्छन्ति अमरभवनानि ।
येषां प्रिय तप सयमश्च क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यश्च ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(**जेसिं**) जिनको (**तवो**) तप (**अ**) और (**सजमो**) सयम (**अ**) तथा (**खती**) क्षमा (**अ**) और (**बभचेर च**) ब्रह्मचर्य (**पिओ**) प्रिय है, (**ते**) वे (**पच्छावि**) पिछली अवस्थामें भी–वृद्ध हो जानेपर (**पयाया**) सयममार्गमें चलते हुए (**खिप्प**) शीघ्र (**अमरभवणाइ**) देवोंके आवासोंके प्रति (**गच्छति**) जाते हैं ॥ २८ ॥

मूलार्थ—जिन पुरुषोंके तप, सयम, क्षमा, और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं, वे पुरुष पिछली अवस्थामें भी दीक्षित हो जानेपर तथा सयममार्गमें न्यायपूर्वक चलनेसे शीघ्र ही देवलोकमें चले जाते हैं ॥ २८ ॥

भाष्य--इस गाथाके कथन करनेका यह भाव प्रतीत होता है कि—यदि कोई ऐसे कहे कि -अब तो मेरी वृद्धावस्था आगई है। इसलिये मैं अब संयमके योग्य नहीं रहा हूं। इस प्रकारसे कहनेवालोंके प्रति सूत्रकारका यह उपदेश है। कि—यदि तप, संयम तथा क्षमा और ब्रह्मचर्यसे प्रेम है तो वृद्धावस्थामें भी संयम धारण कर लेनेपर बहुत ही शीघ्र देवलोकके विमानोंकी प्राप्ति होजाती है। जिससे फिर यह आत्मा दुर्गतिके दुःखोंके भोगनेसे छूट जाता है। अतएव ! जीवको तप और संयम तथा क्षमा और ब्रह्मचर्य्यसे प्रेम प्रत्येक अवस्थामें होना चाहिये। जो आत्मा उक्त वृत्तिको धारण करता है, वह अवश्यमेव सुखोंके अनुभव करनेवाला हो जाता है ॥ २८ ॥

उत्थानिका--अब सूत्रकार इस अध्ययनका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इच्चेयं छज्जीवणियं, सम्मद्दिट्ठी सया जए ।
दुल्लहं लहित्तु सामण्णं, कम्मुणा न विराहिज्जासि ॥२६॥ त्ति बेमि ॥

इत्येतां षड्जीवनिकायिकां, सम्यग्दृष्टिः सदा यतः ।
दुर्लभं लब्ध्वा श्रामण्यं, कर्मणा न विराधयेत् ॥ २९ ॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ—(सया) सदा (जए) यत्न करनेवाला (सम्मद्दिट्ठी) सम्यग्दृष्टि जीव (दुल्लहं) दुर्लभ (सामण्णं) मुनिपनेको (लहित्तु) प्राप्त करके (इणेव) इस प्रकार (छज्जीवणियं) षट्कायकी (कम्मुणा) मन, वचन और कायकी क्रियासे (न विराहिज्जासि) विराधना न कर ॥ २९ ॥

(त्ति बेमि) इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—सदा यत्नसे प्रवृत्ति करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव दुर्लभतासे प्राप्त होनेवाले श्रामण्यभावको प्राप्त करके इन षड्जीवनिकायके जीवोंकी मन, वचन और कायसे विराधना कदापि न करे ॥ २९ ॥

भाष्य इस गाथामें जो 'दुल्लहं लहित्तु सामण्णं' पद दिया है, इसका भाव यह है कि-संसारी प्रत्येक पदार्थ सुलभतापूर्वक प्राप्त हो सकता है, किन्तु ज्ञानदर्शनपूर्वक चारित्रकी प्राप्ति दुर्लभतासे होती है। सो यदि किसी आत्माको पूर्व क्षयोपशम भावके कारण अत्यन्त दुर्लभ श्रामण्यभाव प्राप्त हो गया हो तो फिर वह प्रमादादि द्वारा वा मन, वचन और कायसे कदापि उस दुर्लभ चारित्रकी विराधना न करे।

साथ ही इस गाथामें इस बातका भी प्रकाश किया गया है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा सदैव यत्न करनेवाला होता है तथा यत्न करनेवाला सम्यग्दृष्टि बन जाता है। मेघकुमारवत्। अतः षट्कायके जीवोंकी विराधना कदापि न करनी चाहिये।

यदि यहां ऐसे कहा जाय कि—यहांपर 'षट्काय' ही शब्द क्यों दिया गया है? इसका समाधान यह है कि—संसारी जीवोंके रहनेके षट् ही स्थान हैं। यद्यपि सिद्धात्मा भी जीव हैं, परन्तु उनकी संज्ञा अकायिक है। इसलिये वे षट्कायके जीवोंकी गणनामें नहीं लिये गये।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययनमें जीवाजीवाभिगम १, आचार २, धर्मप्रज्ञप्ति ३, चारित्रधर्म ४, यत्न (चरण) विषय ५, और उपदेशाधिकार (धर्माधिकार) ६, इन छह विषयोंका वर्णन अधिकार रूपसे किया गया है।

जबतक जीवको जीव और अजीवका सम्यक्तया अवबोध नहीं होता, तबतक आत्मा आचार—धर्मविषयमें प्रविष्ट हो ही नहीं सकता। जबतक जीव आचारधर्मसे अपरिचित है, तबतक वह धर्मप्रज्ञप्ति किस प्रकार कर सकता है? जबतक जीव धर्मप्रज्ञप्तिसे अपरिचित है, तबतक वह चारित्रधर्मका अधिकारी किस प्रकार माना जायगा? जबतक जीव चारित्रधर्मका अधिकारी नहीं

है, तबतक वह धर्म विषयमें उद्यत किस प्रकार हो सकेगा ? और जबतक वह धर्मविषयमें उद्यत ही नहीं है तबतक वह उपदेश करने या सुननेका अधिकारी किस प्रकार माना जा सकता है ?

इसलिये जीवको सबसे पहिले जीवाजीवका अवबोध सम्यक्तया प्राप्त करना चाहिये। तत्पश्चात् उपरोक्त सकल फलपरम्पराएं उसे अनायास ही प्राप्त होती जायँगी ॥ २९ ॥

"इस प्रकार श्रीसुधर्मास्वामी श्रीजम्बूस्वामीजी प्रति कहते हैं कि—हे जम्बूस्वामिन्! जिस प्रकार मैंने श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामीजीसे षड्जीवनिकाय नामक अध्ययनका अर्थ श्रवण किया है, उसी प्रकार मैंने तुम्हारे प्रति कहा है, अपनी बुद्धिसे मैंने इसमें कुछ भी नहीं कहा है।"

इअ छज्जीवणिया णाम चउत्थं अज्झयणं सम्मत्तं।

इति षड्जीवनिकायनाम चतुर्थमध्ययनं समाप्तम्।

इति श्रीदशवैकालिकसूत्रके षट्जीवनिकाय नामक चतुर्थाध्ययनकी "आत्मज्ञानप्रकाशिका" नामक हिन्दी भाषा टीका समाप्त हुई।

—o—

अह पिंडेसणा णाम पंचमज्झयणं ।

अथ पिण्डैषणा नामक पञ्चम अध्ययन ।

उपोद्घात—चतुर्थ अध्ययनमें साधुके मूलगुणोंके विषयमें कुछ वर्णन किया गया था। महाव्रत मूलगुणोंके अन्दर गर्भित हैं। अब इस पञ्चम अध्ययनमें उत्तरगुणोंके विषयमें कुछ कहा जायगा।

चतुर्थ अध्ययनमें षड्जीवनिकायकी रक्षारूप धर्माचार साधुकेलिये कहा गया है। लेकिन साधु, धर्माचार सशरीरकी रक्षा करते हुए ही पाल सकता है। शरीरकी रक्षामें आहार एक मुख्य कारण है। इस पञ्चम अध्ययनमें उसीका वर्णन है। अर्थात् साधु अपने महाव्रतोंकी रक्षा करता हुआ किस प्रकारसे आहार ग्रहण करे, इस बातका वर्णन इस अध्ययनमें है।

जिसके ग्रहण करनेसे साधुके व्रतोंमें रञ्चमात्र भी दोष न लगने पावे, ऐसे आहारको निरवद्य

आहार, और जिसके ग्रहण करनेमें उनके व्रतोंमें दोष लगे, उसे सावद्य आहार कहते हैं। साधुको सावद्य आहार ग्रहण नहीं करना चाहिये। आहारके ग्रहण करनेमें किस किस तरहसे दोष आते हैं और किस-किस तरहसे उनका निराकरण होता है। इत्यादि बातोंका वर्णन इस अध्ययनमें है। इसीलिये इसका नाम 'पिण्डैषणा अध्ययन' है। क्योंकि 'पिंडेसणा'—'पिण्डैषणा' शब्दका अर्थ है—'पिण्ड' अर्थात् आहार और 'एषणा' अर्थात् दोषादोषनिरीक्षण।

उत्थानिका—उसकी प्रथम गाथा इस प्रकार है—

सपत्ते भिक्खकालम्मि, असंभन्तो अमुच्छिओ।
इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥ १ ॥

सम्प्राप्ते भिक्षाकाले, असम्भ्रान्तः अमूर्छितः।
अनेन क्रमयोगेन, भक्तपानं गवेषयेत् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(**भिक्खकालम्मि**) भिक्षाका समय (**सपत्ते**) हो जानेपर (**असंभन्तो**) चित्तकी व्याकुलताको छोड़कर (**अमुच्छिओ**) आहारादिमें मूर्छित न होता हुआ (**इमेण कमजोगेण**) इस विधिसे (**भत्तपाणं**) अन्न-पानीको (**गवेसए**) खोजे—ढूंढे ॥ १ ॥

अह पिंडेसणा णाम पंचमज्झयणं ।

अथ पिण्डैषणा नामक पञ्चम अध्ययन ।

उपोद्घात—चतुर्थ अध्ययनमें साधुके मूलगुणोंके विषयमें कुछ वर्णन किया गया था। अहमत मूलगुणोंके अन्दर गर्भित हैं। अब इस पञ्चम अध्ययनमें उत्तरगुणोंके विषयमें कुछ कहा जायगा।

चतुर्थ अध्ययनमें षट्जीवनिकायकी रक्षारूप धर्माचार साधुकेलिये कहा गया है। लेकिन साधु, धर्माचार सशरीरकी रक्षा करते हुए ही पाल सकता है। शरीरकी रक्षामें आहार एक मुख्य कारण है। इस पञ्चम अध्ययनमें उसीका वर्णन है। अर्थात् साधु अपने अहीत व्रतोंकी रक्षा करता हुआ किस प्रकारसे आहार ग्रहण करे, इस बातका वर्णन इस अध्ययनमें है।

जिसके ग्रहण करनेसे साधुके व्रतोंमें रञ्चमात्र भी दोष न लगने पावे ऐसे आहारको निरवद्य

लेकिन जबतक इसकी शक्तियां और-और कामोंमें—भोगोपभोगोंके भोगनेमें लगी रहती हैं—फँसी रहती हैं, तबतक इसके स्वभावका—स्वरूपका पूर्ण विकाश नहीं हो पाता। और-और कामोंमें फँसा यह अपनी मूर्खतासे रहता है। और यह मूर्खता इसकी सिर्फ इतनीसी ही है कि इसे अपने स्वरूपका बोध नहीं है—ज्ञान नहीं है। यह नहीं पहचानता कि मैं कैसी अद्भुत—अचिन्त्यशक्ति वाली चीज़ हूं। यही इसका मिथ्यात्व है। यही इसकी ज़बरदस्त गलती है।

और जब इसको अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाता है, अपनी अद्भुत, परमोत्कृष्ट आनन्दघन, त्रिजगद्वन्द्य चेतनशक्तिका पता लग जाता है, तब यह बड़ा प्रसन्न होता है। अबतक जो यह गलतीमें फँस रहा था, उसका उसे बड़ा पछितावा रहता है। फिर तो बस यह उसीमें मग्न रहना चाहता है, अपना स्वरूप उसे इतना रुचिर और प्रिय प्रतीत होता है कि उससे यह क्षण भर भी अलग नहीं रहना चाहता। उसीमें यह हमेशा—अनन्तकालकेलिये तन्मय हो जाना चाहता है, उसीमें विलीन हो जाना चाहता है। उसको फिर भोगोपभोगोंमें एव संसारके और-और कामोंमें थोड़ा भी समय बिताना और अपनी शक्ति उधर लगाना अच्छा नहीं लगता। संसारके समस्त विषय उसे विषतुल्य मालूम होते हैं। इस समय यह अनुभव करता है कि यह मुझे एक ऐसे उत्तम एव समीचीन पदार्थका दिग्दर्शन हुआ है, जिसका पता तक मुझे अबतक न था। यही जीवका सम्यग्-दर्शन कहलाता है।

मूलार्थ—भिक्षाका समय हो जानेपर साधु चित्तकी व्याकुलताको छोड़कर आहारादिमें मूर्च्छित न होता हुआ इस क्रमसे—अगाडी कहे जानेवाले तरीकेसे अन्न-पानीकी गवेषणा—खोज करे ॥ १ ॥

भाष्य—साधुकी दिनचर्या सब विभाजित की हुई है। जैसे कि सूर्योदयके पश्चात् विधिपूर्वक प्रतिलेखनादि करलेनेके बाद साधु दिनके प्रथम प्रहरमें स्वाध्याय करें। तदनु ध्यान करें। तृतीय प्रहरमें उपयोगपूर्वक भिक्षाका समय जानकर किसी भी जीवकी अन्तराय न देते हुए और अपने चित्तकी वृत्तिको ठीक करते हुए अर्थात् अलाभादिके भयसे चित्तवृत्तिको व्याकुल न करते हुए तथा आहार या शब्दादि विषयोंमें मूर्च्छित न होते हुए साधु इस वक्ष्यमाण क्रमसे अन्न और पानीकी गवेषणा करें।

शास्त्रमें जो जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, काल और आकाश, ये छह द्रव्य कहे गये हैं, इनमेंसे जीव द्रव्य सबसे श्रेष्ठ है। यह चेतन है, और सब अचेतन हैं। यह सबको जाननेवाला है, और इसे कोई नहीं जान सकता। यह जीव द्रव्य सबका पथप्रदर्शक है, मार्गभ्रष्टको सन्मार्ग सुझा देनेवाला है, सबका कल्याणकारी है, सबका शासक है, त्रिजगद्वन्द्य है, सर्वोच्च गुणोंका केन्द्र है।

साधुवृत्तिको चाहनेवाले सम्यग्दृष्टि जीवके इतने प्रकर्ष वैराग्यमय परिणाम होते हैं कि वह भोगोपभोगोंकी तो क्या बात है उनका आश्रयीभूत जो अपना शरीर है उसे भी एकदम त्याग देता, यदि शास्त्रने वैसा करनेका निषेध न किया होता †। क्योंकि ऐसा करनेसे कर्मका बन्ध नहीं कटता। जो कि पुनर्भव धारण कराता है। जब यह बात है, तब आप जान सकते हैं कि मुनि आहार-पानीके ग्रहण करनेमें कितनी अरुचि रखते हैं। वे सिर्फ शासनाज्ञाको शिरोधार्य करके ही उसकी गवेषणाकेलिये नगरमें आते हैं, और इसीलिये उसके लाभालाभमें उन्हें समभाव रहता है।

इसीलिये साधुकेलिये शास्त्रमें जैसे ध्यान-स्वाध्याय-प्रतिलेखन आदि करनेकेलिये आदेश दिया गया है, और उसकेलिये भिन्न-भिन्न समय निश्चित किया गया है, वैसे ही आहार-पानीके लिये गवेषणा करनेकेलिये भी आदेश दिया गया है और उसकेलिये समय निश्चित किया गया है। अन्यान्य कर्तव्योंके अतिरिक्त आहार-पानीकी गवेषणा करना भी शासनमें साधुका एक कर्तव्य बतलाया गया है।

यदि साधु, गवेषणाका जो समय निश्चित है, उसमें न जाकर पहिले या बादमें उसकेलिये जाय तो उसे अनेक दोष लगेंगे, जिनका कि वर्णन आगाड़ी शास्त्रकार स्वय करेंगे। अतएव! भिक्षाके कालमें ही भिक्षाकेलिये साधुको प्रवृत्ति करनी चाहिये।

---

† "यदि मक्षोऽमार य न स्याद्दोषो निरोधः"—आत्मानुशासन।

जीवकी यह सम्यग्दृष्टि हालत अन्तरङ्ग कारण मोहनीयकर्मसे एकदेश दर्शनमोहनीयके क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशमके हो आनेसे होती है। और बहिरङ्ग कारण शास्त्रश्रवण, सत्समागम, तीर्थङ्करदर्शन, देवविभूतिदर्शन आदि अनेक हैं। ये बहिरङ्ग कारण कभी-कभी किसी जीवके सम्यग्दर्शन होनेकेलिये नहीं भी होते। लेकिन अन्तरङ्ग कारण, जो मोहनीयका क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम है, उसका होना आवश्यक है।

जीवकी परणति जब ऐसी वैराग्यमय हो जाती है, तभी वह साधुवृत्तिको धारण करता है। इस सम्यग्दर्शनकी अवस्थामें तो जीवको सिर्फ़ अपने स्वरूपका भान हुआ है, विश्वास हुआ है। अब उसे प्राप्त करनेकी कोशिशमें वह लगता है। इसीलिये वह साधु अवस्था धारण करता है। साधु-अवस्था चारित्रकी अवस्था है। चारित्र क्रियाप्रधान होता है और क्रिया ही किसी कार्यकी सिद्धि करती है। इसीलिये शास्त्रमें लिखा है कि पहिले सम्यग्दर्शन होता है, बादमें सम्यक्चारित्र। ठीक ही है, पहिले किसी कार्यकी रुचि हो जानेके बाद ही जीवको उसके प्राप्त करनेकी अपेक्षा पैदा होती है।

साधुवृत्तिके धारण करनेके पहिले यदि जीवकी ऐसी वैराग्यमय परणति न हुई होती तो भला वह राजा, महाराजा, एवं चक्रवर्तीके भोगोंको या संसारमें कहे जानेवाले सुखोंको छोड़कर वह साधुवृत्ति क्यों ग्रहण करता, जिसमें अनेक परीषहें और उपसर्ग हमेशा आते रहते हैं।

मूलार्थ— गोचराग्रमें गया हुवा वह असम्भ्रान्त मुनि ग्राममें, नगरमें या अन्य खेटकादिमें उद्वेगरहित और अव्याक्षिप्त चित्तसे शनै शनै गमन करे ॥ २ ॥

भाष्य—गाथाके प्रथम चरणसे शास्त्रकारने गोचरीके योग्य स्थानका और शेष तीन चरणसे गोचरीकेलिये किये गये गमनका प्रकार बतलाया है।

'गोचरीकेलिये साधु अव्याक्षिप्त चित्तसे तथा अनुद्विग्नमना होकर गमन करे,' यह इसलिये कहा गया है कि गमनमें उसे किसी प्रकारका दोष न लगे। उद्विग्नमना और व्याक्षिप्त चित्तसे गमन करनेसे दोषोंकी शुद्धि नहीं की जा सकती।

'गोचरी' शब्द 'गो' और 'चर' शब्दसे बना है, इसका तात्पर्य यह है कि—साधु गोवत् भिक्षाचरीमें जावे अर्थात् जैसे गौ जहांपर तृणादिका योग होता है, उसी स्थानपर चली जाती है। ठीक उसी तरह साधु भी उत्तम, मध्यम और अधम कुलोंका विचार न करता हुआ तथा सरस या नीरस आहारका विचार न करता हुआ समभावसे गोचरीमें जावे।

गाथामें 'गोचर' शब्द देकर भी एक 'अग्र' शब्द और दिया है। यथा 'गोअरग्गगओ'—

साधु जबतक पिण्डैषणामें अर्थात् आहार-पानीकी गवेषणामें असम्भ्रान्त और अमूर्छित न होंगे, तबतक वे उसमें लगनेवाले दोषोंका परिहार—बचाव नहीं कर सकते। इसीलिये शास्त्रकारने गाथामें 'असंभंतो, अमुच्छिओ' ये दो पद दिये हैं ॥ १ ॥

उत्थानिका—साधु भिक्षाकी किस स्थानपर गवेषणा करे। और उसकेलिये किस प्रकारसे गमन करे? सूत्रकार अब इसी विषयमें कहते हैं—

से गामे वा नगरे वा, गोअरग्गगओ मुणी।
चरे मदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥ २ ॥

स ग्रामे वा नगरे वा, गोचराग्रगतः मुनिः।
चरेत् मन्दमनुद्विग्न, अव्याक्षिप्तेन चेतसा ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(मुणी) साधु (गामे वा) ग्राममें अथवा (नगरे वा) नगरमें अथवा अन्य खेटकादिमें (गोअरग्गगओ) गोचराग्रमें गया हुआ (से) वह (अणुव्विग्गो) उद्वेगरहित (अविक्खित्तेण) अविक्षिप्त (चेयसा) मनसे (मद) शनैः शनैः (चरे) जावे ॥ २ ॥

मूलार्थ— गोचराग्रमें गया हुवा वह असम्भ्रान्त मुनि ग्राममें, नगरमें या अन्य खेटकादिमें उद्वेगरहित और अव्याक्षिप्त चित्तसे शनै शनैः गमन करे ॥ २ ॥

भाष्य—गाथाके प्रथम चरणसे शास्त्रकारने गोचरीके योग्य स्थानका और शेष तीन चरणसे गोचरीकेलिये किये गये गमनका प्रकार बतलाया है।

'गोचरीकेलिये साधु अव्याक्षिप्त चित्तसे तथा अनुद्विग्नमना होकर गमन करे,' यह इसलिये कहा गया है कि गमनमें उसे किसी प्रकारका दोष न लगे। उद्विग्नमना और व्याक्षिप्त चित्तसे गमन करनेसे दोषोंकी शुद्धि नहीं की जा सकती।

'गोचरी' शब्द 'गो' और 'चर' शब्दसे बना है, इसका तात्पर्य यह है कि—साधु गोवत् भिक्षाचरीमें जावे अर्थात् जैसे गौ जहांपर तृणादिका योग होता है, उसी स्थानपर चली जाती है। ठीक उसी तरह साधु भी उत्तम, मध्यम और अधम कुलोंका विचार न करता हुआ तथा सरस वा नीरस आहारका विचार न करता हुआ समभावसे गोचरीमें जावे।

गाथामें 'गोचर' शब्द देकर भी एक 'अग्र' शब्द और दिया है। यथा 'गोअरग्गगओ'—

साधु जबतक पिण्डैषणामें अर्थात् आहार-पानीकी गवेषणामें असंभ्रान्त और अमूर्छित न होंगे, तबतक वे उसमें लगनेवाले दोषोंका परिहार—बचाव नहीं कर सकते। इसीलिये शास्त्रकारने गाथामें 'असंभतो, अमुच्छिओ' ये दो पद दिये हैं ॥ १ ॥

उत्थानिका—साधु भिक्षाकी किस स्थानपर गवेषणा करे। और उसकेलिये किस प्रकारसे गमन करे? सूत्रकार अब इसी विषयमें कहते हैं—

से गामे वा नगरे वा, गोअरग्गगओ मुणी।
चरे मदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥ २ ॥

स ग्रामे वा नगरे वा, गोचराग्रगतो मुनिः।
चरेत् मन्दमनुद्विग्न, अव्याक्षिप्तेन चेतसा ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(मुणी) साधु (गामे वा) ग्राममें अथवा (नगरे वा) नगरमें अथवा अन्य खेटकादिमें (गोअरग्गगओ) गोचराग्रमें गया हुआ (से) वह (अणुव्विग्गो) उद्वेगरहित (अव्विक्खित्तेण) अविक्षिप्त (चेयसा) मनसे (मद) शनै शनैः (चरे) जावे ॥ २ ॥

पुरत युगमात्रया, प्रेक्षमाणः महीं चरेत् ।
वर्जयन् बीजहरितानि, प्राणिनश्च उदकमृत्तिकाम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(**पुरओ**) आगे (**जुगमायाए**) युगमात्रा अर्थात् शरीर प्रमाणसे (**पेहमाणो**) देखता हुआ (**बीयहरियाइ**) बीज और हरितकायके (**पाणे**) प्राणियोंको (**दगमट्टिय**) सचित्त पानी और मृत्तिकाको (**वज्जतो**) छोडता हुआ (**महिं**) पृथिवीपर (**चरे**) गमन करे (**च**) च शब्दसे तेजस्कायादिको वर्जता हुआ भी पृथिवीपर गमन करे ॥ ३ ॥

मूलार्थ—साधु, शरीरप्रमाण अर्थात् अपने हाथसे साढे तीन हाथ प्रमाण आगे देखता हुआ और बीज, हरितकाय, प्राणी, उदक और मृत्तिकाको छोडता हुआ—बचाता हुआ पृथिवी पर चले ॥ ३ ॥

भाष्य—हर एक कालमें प्रत्येक मनुष्यका शरीर अपने हाथसे साढे तीन हाथ प्रमाण हुआ करता है। यह एक मानी हुई बात है। इसीलिये शरीरप्रमाणका मूलार्थमें 'अपने हाथसे साढे तीन हाथ प्रमाण' अर्थ लिखा गया है। इसीको 'शकटका जूआ प्रमाण' भी कहते हैं।

'गोचराग्रगतः'। इसका तात्पर्य यह है कि—गाकी चर्या सावद्य है, किन्तु मुनिकी चर्या आधा-कर्मादि दोषोंसे सर्वथा रहित है †।

उत्तम, मध्यम और अधम कुलोंके विषयमें कतिपय आचार्योंका मन्तव्य धनादिकी अपेक्षासे है और कतिपय आचार्योंका मन्तव्य जातिकी अपेक्षासे है। साधु, लोकव्यवहारकी शुद्धि रखता हुआ गोचराग्रमें प्रवेश करे।

मन्द-मन्द चले' ऐसा जो कथन किया गया है, इसका सारांश यह है कि--शीघ्र गतिसे गमन करनेमें ईर्यासमितिकी तथा आत्माकी विराधना होनेकी भी सम्भावना है ॥ २ ॥

उत्थानिका- सूत्रकार गौचरीकेलिये किये गये गमनके विषयमें कुछ और भी विशेष प्रतिपादन करते हैं—

पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे।
वज्जतो बीयहरियाइं, पाणे अ दगमट्टियं ॥ ३ ॥

---

† यथा—"गोचराग्रगतः" इति गोरिव चर्या गोचर —उत्तमाधममध्यमकुलेषु अरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटनम्। अग्र :—प्रधानोऽभ्याहृताधाकर्मादिपरित्यागेन। तद्गतः—तद्वर्ती मुनिः—भावसाधुः। चरेत्—गच्छेत्।

पुरओ युगमात्रया, प्रेक्षमाणः महीं चरेत् ।

वर्जयन् बीजहरितानि, प्राणिनश्च उदकमृत्तिकाम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(**पुरओ**) आगे (**जुगमायाए**) युगमात्रा अर्थात् शरीर प्रमाणसे (**पेहमाणो**) देखता हुआ (**बीयहरियाइ**) बीज और हरितकायके (**पाणे**) प्राणियोंको (**दगमट्टिय**) सचित्त पानी और मृत्तिकाको (**वज्जंतो**) छोड़ता हुआ (**महिं**) पृथिवीपर (**चरे**) गमन करे (**च**) च शब्दसे तेजस्कायादिको वर्जता हुआ भी पृथिवीपर गमन करे ॥ ३ ॥

मूलार्थ—साधु, शरीरप्रमाण अर्थात् अपने हाथसे साढे तीन हाथ प्रमाण आगे देखता हुआ और बीज, हरितकाय, प्राणी, उदक और मृत्तिकाको छोड़ता हुआ—बचाता हुआ पृथिवी पर चले ॥ ३ ॥

भाष्य—हर एक कालमें प्रत्येक मनुष्यका शरीर अपने हाथसे साढे तीन हाथ प्रमाण हुआ करता है। यह एक मानी हुई बात है। इसीलिये शरीरप्रमाणका मूलार्थमें 'अपने हाथसे साढे तीन हाथ प्रमाण' अर्थ लिखा गया है। इसीको 'शकटका जुआ प्रमाण' भी कहते हैं।

साधु साढ़े तीन हस्त प्रमाण या शकटके जूड़े प्रमाण आगे पृथिवीको सिर्फ देखता हुआ ही गमन न करे, किन्तु बीज, हरित, प्राणी द्वीन्द्रियादि जीव, उदक और पृथिवीकाय तथा 'च' शब्दसे तेजस्कायादिकी रक्षा करता हुआ भी गमन करे।

'पृथिवीको देखता हुआ चले' इसका सारांश यह है कि—चलते समय प्रमाणपूर्वक भूमिको देखता हुआ ही चले किन्तु अन्य दिशादिका अवलोकन करता हुआ न चले। क्योंकि ईर्यासमितिमें फिर उपयोग नहीं रहेगा। उपयोगपूर्वक गमन करनेसे ही ईर्यासमितिका पालन भले प्रकारसे किया जा सकेगा ॥ ३ ॥

उत्थानिका—गमन करते हुए साधुको संयमविराधनाके परिहारार्थ कहे जानेके पश्चात् शास्त्रकार अब आत्मविराधनाके परिहारार्थ कहते हैं—

ओवाय विसम खाणु, विज्जलं परिवज्जए।
सकमेण न गच्छिज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥ ४ ॥

अवपात विषम स्थाणु, विजलं परिवर्जयेत्।
संक्रमेण न गच्छेत्, विद्यमाने पराक्रमेत ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ— ओवाय) गर्तादि (**विसम**) विषम स्थान (**खाणु**) ठूठ (**विज्जल**) कीचड (**परिवज्जए**) छोड देवे (**परक्कमे**) पराक्रम करे (**विज्जमाणे**) विद्यमान होनेपर अन्य मार्गके (**संक्रमेण**) जलादिमें काष्ठादि रखकर संक्रमण करके (**न गच्छेज्जा**) न जावे ॥ ४ ॥

मूलार्थ—साधु खड्डादि स्थान, विषमस्थान वा खीलादिके ऊपर होकर न जाय तथा कीचडके मार्गको छोड देवे तथा अन्य मार्गके विद्यमान होनेपर, नदी आदिको संक्रमण करके न जावे ॥ ४ ॥

भाष्य—इस गाथामें मुख्यतया आत्मविराधनाके परिहारार्थ कथन किया गया है। जैसे कि—जिस मार्गमें विशेष खड्डादि हों तथा वह विशेष ऊंचा वा नीचा हो तथा उस मार्गमें कीलें विशेष हों या काष्ठादि रखे हुए हों तो उनपर होकर न जावे। क्योंकि—इस प्रकार करनेसे आत्म विराधना या संयम विराधना होनेकी सम्भावना भी आ सकती है।

तथा सूत्रमें जो 'विद्यमाने' पद दिया है इसके कथन करनेका यह आशय है कि—यदि अन्य मार्ग विद्यमान न होवे तो साधु यत्न द्वारा उक्त कथन किये हुए मार्गोंसे भी गमन कर सकता है। यद्यपि उत्सर्ग मार्गसे तो उक्त मार्गोंका उल्लंघन न करना चाहिये। किन्तु अपवाद

मार्गके आश्रित होकर यत्न पूर्वक उक्त मार्गोंसे भी आ सकते हैं। विषम स्थानके कथन करनेसे सब प्रकारके विषम मार्गोंका ग्रहण किया गया है ॥ ४ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार इस बातका उपदेश करते हैं कि अवपातादि मार्गोंमें जानेसे क्या दोष उत्पन्न होते हैं—

पवडते व से तत्थ, पक्खलते व संजए ।
हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥ ५ ॥

प्रपतन् वाऽसौ तत्र, प्रस्खलन्वा संयत ।
हिंस्यात्प्राणिभूतानि, त्रसानथवा स्थावरान् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(से) वह (संजए) भावसाधु (तत्थ) उनमें (पवडते) गिरता हुआ (व) अथवा (पक्खलते) स्खलित होता हुआ (पाणभूयाइ) प्राणि और भूतोंकी (तसे) त्रसों (अदुव) अथवा (थावरे) स्थावरोंकी (हिंसेज्ज) हिंसा करता है ॥ ५ ॥

मूलार्थ—वह भावसाधु उन गर्तादि स्थानोंमें गिरता हुआ तथा स्खलित होता हुआ द्वीन्द्रियादि जीवोंकी तथा एकेन्द्रियादि जीवोंकी अथवा त्रसोंकी वा स्थावरोंको हिंसा करता है ॥ ५ ॥

भाष्य—इस गाथामें आत्म विराधना और संयम विराधना, दोनोंका दिग्दर्शन कराया गया है।

प्राणि-भूत और त्रस-स्थावर, ये दोनों परस्पर पर्यायवाची नाम जानने चाहिये।

अपने शरीरको क्लेश पहुँचाना द्रव्य विराधना है और श्रीभगवान्‌की आज्ञाका उल्लङ्घन करना तथा त्रस-स्थावर जीवोंको क्लेश पहुँचाना भावविराधना कहलाती है ॥ ५ ॥

उत्थानिका -यदि इस प्रकारकी विराधना होती है तो फिर साधुको क्या करना चाहिये? अब इसी विषयमें कहते हैं—

तम्हा तेण न गच्छिज्जा, सजए सुसमाहिए।
सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥ ६ ॥

तस्मात्तेन न गच्छेत्, संयतः सुसमाहित ।
सत्यन्ये मार्गे, यतमेव पराक्रमेत् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(**तम्हा**) इसलिये (**संजए**) साधु (**सुसमाहिए**) भले प्रकारसे समाधि रखनेवाला (**अन्नेण मग्गेण**) अन्य मार्गके (**सइ**) होनेपर (**तेण**) पूर्वोक्त मार्गसे (**न गच्छिज्जा**) न जावे। यदि अन्य मार्ग न होवे तो (**जयमेव**) यत्न पूर्वक उक्त मार्गोंमें ही (**परक्कमे**) गमन करे ॥ ६ ॥

मूलार्थ—इसलिये श्रीभगवान्‌की आज्ञा पालन करनेवाला साधु अन्य मार्गोंके होनेपर उक्त मार्गोंसे न जावे। यदि अन्य मार्ग न हो तो यत्नपूर्वक उक्त मार्गमें गमन करे ॥ ६ ॥

भाष्य—इस गाथामें उत्सर्ग और अपवाद मार्गपूर्वक गमनका वर्णन किया गया है। कि—पूर्वोक्त दोषोंको जानता हुआ मुनि उक्त मार्गोंमें गमन न करे परन्तु यदि अन्य मार्ग और कोई विद्यमान होवे तो। यदि अन्य मार्ग कोई दृष्टिगोचर नहीं हो तो यत्नपूर्वक और विशेष उपयोग रखता हुआ पूर्वोक्त मार्गोंसे गमन करे। कारण कि—यदि विना यत्नसे उक्त मार्गोंमें गमन करेगा तो आत्म विराधना और संयम-विराधना दोनोंके होनेकी सम्भावना की जा सकेगी।' अतएव। यदि अन्य मार्ग कोई न होवे तो यत्नपूर्वक पूर्वोक्त मार्गोंसे गमन करे।

गाथाके दूसरे चरणमें जो 'सुसमाहिए'-'सुसमाहित' पद दिया है, उसका अर्थ वास्तवमें 'भले प्रकारसे समाधि रखनेवाला' होता है। लेकिन भले प्रकार समाधि वही रख सकता है, जो कि श्रीभगवान्‌की आज्ञा भले प्रकारसे पालता हो। इसलिये मूलार्थमें 'सुसमाहिए' पदका अर्थ 'श्रीभगवान्‌की भले प्रकार आज्ञा पालनवाला' किया गया है।

गाथाके तीसरे चरणमें 'अन्नेण मग्गेण' जो दो पद दिये हैं वे देखनेमें तृतीयान्त दीखते हैं, लेकिन हैं असलमें ये सप्तम्यन्त पद। छान्दस होनेसे प्राकृतभाषामें इस तरहका विभक्तिव्यत्यय हो जाया करता है। इसलिये उनका अर्थ 'अन्यस्मिन् मार्गे' करना चाहिये ॥ ६ ॥

उत्थानिका—सूत्रकार अब पृथिवीकायकी यत्नाके विषयमें विशेष उल्लेख करते हैं—

इंगालं छारियं रासिं, तुसरासिं च गोमयं।
ससरक्खेहिं पाएहिं, संजओ तं न इक्कमे ॥ ७ ॥

अङ्गारं क्षारराशिं, तुषराशिं च गोमयम्।
सरजस्काभ्यां पद्भ्यां, संयतः तं नाक्रमेत् ॥ ७ ॥

तस्मात्तेन न गच्छेत्, संयतः सुसमाहितः ।
सत्यन्ये मार्गे, यतमेव पराक्रमेत् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(**तम्हा**) इसलिये (**संजए**) साधु (**सुसमाहिए**) भले प्रकारसे समाधि रखनेवाला (**अन्नेण मग्गेण**) अन्य मार्गके (**सइ**) होनेपर (**तेण**) पूर्वोक्त मार्गसे (**न गच्छिज्जा**) न जावे। यदि अन्य मार्ग न होवे तो (**जयमेव**) यत्न पूर्वक उक्त मार्गोंमें ही (**परक्कमे**) गमन करे ॥ ६ ॥

मूलार्थ—इसलिये श्रीभगवान्की आज्ञा पालन करनेवाला साधु अन्य मार्गोंके होनेपर उक्त मार्गोंसे न जावे। यदि अन्य मार्ग न हो तो यत्नपूर्वक उक्त मार्गमें गमन करे।' ६ ॥

भाष्य—इस गाथामें उत्सर्ग और अपवाद मार्गपूर्वक गमनका वर्णन किया गया है। जैसे कि—पूर्वोक्त दोषोंको जानता हुआ मुनि उक्त मार्गोंमें गमन न करे परन्तु यदि अन्य मार्ग और कोई विद्यमान होवे तो। यदि अन्य मार्ग कोई दृष्टिगोचर नहीं हो तो यत्नपूर्वक और विशेष उपयोग रखता हुआ पूर्वोक्त मार्गोंसे गमन करे। कारण कि—यदि विना यत्नसे उक्त मार्गोंमें गमन करेगा तो आत्म-विराधना और संयम-विराधना दोनोंके होनेकी सम्भावना की जा सकेगी।' अतएव ! यदि अन्य मार्ग कोई न होवे तो यत्नपूर्वक पूर्वोक्त मार्गोंसे गमन करे।

कारण कि—साधुवृत्तिमें अत्यन्त विवेककी आवश्यकता है। तभी यह वृत्ति सुखपूर्वक पालन की जा सकती है, अन्यथा नहीं ॥ ७ ॥

उत्थानिका—इसके अनन्तर शास्त्रकार अब अप्कायादिके विषयमें यत्न करनेकेलिये कहते हैं—

न चरेज्ज वासे वासते, महियाए वा पडतिए ।
महावाए व वायते, तिरिच्छसपाइमेसु वा ॥ ८ ॥

न चरेद्वर्षे वर्षति, महिकायां वा पतन्त्याम् ।
महावाते वा वाति, तिर्यक्संपातेषु वा ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(वासे) वर्षाके (वासते) वर्षनेपर (वा) अथवा (महियाए) धुंधके (पडतिए) पड़नेपर (वा) अथवा (महावाए) महावायुके (वायते) वजने—चलनेपर (वा) अथवा (तिरिच्छसपाइमेसु) तिर्यक् गतिवाले अर्थात् पतंग आदिके उड़नेपर (न चरेज्ज) न जावे ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(संजओ) संयत-मुनि (इंगाल) कोयलोंकी राशि (छारिय रासिं) क्षारकी राशि (तुसरासिं) तुषकी राशि (च) तथा (गोमय) गोबरकी राशि (त) उसको (ससरक्खेहिं) रजसे भरे हुए (पाएहिं) पगोंसे (न इक्कमे) अतिक्रम न करे ॥ ७ ॥

मूलार्थ—कोयलोंकी राशि, क्षारकी राशि, तुषकी राशि और गोबरकी राशिको सचित्त रजसे भरे हुए पगोंसे साधु अतिक्रम न करे ॥ ७ ॥

भाष्य—यहांपर कोयलोंकी राशि आदि तो साधारणरूपसे नाम गिना दिये हैं, दरअसल यहांपर सभी प्रकारकी वस्तुओंसे—राशियोंसे आचार्यका अभिप्राय है। और उपलक्षणसे उन सबका यहां ग्रहण भी किया जा सकता है। अथवा गाथाके दूसरे चरणमें जो 'च' शब्द दिया है, उससे अन्य समस्त राशियोंका ग्रहण किया जा सकता है। तब इस गाथाका अर्थ हुआ।—मुनि, सचित्त रजसे भरे हुए पगोंसे उक्त किसी भी राशिको उल्लङ्घन करके आगे न जाय। कारण कि—उन पदार्थोंके स्पर्शसे जो पगोंको सचित्त रज लगी हुई है उन जीवोंकी विराधना हो जानी सम्भव है। अतः मुनि किसी भी राशिको यदि उसके पगादि सचित्त रज आदिसे भरे हुए हों तो अतिक्रम न करे।

न चरेज्ज वेससामंते बंभचेरवसाणुए (गा) ए।
बंभयारिस्स दंतस्स, होज्जा तत्थ विसुत्तिआ ॥ ९ ॥

न चरेद्वेश्यासामन्ते, ब्रह्मचर्यवशानुगः ।
ब्रह्मचारिणो दान्तस्य, भवेदत्र विस्रोतसिका ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(बंभचेरवसाणुए) ब्रह्मचर्यको वशमें करनेवाले (वेससामंते) वेश्याके समीपके स्थानोंमें (न चरेज्ज) न जावे (तत्थ) वहाँ (दंतस्स) जितेन्द्रिय (बंभयारिस्स) ब्रह्मचारीको (विसुत्तिया) अपध्यान–संयमरूपी धान्यके सुखानेवाला मनोविकार (होज्जा) उत्पन्न हो जायगा ॥ ९ ॥

मूलार्थ—साधु ब्रह्मचर्यका नाश करनेवाले वेश्याके समीपके स्थानोंमें न जावे। क्योंकि इन्द्रियोंके दमन करनेवाले ब्रह्मचारीको वहाँपर संयमरूपी धान्यके सुखानेवाला मनोविकार उत्पन्न हो जायगा ॥ ९ ॥

मूलार्थ—वर्षाके बरसनेपर, धुंधके पड़नेपर, महावायुके-आंधीके चलनेपर, तथा पतङ्ग आदिके उड़नेपर साधु गोचरी आदिकेलिये न जावे ॥ ८ ॥

भाष्य—गाथोक्तपरिस्थिति उपस्थित होजानेपर साधु गमन न करे। क्योंकि-इस प्रकार करनेसे आत्म-विराधना तथा संयम विराधना दोनोंके होनेकी सम्भावना है। तथा लोक पक्षमें भी अपवादका हेतु वह गमन करनेवाला मुनि बन जायगा। अतएव! उक्त पदार्थोंके होते हुए मुनि गोचरीकेलिये न आवे। गोचरीकेलिये ही साधु उक्त परिस्थितिके उपस्थित होनेपर गमन न करे, यही बात नहीं है। बल्कि उपलक्षण न 'अन्य क्रियाओंकेलिये भी साधु न जावे,' यह भी अर्थ यहां ग्रहण करना चाहिये। हां! यदि शारीरिक कोई क्रियाएँ करनी हों तो उन क्रियाओंके निरोध करनेका उल्लेख शास्त्रमें नहीं है। जैसे कि—मल मूत्रादिकी चिन्ता दूर करनेकेलिये जाना पड़ जाय तो उक्त समयमें साधुको गमन करनेका निषेध नहीं पाया जाता। कारण कि-उन क्रियाओंके निरोध करनेसे असाध्य रोगोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना की जा सकती है। जिससे फिर बहुतसे कारणोंके-विघ्नोंके उपस्थित हो आनेका समय उपलब्ध हो जायगा ॥ ८ ॥

उत्थानिका—इसी प्रकारसे शास्त्रकार और भी कहते हैं—

उत्थानिका—इस प्रकार सूत्रकर्ताने एक बार गमन क्रियाके करनेका फल तो वर्णन कर दिया, अब पुन पुन गमन क्रियाके करनेका फल दिखलाते हुए कहते हैं—

अणाय [य] णे चरतस्स, ससग्गीए अभिक्खणं ।
हुज्ज वयाणं पीला, सामन्नम्मि अ ससओ ॥ १० ॥

अनायतने चरत , संसर्गेण अभीक्ष्णम् ।
भवेत् व्रतानां पीडा, श्रामण्ये च संशयः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(**अणायणे**) अस्थानमें (**चरतस्स**) चलनेवाले साधुके (**अभिक्खणं**) वारम्वारके (**संसग्गीए**) संसर्गसे (**वयाण**) व्रतोंको (**पीला**) पीडा (**हुज्ज**) होगी (**अ**) फिर (**सामन्नम्मि**) संयमके विषयमें (**संसओ**) संशय उत्पन्न होगा ॥ १० ॥

मूलार्थ—अस्थान-वेश्यादिके मुहल्लेंमें चलनेवाले साधुको वार वारके संसर्गसे व्रतोंको पीडा उत्पन्न होगी और श्रामण्यभावमें संशय उत्पन्न हो जायगा ॥ १० ॥

भाष्य—यद्यपि यह नियम नहीं है कि वेश्याके मुहल्लोंमें होकर निकल जानेसे या उनके मुहल्लेमें आनेसे ब्रह्मचर्य्यका नाश नियमसे हो ही जाय। कभी कभी ब्रह्मचर्य्यका नाश वहां जानेसे या उधर होकर निकल आनेसे नहीं भी होता। कभी-कभी क्यों, प्रायः नहीं होता। बल्कि यों कहना चाहिये कि होता है सो कभी-कभी होता है। अर्थात् इत्तिफ़ाक़से तीव्र कर्मोदयसे कभी किसी साधुसे इस प्रकारकी अनर्थकारी घटना घटी हो तो घटी हो। इसके पर भी शास्त्रकारने वहां जानेका अथवा उधरसे जानेका जो सर्वथा निषेध किया है, उसका यह मतलब है कि शास्त्रकार उस संसर्गका भी निषेध किया करते हैं, जिससे संयमके बिगड़ जानेकी सम्भावनामात्र हो। इसलिये साधुका उस स्थानपर जाना या उस स्थानके पास होकरके निकल जाना भी निषिद्ध है, जहांपर आनेसे उनके चित्तोद्भव ब्रह्मचर्य्यके बिगड़ जानेकी सम्भावना भी हो।

शास्त्रकारका ऐसे सम्भवनीय स्थानोंका निषेध करना उचित भी है। क्योंकि यदि व्रत भङ्ग न हुआ तब तो कुछ बात ही नहीं है। और यदि व्रत भङ्ग हो गया तो सर्वस्व नष्ट हो जायगा। सर्वस्व तो व्रत ही है। इसलिये ब्रह्मचर्य्यकी रक्षाकेलिये इस प्रकारके मार्गोंसे पृथक् रहनेकी संयमी ब्रह्मचारीकेलिये अत्यन्त आवश्यकता है॥ ९॥

उत्थानिका—इसलिये साधुका अब क्या करना चाहिये ? सो कहते हैं—

तम्हा एयं विआणित्ता, दोस दुग्गइवड्ढणं ।
वज्जए वेससामंत, मुणी एगतमस्सिए ॥ ११ ॥

तस्मादेतत् विज्ञाय, दोष दुर्गतिवर्द्धनम् ।
वर्जयेद्वेश्यासामन्त, मुनिरेकान्तमाश्रितः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(तम्हा) इसलिये (एगतमस्सिए) एकान्तमें रहनेवाला (मुणी) मुनि (एयं) इस प्रकार (दुग्गइवड्ढणं) दुर्गतिके बढानेवाले (दोस) दोषको (विआणित्ता) जानकर (वेससामंत) वेश्याके समीप भागको (वज्जए) छोड देवे ॥ ११ ॥

मूलार्थ--इसलिये एकान्तम रहनवाला अर्थात् मोक्षमार्गके आश्रय रहनेवाला मुनि इस प्रकार दुर्गतिके बढानेवाले दोषोंको जानकर वेश्याके समीपके मार्गको भी छोडदे ॥ ११ ॥

भाष्य—इस गाथामें वेश्यादिके स्थानोंमें जानेसे जो फल उत्पन्न होता है, वह दिखलाया गया है। जैसेकि—जिन मार्गोंमें साधुकेलिये चलनेका निषेध है यदि उन मार्गोंमें—वेश्यादिके मुहल्लोंमें वारम्वार जायगा तो वेश्यादिके संसर्गसे उसके व्रतोंको पीड़ा उत्पन्न हो जायगी और पवित्र चारित्रमें संशय उत्पन्न हो जायगा। जिसका परिणाम यह निकलेगा कि वह ब्रह्मचारी अपने धारण किये हुए ब्रह्मचर्य्यसे भ्रष्ट हो जायगा।

सूत्रकर्ताने 'वयाण'-'व्रतानां' जो बहुवचनान्त पद दिया है, उसका यह आशय है कि—ऐसा करनेसे पीड़ा केवल ब्रह्मचर्य्यको ही नहीं है किन्तु पञ्चव्रतोंको भी पीड़ा होगी। जैसे कि—अनुपयोगपूर्वक चलनेसे हिंसाव्रतको पीड़ा, पूछनेपर असत्य वचन बोला कि—मैं उस मार्गसे नहीं गया हूँ तो द्वितीय महाव्रतको पीड़ा, श्रीभगवान्‌की आज्ञा न होनेसे अदत्तादान व्रतको पीड़ा, ब्रह्मचर्य्यव्रतको पीड़ा तो है ही, साथही पुनः पुनः गमन करनेसे ममत्वभाव बढ़ जानेके कारण पञ्चम महाव्रतको पीड़ा और रात्रिभोजनकी अभिलाषा हो जानेसे छठे व्रतको भी पीड़ा हो सकती है। इस प्रकार पुनः पुनः गमनक्रियाके करनेसे छहों व्रतोंको भी पीड़ा हो सकती है। और संयम भावमें संशय—अश्रद्धाका भाव उत्पन्न हो जायगा, यह प्रसंग ॥ १० ॥

प्रकारसे सफलीभूत नहीं होता। सामायिक, स्वाध्याय, जप, तप, मनन ध्यान आदि कामोंमें तो उपयोगके स्थिरताकी अत्यन्त आवश्यकता है। और मुनिवर्गका यह कार्य प्रधानतम है† इसलिये उन्हें एकान्त अर्थात् निर्जन स्थानकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसीलिये वे प्रायः एकान्तस्थानमें ही रहते हैं। और इसीलिये 'एगंत' का अर्थ यहांपर 'एकान्त—निर्जन स्थान' है, अनेकान्तका विरोधी एकान्त नय' नहीं है। 'एकान्त' शब्दके दोनों अर्थ होते हैं। जहांपर जो अर्थ संगत हो, वहांपर वह अर्थ लगाना चाहिये।

यह एकान्त स्थान भी मोक्षतक पहुँचनेकेलिये एक प्रधान कारण है। इसलिये मूलार्थमें 'एगंतमस्सिए' का अर्थ 'मोक्षमार्गके आश्रय रहनेवाला मुनि' किया गया है ॥ ११ ॥

उत्थानिका—शास्त्रकार अब गमन क्रियाके यत्न विषयमें और भी विशेष प्रतिपादन करते हैं—

साण सूइय गाविं, दित्त गोण हय गय।
साडिम्भ [डिम्भं] कलह जुद्ध, दूरओ परिवज्जए ॥ १२ ॥

---

† 'ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते।'

भाष्य—इस गाथामें प्रस्तुत प्रकरणका निगमन किया गया है। जैसे कि—उक्त गाथासे सिद्धान्त यह निकलता है कि—चतुर्थ महाव्रतकी रक्षाकेलिये साधुको शङ्कनीय मार्गोंमें भी आना योग्य नहीं है।

यहां यदि यह शङ्का की जाय कि—प्रथमव्रत विराधनाके अनन्तर एकदम चतुर्थव्रत विराधनाके विषयमें क्यों कहा गया है? तो इसका समाधान यह है कि—चतुर्थव्रतकी प्रधानता दिखलानेकेलिये ऐसा कहा गया है। कारण कि—चतुर्थ व्रतके न पालनेसे साधुको अनेक प्रकारके असत्यादिका भी प्रयोग करना पड़ेगा। अतएव! चतुर्थव्रतकी रक्षाकेलिये उपदेश देनेसे शेष व्रतोंकी रक्षाका उपदेश स्वयमेव हो जाता है।

इसपर दूसरी शङ्का यहां यह पैदा हो सकती है कि—क्या चतुर्थ व्रतकी रक्षाके वास्ते साधु असत्यादिका प्रयोग कर सकता है? तो इसका समाधान यह है कि—प्रथम महाव्रतकी रक्षाके वास्ते ही शेष व्रत कथन किये गये हैं। अर्थात् असत्यादिसे रक्षा नहीं होती किन्तु सत्यादिके प्रयोगसे रक्षा हो सकती है।

जीवका उपयोग एकान्त अर्थात् निर्जन स्थानमें जितना स्थिर होता है, बहुजनाकीर्ण और कोलाहलवाली जगहमें उतना नहीं होता। बिना उपयोगके स्थिर हुए जीवका कोई भी काम भले

'द्वि' 'हसम्'—'मत्ता मत्त' विशेषणवाचक शब्द सिर्फ 'गोणं'-'गावम्'—बैलके साथ ही न लगाना चाहिये, बल्कि शब्द दो 'हय गय'— हय गजम्'—'घोड़ा और हाथी' के शब्दके साथ भी लगाना चाहिये।

गाथाके तीसरे चरणमें 'सडिम्भ'—'सडिम्भ' शब्दका तो अर्थ 'बालकोंके खेलनेका स्थान होता है। लेकिन 'कलह जुद्धं'—'कलहं युद्धम्'—का शुद्ध अर्थ सिर्फ 'कलह और युद्ध' ही होता है, 'कलहका स्थान और युद्धका स्थान' नहीं होता। इसलिये यहांपर 'गङ्गाया घोष' की भांति ध्वनि मान कर 'कलह और युद्ध' का अर्थ 'कलह स्थान और युद्धस्थान' भी करना चाहिये।

साधुकेलिये गमन करते समय इनका संयोग इसलिये वर्जित है कि ये संयोग आत्म-विराधना और संयम-विराधना, दोनोंके ही कारणीभूत हैं।

उपरोक्त विवेचनका सम्मिलित अर्थ इस प्रकार करना चाहिये——

जिस स्थानपर कुत्ता बैठा हुआ हो या श्वानमण्डली लगी हुई हो; इसी प्रकार नवप्रसूता गौ, मदोन्मत्त बैल मदोन्मत्त अश्व, मदोन्मत्त हाथी आदि खड़े हों; बालकोंका क्रीड़ास्थान हो, परस्पर वचनयुद्ध होता हो तथा खड्गादिसे युद्ध होता हो तो साधु ऐसे स्थानोंको दूरसे ही छोड़ देवे।' कारण कि—उक्त स्थानोंमें गमन करनेसे आत्म विराधना या संयम विराधना, दोनों

साणं सूइअं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(साण) कुत्तेको (सुइय गाविं) नव प्रसूता गौको (दित्त) दर्पित (गोण) बलीवर्दको (हय) अश्वको (गय) हाथीको (संडिब्भ) बालकोंके क्रीडास्थानको (कलह) कलहको (जुद्ध) युद्धको (दूरओ) दूरसे (परिवज्जए) छोड देवे ॥ १२ ॥

मूलार्थ--साधुको मार्गमें यदि कुत्ता, नव प्रसूता गौ, मदोन्मत्त बैल, अश्व, हस्ती, बालकोंके क्रीडाका स्थान, कलहका स्थान, युद्धका स्थान मिल जाय तो उन्हें छोडकर गमन करे ॥ १२ ॥

भाष्य— यहांपर 'साणं'--'श्वानम्'--में जो एक वचन है, वह जातिवाचक है। इससे यहांपर 'एक कुत्ता और अनेक कुत्ते' का भी अर्थ समझना चाहिये।

उसी तरहसे 'सूइय गाविं' -'सूतां गाम्'—ब्याई हुई गाय' का अर्थ भी उपलक्षण सहित करना चाहिये। जिससे ब्याई हुई ऊटनी, भैंस, बकरी आदि भी ग्रहण की जा सकती हैं।

अथवा 'गो' शब्द गायवाचक भी है और सामान्य पशुवाचक भी है। इसलिये यहांपर उसे सामान्य पशुवाचक भी मानकर अर्थ किया जा सकता है।

मूलार्थ—साधु चलते हुए न तो अति ऊंचेको देखे, न अति नीचेको देखे, न हर्षित हो, न व्याकुल हो किन्तु इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंमें वश करता हुआ गोचरी आदिमें जावे ॥ १३ ॥

भाष्य—गाथामें कहा गया है कि साधु गमन करते समय उन्नतपनेसे गमन न करे। उन्नतपनेसे गमन करना दो तरहका है। एक द्रव्यसे, दूसरे भावसे। ईर्यासमितिको छोड़कर आकाशादिको निहारते हुए गमन करना, द्रव्यरूप उन्नतपनेसे गमन करना है। और अपनी श्रेष्ठ जाति आदिका अभिमानभाव मनमें रखते हुए गमन करना, भावरूप उन्नतपनेसे गमन करना है।

जिस तरहसे उन्नतपनेसे गमन करना दो तरहका है, उसी तरहसे नीचेपनेसे गमन करना भी दो तरहका है। एक द्रव्यसे, दूसरे भावसे। अत्यन्त नीची दृष्टि करके चलना, इतनी नीची दृष्टि करके कि साधुकेलिये शास्त्रमें साढ़े तीन हाथ प्रमाण अगाड़ी देखकर चलनेकी जो आज्ञा है, उतना भी अगाड़ी देखकर न चलना, द्रव्यरूप अवनतपनेसे गमन करना है। और आहार-पानीकी प्राप्ति न होनेपर मनमें नीचैर्वृत्ति धारण करते हुए गमन करना, भावरूप अवनतपनेसे गमन करना है।

संभव है। जैसे कि—श्वानादि पशु तो आत्म विराधना करनेमें अपनी सामर्थ्य रखते ही हैं और यहांपर बालकों के खेलनेका स्थान है, यदि उस स्थानपरसे आया जायगा तो वे बालक भी उपहासादि द्वारा वा मल्लादि द्वारा संयम विराधना करनेमें विलम्ब नहीं करेंगे। अतएव ! उक्त दोनों विराधनाके भयसे साधु उक्त स्थानोंमें गमन ही न करे ॥ १२ ॥

उत्थानिका—शास्त्रकार अभी उसी विषयका वर्णन कर रहे हैं—

अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले ।
इंदियाणि जहाभाग, दमइत्ता मुणी चरे ॥ १३ ॥

अनुन्नतो नावनत, अप्रहृष्टः अनाकुल ।
इन्द्रियाणि यथाभाग, दमयित्वा मुनि श्चरेत् ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(मुणी) मुनि (अणुन्नए) न उन्नत होकर (नावणए) न अवनत होकर (अप्पहिट्ठे) न हर्षित होकर (अणाउले) न आकुलित होकर (इंदियाइ) इन्द्रियोंको (जहाभाग) अपने-अपने हिस्सेमें–विषयमें (दमिइत्ता) वशमें करके (चरे) गोचरी आदिमें जावे ॥ १३ ॥

इत्यादि अनेक दोषोंकी सम्भावना की जा सकती है। इसलिये साधुको उचित है कि वह विवेकपूर्वक इन बातोंका ख्याल करते हुए गवेषणा आदिकेलिये गमन करे।

इतना ही नहीं, किन्तु पाचों इन्द्रियोंके विषयोंसे अपने मनको हटाकर और राग द्वेषसे रहित होकर ही मुनि गोचरी आदिमें गमन करे।

स्पर्शेन्द्रियका विषय है—स्पर्श करना, जिह्वेन्द्रियका विषय है—चखना, घ्राणेन्द्रियका विषय है—सूंघना, चक्षुरिन्द्रियका विषय है—देखना और श्रोत्रेन्द्रियका विषय है—सुनना। इस तरह पांचों इन्द्रियोंके विषय अलग-अलग विभाजित हैं—बंटे हुए हैं। इसीलिये गाथाके 'जहाभाग' शब्दका अर्थ 'अपने-अपने हिस्सेमें—विषयमें' किया गया है ॥ १३ ॥

उत्थानिका—शास्त्रकार इसी विषयमें कुछ और विशेष प्रतिपादन करते हैं—

दवदवस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो अ गोयरे।
हसंतो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया ॥ १४ ॥

पदार्थके मिलजानेपर हर्षित होना और नहीं मिलनेपर आकुलता—क्रोधादि करना भी साधुकेलिये अनुचित है। उक्त प्रकारसे गमन करनेपर साधुकेलिये उपहासादि अनेक दोष उत्पन्न हो सकते हैं। जैसे कि—

यदि साधु द्रव्यरूप अत्यन्त उन्नतपनेसे चलेगा तो वह लोकमें उपहासके योग्य होजायगा।

यदि साधु भावरूपसे अत्यन्त उन्नतपनेसे चलेगा तो वह सूत्रोक्त ईर्यासमितिकी पालना न कर सकेगा।

यदि साधु द्रव्यरूपसे अत्यन्त अवनतपनेसे चलेगा तो वह लोकमें बकवृत्तिसे गमन करने वाला कहा जायगा।

यदि साधु भावरूपसे अत्यन्त नीचेपनेसे चलेगा तो वह लोकमें क्षुद्रसत्ववाला कहा जायगा।

यदि साधु हर्षित होकर चलेगा तो लोग कहेंगे कि साधु योषितोंके वशीभूत आनन्दित होता हुआ जा रहा है।

यदि साधु आकुलित होता हुआ चलेगा तो लोग यह कहेंगे कि यह साधु दीक्षाके योग्य नहीं है।

'उन्नायय' शब्दके १-उच्चनीच, २-अनुकूल-प्रतिकूल, ३ अन्यथास्वत, ४-विविध, ५-अति उत्तम, ६-महायत और ७-महाव्रतधारी, ये सात अर्थ होते हैं। लेकिन यहांपर उसके संगमें शास्त्रकारने 'कुल' विशेषण दिया है। इसलिये उसका अर्थ यहांपर 'ऊच-नीच कुल' ही किया गया है ॥ १४ ॥

उत्थानिका--शास्त्रकार इसी विषयमें कुछ और भी विशेष प्रतिपादन करते हैं—

आलोअ थिग्गल दार, संधिं दगभवणाणि अ ।
चरंतो न विणिज्झाए, संकट्ठाण विवज्जए ॥ १५ ॥

अवलोक चित द्वार, सन्धिमुदकभवनानि च ।
चरन्न विनिध्यायेत्, शङ्कास्थान विवर्जयेत् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(आलोय) गवाक्षादि-झरोखे (थिग्गल) चिना हुआ वा भित्ति (दार) द्वारादि (संधिं) चौगतिके द्वारा किया हुआ-सेंधा (अ) और (दग भवणाणि) पानीके

द्रुत द्रुत न गच्छेत्, भाषमाणश्च गोचरे।
हसन्नाभिगच्छेत्, कुलमुच्चावचं सदा ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(गोयरे) गोचरीकेलिये (दवदवस्स) जल्दी-जल्दी (अ) और (भासमाणो) भाषण करता हुआ (न गच्छेज्जा) न जावे (हसंतो) हँसता हुआ (उच्चावय कुल) ऊंच वा नीच कुलमें (सया) सदा—कभी भी (नाभिगच्छेज्जा) न जावे ॥ १४ ॥

मूलार्थ—साधु गोचरीकेलिये कभी भी जल्दी-जल्दी गमन न करे, बात चीत करता हुआ एवं हँसता हुआ ऊंच-नीच कुलमें गमन न करे ॥ १४ ॥

भाष्य—जल्दी-जल्दी बात चीत करते हुए ऊँच नीच कुलमें गमन करनेसे साधुकी अयोग्यता प्रदर्शित होती है और ईर्यासमितिका पालन भी नहीं होता। संयमरूप तथा आत्मरूप ... लोकापवादादि दोषोंके होनेकी भी सम्भावना रहती है।

... के भी द्रव्य और भावकी अपेक्षासे दो दो भेद हैं। जैसे कि गृहवासी द्रव्यसे ... आत्यादियुक्त भावसे उच्च कुल माना जाता है। उसी प्रकार कुटीरवासी ... और हीनआत्यादियुक्त भावसे नीच कुल माना जाता है।

'उच्चावय' शब्दके १-उच्चनीच, २-अनुकूल-प्रतिकूल, ३ अव्यवस्थित, ४-विविध, ५-अति उत्तम, ६-महाव्रत और ७-महाव्रतधारी, ये सात अर्थ होते हैं। लेकिन यहांपर उसके संगमें शास्त्रकारने 'कुल' विशेषण दिया है। इसलिये उसका अर्थ यहांपर 'ऊंच-नीच कुल' ही किया गया है ॥ १४ ॥

उत्थानिका--शास्त्रकार इसी विषयमें कुछ और भी विशेष प्रतिपादन करते हैं—

आलोअं थिग्गलं दारं, संधिं दगभवणाणि अ ।
चरंतो न विणिज्झाए, संकट्ठाणं विवज्जए ॥ १५ ॥

अवलोकं चितं द्वारं, संधिमुदकभवनानि च ।
चरन्न विनिध्यायेत्, शङ्कास्थानं विवर्जयेत् ॥ १५ ॥ थिग्गल = उगल उगली, उगलवाली दीवार

अन्वयार्थ—(आलोयं) गवाक्षादि-झरोखे (थिग्गलं) चिना हुआ वा भित्ति (दारं) द्वारादि (संधिं) चौरादिके द्वारा किया हुआ-पेंडा (अ) ओर (दगभवणाणि) पानीके

गृहादिको (चरंतो) गोचरीमें चलता हुआ (न विणिज्झाए) न देखे (सकठाणं) शंकाके स्थानोंको (विवज्जए) छोड देवे ॥ १५ ॥

मूलार्थ—गोचरीकेलिये जाता हुआ साधु झरोखादिको, भित्तिको, द्वारादिको, संधको—पर्देको, और पानीके भवनोंको मार्गमें न देखे तथा शंकाके सब स्थानोंको छोड देवे ॥ १५ ॥

भावार्थ उक्त स्थानोंको साधु इसलिये न देखे कि उनके बार-बार अवलोकन करनेसे कदाचित् लोगोंके मनमें यह सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि यह भिक्षु उक्त स्थानोंको पुनः पुनः क्यों देख रहा है ? क्या यह चोर आदि है ? या, क्या इसीने चोरी आदि की है ? इसीलिये शास्त्रकारने गाथामें 'संकट्ठाणं'—'शङ्कास्थानम्' पद दिया है अर्थात् ये स्थान शङ्कास्पद हैं।

लेकिन उपरोक्त अर्थ तभी घट सकता है, जब कि 'संकट्ठाणं' पदको 'आलोयं' आदि पदोंका विशेषण माना जाय।

लेकिन एक अपेक्षा 'संकट्ठाणं' 'आलोयं' आदि पदोंका विशेषण नहीं भी हो सकता। क्योंकि एक तो यह दूर—बीचमें चरणमें पड़ा हुआ है। दूसरे बीचमें 'चरंतो न विणिज्झाए'—

'चरन्तं न विनिज्झायेत्' अपूर्ण और पूर्ण क्रियापद भी पड़े हुए हैं, जिनसे कि 'आलोअं' आदि पूर्व पदोंका सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। ऐसी हालतमें 'संकट्ठाणं' को पूर्वमें कहे हुए 'आलोअं' आदि पदोंका विशेषण न मानकर स्वतन्त्र माना जा सकता है और उसका सम्बन्ध केवल 'विवज्जए' क्रियासे किया जा सकता है। तब उसका अर्थ होगा 'शङ्काके स्थानोंको छोड़ दे' यही अर्थ सुगम है। इसलिये यही अर्थ अन्वयार्थ और मूलार्थमें लिखा गया है।

यह याद रखना चाहिये कि उक्त स्थानोंको साधुके बार-बार अथवा विशेषरूपसे देखनेहीका निषेध है। और इसीलिये शास्त्रकारने 'न विणिज्झाए' में 'वि' उपसर्ग लगाया है, जिसका भाव है 'विशेषेण न पश्येत्'।

'आलोअं' शब्दके १-प्रकाश, २-देखना, ३-विशेषरूपसे देखना, ४-समान भूभाग, ५-झरोखा, ६-संसार और ७-रूपी पदार्थ, ये सात अर्थ होते हैं। इनमेंसे यहांपर जो-जो अर्थ घटित हों, उन्हें घटा लेना चाहिये ॥ १५ ॥

उत्थानिका - शास्त्रकार इसी प्रकारके और भी कुछ स्थान गिनाते हैं—

रण्णो गिहवईणं च, रहस्सारक्खियाण य ।
संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥ १६ ॥

राज्ञ गृहपतीनां च, रहस्यारक्षकानां च ।
सङ्क्लेशकरं स्थानं, दूरतः परिवर्जयेत् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(रण्णो) राजाके (गिहवईण) गृहपतियोंके (य) और (आरक्खियाण) कोटपालादिके (रहस्स) गुप्त वार्तादि करनेके स्थानको तथा (संकिलेसकरं ठाणं) क्लेशकारक स्थानोंको (दूरओ) दूरसे (परिवज्जए) छोड़ दे ॥ १६ ॥

मूलार्थ—राजा, नगरसेठ, कोतवाल आदिके गुप्त वार्तालापादि करनेके स्थानको और दुःखदायी स्थानोंको साधु दूरसे ही छोड़ दे ॥ १६ ॥

भाष्य—गाथामें 'रण्णो'—'राजा', 'गहवईण'—'गृहपति' और 'आरक्खियाण'—'आरक्षिकानाम्' जो पद दिये हैं, उन्हें उपलक्षण समझना चाहिये। और उससे तत्सदृश राज्यके अन्य उच्च कर्मचारी तथा अन्य प्रतिष्ठित नागरिकोंका भी ग्रहण करना चाहिये। अथवा 'च' से उनका समुच्चय कर लेना चाहिये।

'संकिलेसकरं ठाण'—'संक्लेशकरं स्थानम्' पदसे असद् इच्छाकी प्रवृत्ति करनेके स्थान, मन्त्रभेद करनेके स्थान, विचार करनेके स्थान, कर्पणक्रियाएं करनेके स्थान और उपलक्षणसे कामक्रीडाके स्थान ग्रहण करना चाहिये ।

पिण्डैषणा आदिकेलिये गमन करता हुआ साधु उक्त स्थानोंको दूरसे ही इसलिये छोड़ देवे कि उक्त स्थानोंमें गमन करनेसे शासनकी लघुता तथा आत्मविराधना होनेकी सम्भावना है ।

यहां यदि यह शङ्का की जाय कि गमन करते हुए साधुको यदि इन स्थानोंका पता ही न लगे और वह भूलसे वहां तक पहुँच जाय तो फिर वह वहां क्या करे ? इसका समाधान यह है कि यदि भूलसे कदाचित् ऐसा हो जाय तो साधुको वहां खड़ा बिल्कुल न होना चाहिये । अथवा जिस प्रकारसे उन लोगोंके अन्तःकरणमें किसी प्रकारकी शङ्का उत्पन्न न हो सके उस प्रकारसे साधुको यतना चाहिये क्योंकि शङ्काके उत्पन्न हो जानेसे कई प्रकारकी आपत्तियोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना है ॥ १६ ॥

उत्थानिका—शास्त्रकार इसी प्रकारके और भी स्थान बतलाते हैं—

राज्ञ गृहपतीनां च, रहस्यारक्षकानां च ।
सङ्क्लेशकर स्थान, दूरतः परिवर्जयेत् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(**रण्णो**) राजाके (**गिहवईण**) गृहपतियोंके (**य**) और (**आरक्खियाण**) कोटपालादिके (**रहस्स**) गुप्त वार्तादि करनेके स्थानको तथा (**संकिलेसकर ठाण**) क्लेशकारक स्थानोंको (**दूरओ**) दूरसे (**परिवज्जए**) छोड़ दे ॥ १६ ॥

मूलार्थ—राजा, नगरसेठ, कोतवाल आदिके गुप्त वार्तालापादि करनेके स्थानोंको और दुखदायी स्थानोंको साधु दूरसे ही छोड़ दे ॥ १६ ॥

भाष्य—गाथामें 'रण्णो'—'राजा', 'गहवईण'—'गृहपति' और 'आरक्खियाण'—'आरक्षिकाणाम्' जो पद दिये हैं, उन्हें उपलक्षण समझना चाहिये। और उससे तत्सदृश राज्यके अन्य उच्च कर्मचारी तथा अन्य प्रतिष्ठित नागरिकोंका भी ग्रहण करना चाहिये। अथवा 'च' से उनका समुच्चय कर लेना चाहिये।

शानीप्रावारपिहितं, आत्मना नापवृणुयात्
कपाट न प्रेरयेत्, अवग्रहमयाचित्वा ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(साणीपावारपिहियं) सनकी बनी हुई चिकसे अथवा वस्त्रादिसे ढँके हुए द्वारको (उग्गहंसि) आज्ञा (अजाइया) बिना मांगे (अप्पणा) स्वयमेव (नावपगुरे) न खोले (कवाडं) गृहके कपाटोंको (नो पणुल्लिज्जा) न खोले ॥ १८ ॥

मूलार्थ—सनकी बनी हुई चिकसे अथवा कपडेसे ढँके हुए द्वारको गृहपतिकी आज्ञाके बिना साधु स्वयं आप न खोले ॥ १८ ॥

भाष्य—गृहपतिकी आज्ञा बिना साधु किसी द्वार आदि आवरणको इसलिये नहीं खोले कि न जाने अन्दर गृहस्थकी कौनसी क्रिया हो रही हो ! गृहस्थ उसे उन्हें बतलाना न चाहता हो, या वह क्रिया इनको बतलाने योग्य न हो तो यदि मुनि अचानक उसके यहां पहुँच जायँगे तो घरवालोंको क्रोधादि उत्पन्न होनेकी सम्भावना है ।

'साणी' की संस्कृत छाया जैसे 'शानी' की गई है, वैसी ही 'शणी' भी होती है। जिसका

दो अर्थ हैं। एक तो यह कि 'जिन घरवालोंको साधुका अपने यहाँ आना अच्छा न लगता हो'। दूसरा यह कि 'जिन घरोंमें जानेसे साधु औरोंको अच्छा न लगता हो—साधुकी उसमें प्रतिष्ठा जाती हो। जैसे कि वेश्या आदिके घर। इन कुलोंमें साधु इसलिये न जाय कि वहांपर जानेसे संक्लेश आदिके उत्पन्न होनेका प्रसङ्ग आजायगा।

साधु उन्हीं कुलोंमें आहार-पानीकेलिये गमन करे, जिनमें जानेसे उनपर भक्ति भाव उत्पन्न हो जाय।

वृद्धव्याख्यासे उक्त पदका अर्थ यह भी सुना जाता है कि—जिन कुलोंकी प्रतीति नहीं है उन कुलोंमें मुनि प्रवेश न करें, कारण कि—वहांपर जानेसे साधुकी भी अप्रतीति लोगोंमें हो जायगी ॥ १७ ॥

उत्थानिका– मार्ग और कुलोंके विषयमें कथन करनेके बाद शास्त्रकार अब यह कहते हैं कि घरपर पहुँच जानेके बाद साधुको किन-किन बातोंका ख्याल रखना चाहिये—

साणीपावारपिहियं, अप्पणा नावपंगुरे।
कवाडं नो पणुल्लिज्जा, उग्गहंसि अजाइया ॥ १८ ॥

गोचराग्रप्रविष्टस्तु, वर्चः मूत्र न धारयेत् ।
अवकाश प्रासुक ज्ञात्वा, अनुज्ञाप्य व्युत्सृजेत् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(गोयरग्गपविट्ठो) गोचराग्रमें गया हुआ (अ) फिर (वच्च) पुरीष-बड़ी नीत (मुत्त) मूत्रकी बाधा-लघु नीत (न धारए) धारण करके न जाय (फासुअ) प्रासुक-निरवद्य (ओगास) जगह (नच्चा) जानकर (अणुन्नविअ) और गृहस्थकी आज्ञा लेकर (वोसिरे) व्युत्सृज करे ॥ १९ ॥

मूलार्थ—अव्वल तो मल मूत्रकी बाधापूर्वक साधु गोचरकीलिये न जावे । यदि वहां जानेपर बाधा होजाय तब प्रासुक मल-मूत्रका स्थान जानकर और गृहस्थकी आज्ञा लेकर ही मल-मूत्रका परित्याग करे ॥ १९ ॥

भाष्य—गोचरीका समय मध्याह्नके कुछ ही पूर्व है । मूत्र-पुरीषकी बाधाकी निवृत्तिका समय प्रातःकालका है । इस तरहसे यद्यपि गोचरीके समयसे पूर्व मुनि मूत्र-पुरीषसे निवृत्त हो ही लेते हैं, तो भी गोचरीको आते समय साधुओंको विचार लेना चाहिये कि शरीरको किसी प्रकारकी-मूत्र पुरीषादिकी बाधा तो नहीं है । यदि मालूम दे तो उसे स्वस्थानपर ही निवृत्त कर लेना चाहिये ।

अर्थ होता है 'कुतिया'। लेकिन अगाड़ी 'पाणए' जो शब्द पड़ा हुआ है, उसके संयोगसे यहांपर 'शानी' ही छाया करना ठीक है, जिसका कि अर्थ 'उससे बना हुआ वत्स अर्थात् शिशु' है।

'उग्गह' 'अवग्रह' के अर्थ भी 'अवग्रह' नामक मतिज्ञान विशेष, उपकार, आज्ञा, नियम, परिग्रह, निवासस्थान, अन्तर, निश्चय, उपकरणविशेष, योनिद्वार, आश्रय, और अपनी वस्तु, इतने होते हैं। प्रकरणवश यहांपर 'आज्ञा' अर्थ ही उचित है।

इस गाथामें शास्त्रकारने उत्सर्ग और अपवाद, इन दोनों मार्गोंका दिग्दर्शन करा दिया है। समयके जाननेवाले विवेकशील साधु जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको देखें वैसा ही व्यवहार करें। और जो क्रिया करें उसमें उत्सर्ग मार्ग या अपवाद मार्गका आश्रय वे अवश्य ले लें ॥ १८ ॥

उत्थानिका—गोचरीकेलिये साधु जब जाय, तब मल मूत्रकी बाधासे पहिले ही वह निवृत्त हो ले। यदि कदाचित् गृहस्थके घर जाकर बाधा उपस्थित हो जाय तो वहांपर साधु क्या करे ? सो कहते हैं—

गोयरग्गपविट्ठो अ, वच्चमुत्तं न धारए।
ओगासं फासुअं नच्चा, अणुन्नविअ वोसिरे-॥ १९ ॥

गोचराग्रप्रविष्टस्तु, वच मूत्र न धारयेत् ।
अवकाशं प्रासुकं ज्ञात्वा, अनुज्ञाप्य व्युत्सृजेत् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(गोयरग्गपविट्ठो) गोचराग्रमें गया हुआ (अ) फिर (वच्च) पुरीष-बड़ी नीत (मुत्त) मूत्रकी बाधा-लघु नीत (न धारए) धारण करके न जाय (फासुअ) प्रासुक-निरवद्य (ओगास) जगह (नच्चा) जानकर (अणुन्नविअ) और गृहस्थकी आज्ञा लेकर (वोसिरे) व्युत्सृज करे ॥ १९ ॥

मूलार्थ—अव्वल तो मल मूत्रकी बाधापूर्वक साधु गोचरीकेलिये न जावे । यदि वहां जानेपर बाधा होजाय तब प्रासुक मल-मूत्रका स्थान जानकर और गृहस्थकी आज्ञा लेकर ही मल-मूत्रका परित्याग करे ॥ १९ ॥

भाष्य—गोचरीका समय मध्याह्नके कुछ ही पूर्व है । मूत्र-पुरीषकी बाधाकी निवृत्तिका समय प्रातःकालका है । इस तरहसे यद्यपि गोचरीके समयसे पूर्व मुनि मूत्र-पुरीषसे निवृत्त हो ही लेते हैं, तो भी गोचरीको जाते समय साधुओंको विचार लेना चाहिये कि शरीरको किसी प्रकारकी-मूत्र पुरीषादिकी बाधा तो नहीं है । यदि मालूम दे तो उसे स्वस्थानपर ही निवृत्त कर लेना चाहिये ।

इसके बाद भी—गृहस्थके घर पहुँच जानेपर भी यदि कदाचित् बाधा प्रतीत हो तो साधुको उचित है कि वे गृहस्थकी आज्ञा लेकर और प्रासुक स्थान देखकर वहां मूत्र-पुरीषका उत्सर्जन करें। ऐसा न करनेसे अनेक रोगोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना है। जैसे कि—मूत्रावरोधसे मेढ्ररोग और पुरीषावरोधसे अनेक रोग तथा जीवोपघात आदि होते हैं। इसीलिये सूत्रकर्त्ताने इस प्रकारकी आज्ञा प्रदान की है।

इसके बाद यहां यह शङ्का की जा सकती है कि—जब मुनि उक्त शुद्ध स्थानपर मल मूत्रादिका परित्याग करदे तब वहां वह अपनी शुद्धि किस प्रकारसे करे? इसका समाधान यह है कि—यदि उनके पास अन्य साधु हों तो वे साधु कहींसे प्रासुक जल लाकर उन्हें दे दें। यदि अन्य साधु उनके समीप न हों तो वे प्रथम प्रासुक मृत्तिकासे शुद्धि कर फिर स्व-उपाश्रयमें आकर जलादिसे शुद्धि कर सकते हैं। इस प्रकार जैन ग्रन्थोंमें प्रतिपादन किया गया है†। सो उक्त विधिसे बाधासे रहित होकर फिर प्रस्तुत विषयमें प्रवृत्त हो जावें॥ १६॥

---

† "यतः संघाटकाय स्वकमागमाति समप्य प्रतिश्रयात् पानीयं गृहीत्वा सप्तमो विधिना व्युत्सृजेत्। विस्तरतो यथा ओघनिर्युक्तौ"।

उत्थानिका—शास्त्रकार अब घरोंकी बनावटके आधारपर किस-किस प्रकारके घरोंको साधु छोड दे, यह कहते हैं—

णीअदुवार तमस, कुट्ठग परिवज्जए ।
अचक्खुविसओ जत्थ, पाणा दुप्पडिलेहगा ॥ २० ॥

नीचद्वार तमस, कोष्ठक परिवर्जयेत् ।
अचक्षुर्विषयो यत्र, प्राणिनो दुष्प्रतिलेख्याः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(णीअदुवार) नीचे द्वारवालेको (तमस) घोर अन्धकारयुक्त (कुट्ठग) कोठेको (जत्थ) जिस स्थानपर (अचक्खुविसओ) चक्षुओंका विषय काम नहीं कर सके उसको (पाणा) द्वीन्द्रियादि प्राणी (दुप्पडिलेहगा) भली प्रकारसे देखे न जा सकें उसको (परिवज्जए) छोड दे ॥ २० ॥

मूलार्थ—जिस घरका दरवाजा बहुत नीचा हो, अथवा जिस कोठेमें घोर अन्धकार हो,

इसके बाद भी—गृहस्थके घर पहुँच जानेपर भी यदि कदाचित् बाधा प्रतीत हो तो साधुको उचित है कि वे गृहस्थकी आज्ञा लेकर और प्रासुक स्थान देखकर वहां मूत्र-पुरीषका उत्सर्जन करें। ऐसा न करनेसे अनेक रोगोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना है। जैसे कि-मूत्रावरोधसे मेहरोग और पुरीषावरोधसे अनेक रोग तथा जीवोपघात आदि होते हैं। इसीलिये सूत्रकर्ताने इस प्रकारकी आज्ञा प्रदान की है।

इसके बाद यहां यह शङ्का की जा सकती है कि—जब मुनि उक्त शुद्ध स्थानपर मल मूत्रादिका परित्याग करदे तब वहां वह अपनी शुद्धि किस प्रकारसे करे? इसका समाधान यह है कि—यदि उनके पास अन्य साधु हों तो वे साधु कहींसे प्रासुक जल लाकर उन्हें दे दें। यदि अन्य साधु उनके समीप न हों तो वे प्रथम अप्रासुक मृत्तिकासे शुद्धि कर फिर स्व-उपाश्रयमें आकर जलादिसे शुद्धि कर सकते हैं। इस प्रकार जैनग्रन्थोंमें प्रतिपादन किया गया है†। सो उक्त विधिसे बाधासे रहित होकर फिर प्रस्तुत विषयमें प्रवृत्त हो जावें ॥ १६ ॥

---

† "यतः संघाटकाय स्वरूमागमनादि समप्य प्रतिश्रयात् पानीयं गृहीत्वा सयमुत्रौ विधिना व्युत्सृजेत्। विस्तरतो यथा ओघनिर्युक्तो "।

'पिण्डैषणा' के विषयका प्रतिपादक है। इसलिये इसमें वही विषय है। श्रावकोंके मकान बनानेका प्रतिपादन करनेवाला यह शास्त्र नहीं है। उस विषयके शास्त्रोंसे उस विषयको जानना चाहिये ॥ २० ॥

उत्थानिका—मकानकी बनावटके अतिरिक्त और किन किन बातोंको देखकर साधुको मकान छोड़ देना चाहिये ' सो कहते हैं—

जत्थ पुप्फाइ बीयाइ, विप्पइन्नाइ कोट्ठए ।
अहुणोवालित्त उल्लं, दट्ठूण परिवज्जए ॥ २१ ॥

यत्र पुष्पाणि बीजानि, विप्रकीर्णानि कोष्ठके ।
अधुनोपलिप्त आर्द्रं, दृष्ट्वा परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(जत्थ) जिस (कोट्ठए) कोठेमें (पुप्फाइ) पुष्प (बीयाइ) बीज (विप्पइन्नाइ) बिखर हुए हों, उसको (अहुणोवलित्त) तत्काल लीपे हुए (उल्लं) गीलेको (दट्ठूण) देखकर (परिवज्जए) वर्ज दे ॥ २१ ॥

जहांपर कि नेत्रेन्द्रिय कुछ काम न देती हों और जहांपर त्रस जीव दिखलाई न पड़ते हों, साधु ऐसे घरोंको छोड़ दें अर्थात् आहार—पानी लेनेके लिये वहां वे न जायँ ॥ २० ॥

भाष्य—साधुको उपरोक्त प्रकारके मकान इसलिये छोड़ देने चाहिये कि वहांपर जानेसे ईर्य्याकी शुद्धि नहीं हो सकती। इसलिये संयमविराधना होगी तथा स्वशरीरविराधना होना भी संभव है।

'दुप्पडिलेहगा' की जगहपर कहीं—कहीं 'दुप्पडिलेहा' भी पाठ देखनेमें आता है। पर संस्कृतच्छाया और अर्थ दोनों पाठोंका एक ही होता है।

यहां यह शङ्का की जा सकती है कि श्रावक लोग इस प्रकारके मकान क्यों बनवाते हैं, जिनमें कि मुनि प्रवेश न कर सकें? तथा ऐसे अन्धकारादियुक्त मकान तो गृहस्थोंको भी—उनके आरोग्यादिको भी तो नुकसान पहुँचानेवाले हैं? इसका समाधान यह है कि हां! होना तो यही चाहिये। परन्तु यदि अज्ञानसे किसीने वैसा मकान बनवा लिया हो तो साधुका तो यही कर्तव्य होगा कि वह उन मकानोंको वर्ज दे। हर एक शास्त्रका विषय अलग-अलग होता है। और जिस शास्त्रका जो विषय होता है, वह उसे प्रतिपादन करता है। यह शास्त्र—यह अध्ययन साधुओंकी

एडक दारं श्वानं, वत्सकं वापि कोट्ठए ।
उल्लङ्घ्य न प्रविशेत्, व्यूह्य वा संयतः ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(कोट्ठए) कोठेके दरवाजेपर (एलगं) बकरा (दारगं) बालक (साणं) कुत्ता (वा) अथवा (वच्छगं वि) वत्सक भी हो तो उन्हें (उल्लंघिया) उल्लंघन करके (व) अथवा (विउहित्ताण) हटा करके (संजए) साधु (न पविसे) प्रवेश न करे ॥ २२ ॥

मूलार्थ—कोठेके दरवाजेपर यदि कोई बकरा, बालक, कुत्ता, या बच्चा भी मिल जाय तो संयमी (साधु) को चाहिये कि वे उन्हें फलांग कर अथवा हटाकर घरमें प्रवेश न करें ॥ २२ ॥

भाष्य—गाथाके 'वि'-'अपि' शब्दसे यहांपर प्रकरणानुसार अन्य पशु भी ग्रहण कर लेना चाहिये।

'दारगं वच्छगं'—'दारकं वत्सकम्' ये दोनों शब्द यद्यपि एकार्थवाचक हैं, लेकिन फिर भी व्यवहार में 'दारक' बड़े बच्चे-बालकको और 'वत्सक' छोटे बच्चेको कहते हैं।

ये लोग अबोध होते हैं। इनके अन्दर साधुकी श्रद्धा-भक्ति होनी सम्भव नहीं है। साधु यदि इन्हें उलांघ कर अथवा पैर मारि ,किसी भी उपायसे उन्हें वहांसे हटाकर अन्दर आयेंगे तो

मूलार्थ—जिस स्थानपर फूल और बीज बिखरे हुए हों तथा जो स्थान अभी ही लीपा पोता गया हो, अतएव गीला हो, उस स्थानको देखकर साधु दूरसे ही छोड दे ॥ २१ ॥

भाष्य—उक्त स्थानोंपर आनेसे साधुकेलिये इसलिये निषेध है कि उक्त स्थानोंपर गमन करनेसे साधुको संयमविराधना होनेकी सम्भावना है।

उक्त गाथामें 'कोट्ठए'—'कोष्ठके' शब्द उपलक्षण है। इससे 'जहां कहीं भी फूल और बीज बिखरे हुए हों, और जहां कहीं भी लीपा गया हो या गीलापन हो वे सभी स्थान साधुको वर्जनीय हैं', यह अर्थ लेना चाहिये।

यह उत्सर्ग मार्ग प्रतिपादन किया गया है किन्तु अपवाद मार्गसे यत्नपूर्वक किसी खास कारणके वशसे साधु उक्त स्थानोंपर आ भी सकता है ॥ २१ ॥

उत्थानिका—द्वारपर यदि इतनी चीजें दीखें तो भी साधुको वहां न आना चाहिये—

एलग दारग साण, वच्छग वा वि कुट्टए ।
उल्लंघिया न पविसे, विउहित्ताण व संजए ॥ २२ ॥

मूलार्थ—साधु सक्त होकर किसी ओर न देखे, अतिदूरसे किसी चीजको न देखे, नेत्रोंको फाड फाड कर भी न देखे। यदि किसी घरसे आहार न मिले तो दीन वचन या क्रोधयुक्त वचन न बोले और उस घरसे निकल आवे ॥ २३ ॥

भाष्य—इस गाथामें इस बातका प्रकाश किया गया है कि जब साधु गृहस्थके घरमें आहारकेलिये जाय तब उसे वहां जाकर किसप्रकार वर्तना चाहिए। जैसे कि जब आहारके वास्ते गृहस्थके घरमें आय तब वह वहां आसक्त होकर किसी स्त्री आदि को न देखे, या किसी स्त्रीकी ओर न देखे। कारण कि—इस प्रकार देखनेसे गृहस्थको शङ्का, कामरागकी प्राप्ति लोकोपघात आदि दोषोंकी प्राप्ति हो सकती है। और न गृहस्थके घरके पदार्थोंको जो दूर पड़े हुए हों उनको देखे। क्योंकि ऐसा करनेसे गृहस्थको चोर होनेकी शङ्का उत्पन्न हो सकती है तथा यदि उस घरसे आहार नहीं मिला हो तब उन्हें चाहिये कि वे वहां दीन वचन तथा क्रोधयुक्त वचन न बोलते हुए उस घरसे बाहिर आजायँ और उस घरकी निन्दादिके वचन कदापि न बोलें। कारण कि साधुका तो शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार—अपनी वृत्तिके अनुसार याचना करना कर्त्तव्य है। गृहस्थकी इच्छा है उनको भिक्षा दे अथवा न दे। इसलिये ऐसे अवसरपर साधुका यह कर्तव्य नहीं है

सम्भव है उसमें किसी भी प्रकारकी तकलीफ़ या तो उन्हें हो जाय अथवा सबको ही होजाय। इसलिये आत्मविराधना तथा परविराधनासे बचे रहनेकेलिये साधुको उस घरमें प्रवेश न करना चाहिये ॥ २२ ॥

उत्थानिका—शास्त्रकार इसी विषयमें और भी विशेष प्रतिपादन करते हैं—

असंसत्तं पलोइज्जा, नाइदूरावलोअए ।
उप्फुल्लं न विणिज्झाए, निअट्टिज्ज अयंपिरो ॥ २३ ॥

असंसक्तं प्रलोकयेत्, नातिदूरं प्रलोकयेत् (नातिदूरादवलोकयेत्)।
उत्फुल्लं न विनिध्यायेत्, निवर्तेत अजल्पन् ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(असंसत्तं) असंसक्त होकर (पलोइज्जा) प्रलोकन करे (नाइदूरावलोअए) अति दूरसे अवलोकन न करे (उप्फुल्लं) विकसित आंखोंसे (न विणिज्झाए) न देखे (अयंपिरो) दीन वचन न बोलता हुआ (निअट्टिज्ज) निकले ॥ २३ ॥

मूलार्थ--साधु सक्त होकर किसी ओर न देखे, अतिदूरसे किसी चीजको न देखे, नेत्रोंको फाड फाड कर भी न देखे। यदि किसी घरसे आहार न मिले तो दीन वचन या क्रोधयुक्त वचन न बोले और उस घरसे निकल आवे ॥ २३ ॥

भाष्य—इस गाथामें इस बातका प्रकाश किया गया है कि जब साधु गृहस्थके घरमें आहारकेलिये जाय तब उसे वहां आकर किसप्रकार वर्तना चाहिए। जैसे कि जब आहारके वास्ते गृहस्थके घरमें जाय तब वह वहां आसक्त होकर किसी स्त्री आदि को न देखे, वा किसी स्त्रीकी ओर न देखे। कारण कि—इस प्रकार देखनेसे गृहस्थको शङ्का, कामरागकी प्राप्ति लोकोपघात आदि दोषोंकी प्राप्ति हो सकती है। और न गृहस्थके घरके पदार्थोंको जो दूर पड़े हुए हों उनको देखे। क्योंकि ऐसा करनेसे गृहस्थको चोर होनेकी शङ्का उत्पन्न हो सकती है तथा यदि उस घरसे आहार नहीं मिला हो तब उन्हें चाहिये कि वे वहां दीन वचन तथा क्रोधयुक्त वचन न बोलते हुए उस घरसे बाहिर आजायँ और उस घरकी निन्दादिके वचन कदापि न बोलें। कारण कि साधुका तो शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार—अपनी वृत्तिके अनुसार याचना करना कर्त्तव्य है। गृहस्थकी इच्छा है उनको भिक्षा दे अथवा न दे। इसलिये ऐसे अवसरपर साधुका यह कर्तव्य नहीं है

कि वह उस घरकी किसी भी प्रकारकी निन्दा करे। किन्तु उसका कर्त्तव्य यह है कि वह आसक्त भावको छोड़कर सूक्तोक्त विधिके अनुसार अपनी वृत्ति-भिक्षाचरीमें प्रवेश करे ॥ २३ ॥

उत्थानिका—अब फिर भी उसी विषयमें कहते हैं—

अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मिअं भूमिं परक्कमे ॥ २४ ॥

अतिभूमिं न गच्छेद्, गोचराग्रगतो मुनिः ।
कुलस्य भूमिं ज्ञात्वा, मितां भूमिं पराक्रमेत् ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(गोयरग्गगओ) गोचराग्रमें गया हुआ (मुणी) साधु (अइ-भूमिं) अतिभूमिमें (न गच्छेज्जा) न जाय (कुलस्स) कुलकी (भूमिं) भूमिको (जाणित्ता) जानकर (मिय भूमिं) मर्यादित भूमिपर ही (परक्कमे) पराक्रम करे अर्थात् जावे ॥ २४ ॥

मूलार्थ—गोचराग्रमें गया हुआ मुनि अतिभूमि अर्थात् गृहस्थकी मर्यादित की हुई भूमिको अतिक्रम करके आगे न जायँ किन्तु कुलकी भूमिको जानकर घरकी मर्यादित की हुई भूमि प्रति ही जायँ ॥ २४ ॥

भाष्य—इस गाथामें इस बातका प्रकाश किया गया है कि—साधु कुल कुलकी भूमिको जानकर भिक्षाचरीमें प्रवेश करें। जैसे कि—जब आहारकेलिये जायें तब जिस कुलमें प्रवेश करें उस कुलकी मर्यादित भूमिको देखकर ही आगे जायें। यदि वे मर्यादित भूमिको लांघकर जायेंगे तब जिनशासनकी या उन मुनिकी लघुता होनेकी सम्भावना है। अतएव मुनिको योग्य है कि वह कुल कुलकी भूमिको जानकर फिर उस मर्यादित भूमिपर जानेका पराक्रम करें जिससे किसी भी प्रकारकी लघुता उत्पन्न होनेका प्रसंग न आवे।

तथा इस गाथासे यह भी सिद्ध होता है कि भिक्षुको प्रत्येक कुलकी मर्यादाका बोध होना चाहिए। क्योंकि नाना प्रकारके कुलोंमें नाना प्रकारकी मर्यादा होती है। साथ ही इस बातका भी ध्यान रहे कि सूत्रकर्ताने जो "अइभूमिं"-"अतिभूमि" पद दिया है, इसका तात्पर्य यह है कि साधु सामान्य भूमिपर स्वतन्त्रतापूर्वक जा सकता है ॥ २४ ॥

उत्थानिका—मर्यादित भूमिके पास पहुँच जानेके बाद मुनिका क्या कर्तव्य है? सो अब शास्त्रकार कहते हैं,—

तत्थेव पडिलेहिज्जा, भूमिभागविअक्खणो।
सिणाणस्स य वच्चस्स, संलोगं परिवज्जए ॥ २५ ॥

तत्रैव प्रत्युपेक्षेत्, भूमिभागविचक्षणः ।
स्नानस्य च वर्चस , सलोकं परिवर्जयेत् ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(विअक्खणो) विचक्षण साधु (**तत्थेव भूमिभाग**) उस मर्यादित भूमिभागका (**पडिलेहिज्जा**) प्रतिलेखन करे (**सिणाणस्स**) स्नानघरका (**य**) तथा (**वच्चस्स**) पाखानेका (**सलोग**) देखना (**परिवज्जए**) छोड दे ॥ २५ ॥

मूलार्थ—भिक्षाचरीमें गया हुआ विचक्षण साधु उस मर्यादित भूमिभागका प्रतिलेखन करे और वहां खडा हुआ स्नानघर तथा पाखानेकी ओर न देखे ॥ २५ ॥

भाष्य इस गाथामें इस बातका प्रकाश किया गया है कि जब साधु गृहस्थके घरमें आहारको जाये तब वह वहां जाकर क्या करे और किन-किन स्थानोंको न देखे। जैसे कि—जब मर्यादित भूमिपर विचक्षण साधु जाकर खडा हो जाय तब उस भूमिभागको भली प्रकारसे पडिलेहन करे। उस स्थानपर खडे होकर साधुको चाहिये कि वह गृहस्थके स्नानगृहको तथा उसके वर्चस्गृह (पाखाने) को कदापि अवलोकन न करे। कारण कि—उक्त दोनों स्थानोंमें स्त्री वा पुरुष नग्न अवस्थामें दृष्टिगोचर हो सकते हैं। जिससे कि शासनकी लघुता व कामरागकी

प्राप्ति होनेकी सम्भावना हो सकती है तथा गृहस्थको साधुके ऊपर शङ्कादि दोषोंकी प्राप्ति हो सकती है। अतएव उक्त दोनों स्थानोंको कदापि न देखना चाहिये।

कहीं-कहींपर 'भूमिभाग विअक्खणो'की जगहपर 'भूमिभागविअक्खणो'—'भूमिभाग विचक्षणः' ऐसा समस्तपदका भी पाठ मिलता है। तब उसका अर्थ होगा—'मर्यादित भूमिको जाननेमें विचक्षण अर्थात् कुशल साधु वहां खड़ा होकर प्रतिलेखन करे' ॥ २५ ॥

उत्थानिका--गृहस्थके घर पहुँच करके साधुको कैसे-कैसे स्थानोंको छोड़कर आहारके लिये खड़ा होना चाहिये ? सो अब शास्त्रकार कहते हैं,--

दगमट्टिअआयाणे, बीआणि हरिआणि अ।
परिवज्जतो चिट्ठिज्जा, सव्विंदिअसमाहिए ॥ २६ ॥

उदकमृत्तिकादान, बीजानि हरितानि च।
परिवर्जयंस्तिष्ठेद्, सर्वेन्द्रियसमाहित ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(दगमट्टिअआयाणे) पानी और मृत्तिकाके लानेके मार्गको (बीआणि) बीजादिके लानेके मार्गको (अ) और (हरिआणि) हरितकायके लानेके मार्गको

(परिवज्जतो) वर्जता हुआ (सव्विंदिअसमाहिए) सर्वेन्द्रियोंको समाधिमें रखनेवाला (चिट्ठिज्जा) खड़ा होवे ॥ २६ ॥ अर्थात् पांचों इन्द्रियां जिसने वशमें की हैं ऐसा वह मुनि

मूलार्थ—जिस मार्गसे लोग पानी, मृत्तिका, बीज तथा हरितकाय लाते हों, सर्वेन्द्रियकी समाधिवाला साधु उनको वर्जता हुआ उचित प्रदेशमें जाकर खड़ा होवे ॥ २६ ॥

भाष्य—इस गाथामें मार्गशुद्धिका वर्णन किया गया है। जैसे कि—जिस मार्गसे लोग पानी, मिट्टी, बीज तथा हरितकाय लाते हों, यदि वह मार्ग संकुचित हो और उस समय उस स्थानपर आनेसे उसके शरीरसे सचित्त पदार्थोंका संघट्टन हो सकता है, तो वह सर्व इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला मुनि किसी एकान्तमें—उचित प्रदेशमें जाकर खड़ा हो जाय। और जब वह मार्ग उक्त पदार्थोंसे विशुद्ध हो जाय तब मुनि उक्त मार्गसे भिक्षाचरीकेलिये कहीं दूसरी जगह जा सकता है। और जिस समय वह मार्ग उक्त पदार्थोंसे संकीर्ण हो रहा हो उस समय मुनिको जीव रक्षाकेलिये किसी एकान्त स्थानमें ही खड़े रहना उचित है। आनेके समयसे पहिले ही साधुको मार्गका विचार कर लेना चाहिए। और जब साधु वहां खड़े हों तब वे वहां अनाकुल चित्तसे खड़े रहें ॥ २६ ॥

उत्थानिका—इस प्रकार खड़ होनेके बाद साधु जो आहार ले, वह किस प्रकारका होना चाहिए ? शास्त्रकार अब इस बातका विवरण करते हैं,—

तत्थ से चिट्ठमाणस्स आहरे[†] पाणभोयण ।
अकप्पिय न गिण्हिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पिअ ॥ २७ ॥

तत्र तस्य तिष्ठत , आहरेत् पानभोजनम् ।
अकल्पिक न गृह्णीयात् , प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकम् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—(**तत्थ**) उस स्थानपर (**चिट्ठमाणस्स**) खड़ा हुआ (**से**) वह साधु (**पाणभोयण**) पानी और भोजन (**आहरे**) ले, लेकिन (**अकप्पिअ**) अकल्पनीय (**न गिण्हिज्जा**) ग्रहण न करे बल्कि (**कप्पिअ**) कल्पनीय (**पडिगाहिज्ज**) ग्रहण करे ॥ २७ ॥

मूलार्थ—उस स्थानपर खड़ा हुआ साधु पानी और भोजन ले । यदि वह अकल्पनीय हो तो गृहण न करे यदि कल्पनीय हो तो गृहण कर ले ॥ २७ ॥

---

† क्वचिदस्य स्थाने 'आहारे' इत्यपि पाठः ।

भाष्य—इस गाथामें आहार लेनेकी विधिका विधान किया गया है। जैसे कि जब साधु मार्गमें खड़ा हुआ हो तब गृहस्थकी स्त्री यदि अपने आप ही पानी और भोजन लेकर आ रही हो और वह मुनिके प्रति यह विज्ञप्ति करे कि—हे भगवन्! आप यह अन्न और पानीके लेनेकी कृपा कीजिए!" तब इस प्रकारकी विज्ञप्ति हो जानेपर यदि वह पानी और भोजन निर्दोष और कल्पनीय हो तब उसे मुनि ग्रहण करें। यदि वह आहार-पानी सदोष और अकल्पनीय हो तो मुनि उसे ग्रहण न करें।

'आहरे'—'आहरेत्' में आङ् उपसर्ग पूर्वक हृ हरणे धातु है। केवल 'हृ' धातुका अर्थ हरण करना होता है। लेकिन 'आङ्' उपसर्ग लग जानेसे उसका अर्थ बदल जाता है—

"उपसर्गबलाद्धातुर्बलादन्यत्र नीयते। प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्॥"

इसीलिये आङ् पूर्वक हृ धातुके चार अर्थ होते हैं—१ हस्तान्त देना, २ स्वीकार करना, ३ व्यवस्था करना, और ४ ले आना। प्रकरणवश यहांपर 'स्वीकार करना' अर्थ स्वीकार किया गया है।

'आहरे'—'आहरेत्' पदका 'स्वीकार करना' अर्थ स्वीकार कर लेनेसे 'स्वयमेव लाया हुआ'

अर्थ अपने आप व्यक्त हो जाता है। क्योंकि मँगाये हुए में स्वीकार करनेका व्यवहार नहीं होता। स्वीकार शब्द वहीं व्यवहृत होता है, जहांपर कि कोई व्यक्ति पदार्थको स्वयं दे रहा हो।

इस गाथाके तीसरे चरणके 'गिण्हिज्जा' पदकी जगहपर कहीं-कहीं 'इच्छिज्जा' भी पाठ मिलता है। लेकिन उससे यह पाठ सुन्दरतर है।

'कल्पनीय' और 'अकल्पनीय' शब्दकी व्याख्या शास्त्रकार स्वयं आगेकी गाथाओं द्वारा करनेवाले हैं, अतः यहांपर उक्त शब्दोंकी व्याख्या नहीं की गई है ॥ २७ ॥

उत्थानिका -आहार-पानी देनेवाला व्यक्ति यदि सावधानतापूर्वक मुनिको दान न दे रहा हो तब उस मुनिका क्या कर्तव्य है ? सो शास्त्रकार अब कहते हैं,—

आहरती सिया तत्थ, पडिसाडिज्ज भोयणं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ २८ ॥

आहरन्ती स्यात् तत्र, परिशाटयेत् भोजनम् ।
ददन्तीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(आहरती) देनेवाली (सिया) कदाचित् (तत्थ) वहांपर (भोयण) अन्न पानी रूप भोजनको (पडिसाडिज्ज) इतस्तत विक्षेपण करे तो (दिंतिअ) देनेवालीको (पडिआइक्खे) कहे कि (मे) मुझे (तारिस) इस प्रकारका आहार पानी (न कप्पइ) नहीं कल्पता है -नहीं लेना है ॥ २८ ॥

मूलार्थ—देनेवाली स्त्री कदाचित् इतस्तत गेरती हुई साधुको भोजन दे तो उससे साधु यह कह दें कि—'यह भोजन मुझे नहीं कल्पता है'—नहीं लेना है ॥ २८ ॥

भाष्य—इस गाथामें आहार लेनेकी विधिका विधान किया गया है। जैसे कि—जब साधु गृहस्थके घरमें आहारकेलिये आयें तब भोजन तथा पानीको जो स्त्री देने लगे वह स्त्री यदि उस भोजनको देते समय इधर-उधर गेरती हो तो साधु उससे कह दें कि हे भगिनी! वा हे श्राविके! इस प्रकारका आहार पानी गिरता हुआ मुझे लेना नहीं है। कारण कि अयत्ना हो रही है तथा मधुर पदार्थोंके गिरनेसे अनेक जन्तु इस स्थानपर एकत्रित हो जायेंगे। जिससे फिर उन जीवोंकी विराधना होनेकी सम्भावना की जा सकेगी। इसलिये इस प्रकारका आहार मेरे लेने अयोग्य है।

इस गाथामें 'आहरंती'—'आहरन्ती' जो स्त्रीप्रत्ययान्त पद दिया गया है, उसका कारण यह है कि—"स्त्र्येव प्रायो भिक्षा ददातीति स्त्रीग्रहणं" अर्थात् आहार प्रायः स्त्री जातिके हाथोंसे ही दिया जाता है ॥ २८ ॥

उत्थानिका—इसके अलावा साधुको आहार-पानी देते समय दातासे यदि और भी किसी प्रकारकी गल्ती हो जाय तो उस गल्तीको देखकर जैन साधु उसके आहार-पानीको ग्रहण नहीं करते, सो शास्त्रकार अब कहते हैं,—

समद्दमाणी पाणाणि, बीआणि हरिआणि य ।
असंजमकरिं नच्चा, तारिसिं परिवज्जए ॥ २९ ॥

समर्दयन्ती प्राणिनः, बीजानि हरितानि च ।
असंयमकरीं ज्ञात्वा, तादृशीं परिवर्जयेत् ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—(पाणाणि) प्राणियोंको (बीआणि) बीजोंको (य) और (हरिआणि) हरितकायको (**समद्दमाणी**) समर्दन करती हुई—कुचलती हुई (**असंजमकरिं**) असंयम

सहृत्य निक्षिप्य, सचित्त घट्टयित्वा च ।
तथैव श्रमणार्थम्, उदक सम्प्रणुद्य ॥ ३० ॥
अवगाह्य चालयित्वा, आहरेत् पानभोजनम् ।
ददन्तीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ३१ ॥ [युग्मम्]

अन्वयार्थ—(**तहेव**) इसी तरह (**समणट्ठाए**) साधुकेलिये (**सचित्त**) सचित्तको (**साहट्टु**) मिलाकर (**निक्खिवित्ता**) रखकर—सचित्तके ऊपर अचित्तको रखकर (**घट्टियाणि**) रिगड़कर (**उदग सपुणोल्लिया**) पानीको हिलाकर (**य**) तथा—

(**ओगाहइत्ता**) अवगाहन कर (**चलइत्ता**) चलाकर (**पाणभोयण**) पानी और भोजनको (**आहरे**) दे तो (**दिंतिअ पडिआइक्खे**) देनेवालीसे कहे कि (**मे तारिस न कप्पइ**) मुझे इस प्रकारका कल्पता नहीं है ॥ ३०–३१ ॥

मूलार्थ--इसी तरह कोई दाता–श्राविका साधुकेलिये सचित्त और अचित्तको मिलाकर अचित्तके ऊपर सचित्तको रखकर, अचित्तने सचित्तका छुआकर रगड़कर, पानीको हिला जुलाकर,

अथवा स्वयं सचित्त जलसे स्नानकर या सचित्त जलको चला करके आहार-पानी दे तो साधु उससे कह दे कि मुझे यह ग्राह्य नहीं है ॥ २०-२१ ॥

भाष्य—गाथाके 'साहट्टु'—'संहृत्य' पदका अर्थ सचित्त और अचित्त पदार्थोंका मिलान होता है। उसके चार भङ्ग होते हैं। यथा—

१ सचित्तमें सचित्त मिला देना, २ सचित्तमें अचित्त मिला देना, ३. अचित्तमें सचित्त मिला देना, और ४. अचित्तमें अचित्त मिला देना।

गाथामें 'समणट्ठाए'—'श्रमणार्थम्' जो पद दिया गया है, उसका अर्थ 'साधुकेलिये या साधुके निमित्तसे' यह किया गया है। जैसे कि कल्पना करो कि किसी श्रावकके घर साधु आहार लेनेकेलिये गये तो वहां आंगनमें वर्षा आदिका जल भरा हुआ था। साधुको अपने यहां आता देख श्रावकने उस पानीको मोरी आदि मार्गसे निकाल दिया। तो साधुको यह देखकर वहांसे वापिस आजाना चाहिये और उस घरका आहार-पानी उस समय नहीं लेना चाहिये। क्योंकि उस जलके निकालनेमें जो जीव-विराधना हुई, वह उस साधुके निमित्तसे ही हुई।

यहां यह शङ्का की जा सकती है कि उस जलको बाहर निकालनेमें जो हिंसा होनी थी सो तो हो गई। आहार ले लेनेसे वह दुगुनी नहीं हो सकती। तो फिर आहार-पानी लेनेमें क्या दोष है?

इसका समाधान यह है कि यदि उस समय साधु आहार-पानी ग्रहण कर लें तो दाता और मुनि दोनोंके हृदयमें उस जीव-विराधनाका पश्चात्ताप न हो सकेगा। आहार-पानी न लेनेसे दोनोंके अन्तःकरणमें पश्चात्ताप पैदा होगा। यह पश्चात्ताप कर्मका नाशक है। तथा उस समय आहार ले लेनेसे भगाड़ीको प्रवृत्ति भी बिगड़ जायगी। इसलिये साधुको ऐसा आहार कभी नहीं ग्रहण करना चाहिये। उसकेलिये ऐसा आहार शास्त्रमें अकल्पनीय कहा गया है।

यहां पर 'आहरे'—'आहरेत्' क्रियाका अर्थ 'लावे' किया गया है। आङ् पूर्वक 'हृ' धातुका अर्थ 'लाना' भी होता है। यह पहिले लिखा आ चुका है। शब्दके अनेक अर्थोंमेंसे प्रकरणानुसार अर्थ ग्रहण करना चाहिये ॥ ३०-३१ ॥

उत्थानिका—यदि कोई श्राविका पहले ही सचित्त जलसे हाथ आदि धोकर आहार-पानी देने लगे तो ऐसी हालतमें साधुको क्या करना चाहिये? सो अब शास्त्रकार कहते हैं,—

पुरेकम्मेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३२ ॥

पु॰ कर्मणा हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा।

ददन्तीं प्रत्याचक्षीत्, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ—(**पुरेकम्मेण**) साधुको आहार-पानी देनेसे पहिले ही सचित्त जलसे धोये हुए (**हत्थेण**) हाथसे (**दव्वीए**) कडछीसे (**वा**) अथवा (**भायणेण**) भाजनसे (**दिंतिअं**) देनेवालीसे (**पडिआइक्खे**) निषेध करके कहे कि—(**मे**) मुझे (**तारिसं**) इस प्रकारसे (**न**) नहीं (**कप्पइ**) कल्पता है—ग्रहण नहीं करना है ॥ ३२ ॥

मूलार्थ--साधुको आहार-पानी देनेसे पहिले ही सचित्त—अप्रासुक जलसे धोये हुए हाथ, करछुली या किसी अन्य पात्रसे आहार-पानी देनेवाली श्राविकाको साधु यह कह दें कि मुझे इस प्रकारका आहार-पानी ग्रहण नहीं करना है ॥ ३२ ॥

भाष्य—गाथामें 'पुरेकम्मणा'-'पुरःकर्मणा' पद जैनागमका एक पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ--'साधुको आहार-पानी देनेसे पहिले यदि सचित्त जलसे हाथ आदि धो लिये हों,' यह है।

यदि यह क्रिया श्राविकाने साधुके घरपर पहुँचनेके पहिले ही कर रक्खी हो, और साधुको किसी निमित्तसे उसका पता लग गया हो, तब भी साधुको उसका परित्याग कर देना चाहिये।

नहीं तो असयमकी अनुमोदना, असयमकी कारिता और दुष्प्रवृत्तिकी सूचिका दोष साधुको लगेगा, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है ॥ ३२ ॥

उत्थानिका—अब शास्त्रकार इस बातको कहते हैं कि साधुको दिये जानेवाले आहार-पानीको यदि किसी सचित्त पदार्थसे स्पर्श भी हो जाय तो भी साधुको उसे ग्रहण नहीं करना चाहिये,—

एव उदउल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खे मट्टिआओसे ।
हरिआले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे ॥ ३३ ॥
गेरुअवण्णियसेढिअ, सोरट्ठिअपिट्ठकुक्कुसकए य ।
उक्किट्ठमससट्ठे, ससट्ठे चेव बोद्धव्वे ॥ ३४ ॥ [युग्मम् ।]

एवमुदकार्द्रः सस्निग्ध , सरजस्क मृत्तिकोषाभ्याम् ।
हरितालहिंगुलक , मन शिला अञ्जन लवणम् ॥ ३३ ॥
गैरिकवर्णिकासेटिका, सौराष्ट्रिकापिष्टकुक्कुसकृता च ।
उत्कृष्टमससृष्ट , ससृष्टश्चैव बोद्धव्य ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(एव) उसी प्रकार (**उदउल्ले**) गीले हाथोंसे अथवा (**सासणिद्धे**) स्निग्ध हाथोंसे किम्वा (**ससरक्खे**) सचित्त रजसे भरे हुए हाथोंसे (**मट्टिआओसे**) सचित्त मिट्टी वा क्षारसे भरे हुए हाथोंसे तथा (**हरिआले**) हरितालसे भरे हुए हाथोंसे वा (**हिंगुलए**) हिंगुलसे तथा (**मणोसिला**) मन शिला मिट्टीसे तथा (**अंजणे**) अञ्जनसे वा (**लोणे**) लवणसे

(**गेरुअ**) गेरु (**वन्निअ**) पीली मिट्टी (**सेढिअ**) सफेद मिट्टी (**सोरट्ठिअ**) फिटकिरी (**पिट्ठ**) चून (**कुक्कुस**) भुसी (**कए**) उक्त पदार्थोंसे हस्तादि भरे हुए तथा (**उक्किट्ठ**) फलोंके टुकडे तथा (**असंसट्ठे**) व्यञ्जनादिसे अलिप्त हस्तादि वा (**संसट्ठे**) संसृष्ट—व्यञ्जनादिसे हस्तलिप्त (च) पुन (एव) इस प्रकार (**बोधव्वे**) जानना चाहिए ॥ ३३-३४ ॥

मूलार्थ—उसी प्रकार पानीसे गीले हाथोंसे, स्निग्ध हाथोंसे, सचित्त रजसे भरे हुए हाथोंसे, मिट्टी और क्षार भरे हुए हाथोंसे, हरिताल वा हिंगुल भरे हुए हाथोंसे, मनःशिला, अञ्जन वा लवणसे भरे हुए हाथोंसे—

गेरू, पीली मिट्टी, सफेद मिट्टी, फिटकिरी, चांवलोंका क्षोद, अनछाना चून आदिसे हस्त

नहीं तो असयमकी अनुमोदना, असयमकी कारिता और दुष्प्रवृत्तिकी वृद्धिका दोष साधुको लगेगा, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है ॥ ३२ ॥

उत्थानिका—अब शास्त्रकार इस बातको कहते हैं कि साधुको दिये जानेवाले आहार-पानीको यदि किसी सचित्त पदार्थसे स्पर्श भी हो जाय तो भी साधुको उसे ग्रहण नहीं करना चाहिये;—

एव उदउल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खे मट्टिआओसे ।
हरिआले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे ॥ ३३ ॥
गेरुअवण्णियसेढिअ, सोरट्ठिअपिट्ठकुक्कुसकए य ।
उक्किट्ठमससट्ठे, ससट्ठे चेव बोद्धव्वे ॥ ३४ ॥ [युग्मम् ।]

एवमुदकार्द्रः सस्निग्ध , सरजस्क मृत्तिकोषाभ्याम् ।
हरितालहिङ्गुलक , मन शिला अञ्जन लवणम् ॥ ३३ ॥
गैरिकवर्णिकासेटिका, सौराष्ट्रिकापिष्टकुक्कुसकृता च ।
उत्कृष्टमससृष्टः, ससृष्टश्चैव बोद्धव्य: ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(एव) उसी प्रकार (**उदउल्ले**) गीले हाथोंसे अथवा (**ससिणिद्धे**) स्निग्ध हाथोंसे किम्वा (**ससरक्खे**) सचित्त रजसे भरे हुए हाथोंसे (**मट्टिआओसे**) सचित्त मिट्टी वा क्षारसे भरे हुए हाथोंसे तथा (**हरिआले**) हरितालसे भरे हुए हाथोंसे वा (**हिंगुलए**) हिंगुलसे तथा (**मणोसिला**) मन.शिला मिट्टीसे तथा (**अंजणे**) अञ्जनसे वा (**लोणे**) लवणसे

(**गेरुअ**) गेरु (**वन्निअ**) पीली मिट्टी (**सेढिअ**) सफेद मिट्टी (**सोरट्टिअ**) फिटकिरी (**पिट्ट**) चून (**कुक्कुस**) भुसी (**कए**) उक्त पदार्थोंसे हस्तादि भरे हुए तथा (**उक्किट्ठ**) फलोंके टुकडे तथा (**असंसट्ठे**) व्यञ्जनादिसे अलिप्त हस्तादि वा (**संसट्ठे**) संसृष्ट–व्यञ्जनादिसे हस्तादि लिप्त (च) पुन (एव) इस प्रकार (**बोधव्वे**) जानना चाहिए ॥ ३३-३४ ॥

मूलार्थ—उसी प्रकार पानीसे गीले हाथोंसे, स्निग्ध हाथोंसे, सचित्त रजसे भरे हुए हाथोंसे, मिट्टी और क्षार भरे हुए हाथोंसे, हरिताल वा हिंगुल भरे हुए हाथोंसे, मनःशिला, अञ्जन वा लवणसे भरे हुए हाथोंसे—

गेरू, पीली मिट्टी, सफेद मिट्टी, फिटकिरी, चावलोंका क्षोद, अनछाना चून आदिसे हस्त

भरे हुए हों तथा उत्कृष्ट फल या व्यजनादिसे हाथ संसृष्ट अथवा व्यञ्जनादिसे द्रव्य संसृष्ट जानने चाहिए ॥ ३२-३४ ॥

भाष्य—इस गाथामें इस विषयका वर्णन किया गया है कि—सचित्त पानीसे गीले हाथोंसे या स्निग्ध हाथोंसे तथा सचित्त रजसे हाथ भरे हुए हों या कर्दम से हाथ भरे हुए हों तब उन हाथोंसे तथा पांशुक्षारसे हाथ भरे हुए हों इसी प्रकार हरिताल हिंगुल (सिंगरफ) मनः शिला मिट्टी अञ्जन (सुरमा) तथा लवण से हाथ भरे हुए हों अब इस प्रकारके हाथोंसे दाता आहार पानी देने लगे तो साधु कह देवे कि—'मुझे यह आहार पानी नहीं कल्पता है।'

इस बातपर जो गीले हाथ कथन किया है उसका यह कारण कि—हाथोंसे पानीके बिन्दु गिरते हों तो उसे उदकार्द्र कहते हैं यदि केवल हाथ गीले ही हों तब उसका नाम स्निग्धहाथ है।

कारण कि उक्त सचित्त पदार्थोंके संस्पर्शसे आहार पानी ग्रहण करनेसे उक्त जीवोंकी विराधनाकी अनुमोदना लगती है।

तथा उक्त गाथामें सचित्त पानी और मिट्टीके कुछ भेदोंके नाम दिये गये हैं। इसी प्रकारके यावन्मात्र सचित्त पदार्थ हैं, यदि उन जीवोंकी विराधनाकी सम्भावना हो तो भी मुनिको आहार पानी न लेना चाहिये।

इस सूत्रमें फिर उक्त विषयका ही वर्णन किया गया है। जैसे कि—गेरुका धातु इसी प्रकार श्वेतिका-शुक्लमृत्तिका, सौराष्ट्रिका—मद्य आतिकी मिट्टी विषयमें सूत्रकारने वर्णन किया है यथा तुवरका, पिष्ट, आम तन्दुलका छोद, कुक्कुस-प्रतीत अर्थात् अनछाना चून इनसे हाथ भरे हुए हों तथा उत्कृष्ट शब्दसे पुष्प फलादि इनके सूक्ष्म खण्डोंसे हाथ भरे हुए हों तथा हस्तादि उक्त पदार्थोंसे अलिप्त होवे।

इस गाथाके कथन करनेका यह सारांश है कि—जिस करके पश्चात्कर्म लगे उस प्रकारके आहारको भी ग्रहण न करना चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे हिंसादि अनेक दोषोंके लगनेकी सम्भावना की जा सकेगी।

गाथामें जो गेरुकादि मिट्टियोंका वर्णन किया गया है उसका कारण यह है कि—जो सचित्त मृत्तिकादि है वह साधुकेलिये सर्वथा त्याज्य है तथा जो तत्कालके चूनका निषेध किया गया है उसका भी यही कारण है कि—तत्कालके चूनमें एकेन्द्रियात्माओंके प्रदेश रहनेकी सम्भावना की जा सकती है जिसे उसे सचित्त वा मिश्रित कहा जाता है तथा जो अनछाना चून है उसमें धान्यादिके रहनेकी शंका है इसलिये उसे वर्जित किया गया है वा जो फलादिका ग्रहण है उसका यह कारण है कि—फलादिके सूक्ष्म खण्ड हाथादिको लगे हुए हों तब भी उस गृहस्थके

हाथसे आहार लेना अकल्पनीय बतलाया गया है। तथा जो व्यञ्जनादिसे हाथ संसृष्ट या असंसृष्ट कथन किया गया है उसका कारण यह है कि—ऐसा न हो कि फिर गृहस्थको आहारादि देनेके पश्चात् हाथादि धोने पड़े ॥ ३३-३४ ॥

उत्थानिका -पूर्वमें संसृष्ट और असंसृष्ट जो दो भेद वर्णन किये हैं, शास्त्रकार अब स्वय उनका फल वर्णन करते हैं,—

असंसट्ठेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, पच्छाकम्मं जहिं भवे ॥ ३५ ॥

असंसृष्टेन हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा ।
दीयमानं नेच्छेत्, पश्चात्कर्म यत्र भवेत् ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(**असंसट्ठेण**) असंसृष्ट (**हत्थेण**) हाथसे (**वा**) अथवा (**दव्वीए**) कड़छीसे किम्वा (**भायणेण**) भाजनसे (**दिज्जमाणं**) देते हुए अन्न-पानी आदि (**न इच्छिज्जा**) न चाहे (**जहिं**) जहांपर (**पच्छाकम्मं**) पश्चात् कर्म (**भवे**) होवे ॥ ३५ ॥

मूलार्थ—ससृष्ट हाथसे वा कडछी तथा भाजनसे देते हुए अन्न-पानीको साधु न चाहे यदि वहांपर पश्चात् कर्म लगे ॥ ३५ ॥

भाष्य—इस गाथामें पश्चात् कर्मका दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे कि—अन्नादिसे हाथ लिप्त हो तथा कडछी वा भाजनादि लिप्त हों यदि साधुको अन्न-पानी देकर फिर उसको भाजनादि धोने पड़े तो साधु उन भाजनादिसे आहार ग्रहण न करे। क्योंकि—जब वह साधुके निमित्त रखकर सचित्त जलसे भाजनादि धो रहा है, तब साधुको पश्चात्कर्म नामक दोष लगता है। इसलिये इस प्रकारके आहारका साधु परित्याग कर देवे।

यदि साधु इस प्रकारके दोष लगनेके निश्चय हो जानेपर भी आहार ले ही लेता है तब उसका आत्मा उन जीवोंकी रक्षाके स्थानपर प्रत्युत उनके वधक्रियाओंके अनुमोदन करनेवाला बन जाता है। अत एव इस प्रकारका आहार मुनिको न लेना चाहिए ॥ ३५ ॥

उत्थानिका—अब प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि—किस प्रकारका आहार लेना चाहिए' इस विषयमें सूत्रकार कहते हैं,—

ससट्ठेण य हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा ।

हाथसे आहार लेना अकल्पनीय बतलाया गया है। तथा जो व्यञ्जनादिसे हाथ संसृष्ट या असंसृष्ट कथन किया गया है उसका कारण यह है कि—ऐसा न हो कि फिर गृहस्थको आहारादि देनेसे पश्चात् हाथादि धोने पड़ें ॥ ३३-३४ ॥

उत्थानिका —पूर्वमें संसृष्ट और असंसृष्ट जो दो भेद वर्णन किये हैं, शास्त्रकार अब स्वयं उनका फल वर्णन करते हैं,—

असंसट्ठेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, पच्छाकम्मं जहिं भवे ॥ ३५ ॥

असंसृष्टेन हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा ।
दीयमानं नेच्छेत्, पश्चात्कर्म यत्र भवेत् ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(**असंसट्ठेण**) असंसृष्ट (**हत्थेण**) हाथसे (**वा**) अथवा (**दव्वीए**) कड़छीसे किम्वा (**भायणेण**) भाजनसे (**दिज्जमाणं**) देते हुए अन्न-पानी प्रति (**न इच्छिज्जा**) न चाहे (**जहिं**) जहांपर (**पच्छाकम्मं**) पश्चात् कर्म (**भवे**) होवे ॥ ३५ ॥

को ले लेवे। कारण कि जब साधुके नवकोटी प्रत्याख्यान है तब उसको प्रत्येक पदार्थकी ओर अत्यन्त विवेक रखनेकी आवश्यकता है तभी वह दोषोंसे बच सकता है। यदि उसको विवेक न रहेगा तो वह दोषोंसे भी नहीं बच सकेगा।

यहां यदि यह शङ्का की जाय कि जब उसको धर्म ध्यानादि द्वारा ही समय व्यतीत करना है तब उसको विशेष एषणाकी क्या आवश्यकता है? तो इसका समाधान यह है कि—धर्म ध्यानकी शुद्धिकेलिये ही आहारकी एषणाकी अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि—आहारकी विशुद्धिके द्वारा ही धर्मध्यानकी अत्यन्त विशुद्धि की जा सकती है। अत एव निर्दोषवृत्ति पालनकेलिये आहार-एषणा अवश्यमेव करनी चाहिए ॥ ३६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार इस विषयमें कहते हैं कि—यदि कोई पदार्थ दो व्यक्तियों का सम्मिलित रूपमें हो तो उसको किस विधिसे ग्रहण करना चाहिए,—

दुण्हं तु भुंजमाणाणं, एगो तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, छंदं से पडिलेहए ॥ ३७ ॥

द्वयोस्तु भुञ्जतोः, एकः तत्र निमन्त्रयेत्।
दीयमानं नेच्छेत्, छन्दं तस्य प्रत्युपेक्षेत् ॥ ३७ ॥

दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ॥ ३६ ॥

संसृष्टेन हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा।
दीयमानं प्रतीच्छेद्, यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ—(संसट्ठेण) संसृष्ट (हत्थेण) हाथसे (वा) अथवा (दव्वीए) कड़छीसे तथा (भायणेण) भाजनसे (दिज्जमाणं) दिए हुए (दिए) अन्न-पानीको (पडिच्छिज्जा) ग्रहण करे (जं) जो (तत्थ) वहांपर (एसणियं) एषणीय—निर्दोष (भवे) होवे ॥ ३६ ॥

मूलार्थ—संसृष्ट हाथ कड़छी तथा भाजनसे दिया हुआ अन्न-पानी साधु ग्रहण करे यदि वहां पर वह अन्न-पानी निर्दोष होवे तो ॥ ३६ ॥

भाष्य इस गाथामें अन्न-पानीके ग्रहण करनेकी विधिका विधान किया गया है। जैसे कि—जब साधु आहारके वास्ते आये तब दाताके हाथ अन्नादिसे संसृष्ट हो रहे हैं तथा कड़छी वा अन्य कोई भाजन किसी निर्दोष पदार्थसे लिप्त हो रहा है तब साधु यदि इस बातका निश्चय कर लेवे कि—'यह अन्न पानी तथा भाजनादि सर्व निर्दोष हैं। पश्चात् कर्म वा पूर्व कर्मके भी दोषकी सम्भावना नहीं की जा सकती अतः यह अन्न पानी ग्राह्य है।' तब उस निर्दोष अन्न पानी

को ले लेवे। कारण कि जब साधुके नवकोटी प्रत्याख्यान है तब उसको प्रत्येक पदार्थकी ओर अत्यन्त विवेक रखनेकी आवश्यकता है तभी वह दोषोंसे बच सकता है। यदि उसको विवेक न रहेगा तो वह दोषोंसे भी नहीं बच सकेगा।

यहां यदि यह शङ्का की जाय कि जब उसको धर्म ध्यानादि द्वारा ही समय व्यतीत करना है तब उसको विशेष एषणाकी क्या आवश्यकता है? तो इसका समाधान यह है कि—धर्म ध्यानकी शुद्धिकलिये ही आहारको एषणाकी अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि—आहारको विशुद्धिके द्वारा ही धर्मध्यानकी अत्यन्त विशुद्धि की जा सकती है। अत एव निर्दोषवृत्ति पालनकेलिये आहार-एषणा अवश्यमेव करनी चाहिए ॥ ३६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार इस विषयमें कहते हैं कि—यदि कोई पदार्थ दो व्यक्तियों का सम्मिलित रूपमें हो तो उसको किस विधिसे ग्रहण करना चाहिए,—

दुण्ह तु भुजमाणाण, एगो तत्थ निमतए ।
दिज्जमाणे न इच्छिज्जा, छद से पडिलेहए ॥ ३७ ॥

द्वयोस्तु भुञ्जतो , एकः तत्र निमन्त्रयेत् ।
दीयमान नेच्छेद् , छन्द तस्य प्रत्युपेक्षेत् ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थ—(दुण्ह) दो व्यक्ति (भुंजमाणाण) भोगते हुए (तत्थ) उनमेंसे (एगो) एक व्यक्ति (निमन्तए) निमन्त्रण करे तब (दिज्जमाणं) देते हुए उस स्वार्थको (न इच्छेज्जा) न चाहे किन्तु (से) उस न देनेवाले व्यक्तिका (छंद) अभिप्रायके प्रति (पडिलेहए) अवलोकन करे अर्थात् उसके अभिप्रायको देखे ॥ २७ ॥

मूलार्थ—यदि एक पदार्थको दो व्यक्ति भोगनेवाले हों तब उनमेंसे यदि एक व्यक्ति निमन्त्रणा करे तब साधु न देनेवाले व्यक्तिका अभिप्राय अवश्य देखे ॥ २७ ॥

भाष्य—इस गाथामें साधारण पदार्थोंके ग्रहण करनेकी विधिका विधान किया गया है जैसे कि—जो पदार्थ दो जनोंका साधारण हो तब उन दोनोंमेंसे एक व्यक्ति भक्तिपूर्वक साधुको किसी पदार्थकी निमन्त्रणा करे तब साधु जो व्यक्ति दूसरा हो उसकी आज्ञाको देखे क्योंकि—कहीं ऐसा न हो जावे कि यदि साधु दूसरेकी विना आज्ञा कोई वस्तु ले ले तब उन दोनोंका परस्पर विवाद उपस्थित हो जावे तथा उनका साधारण भाव फिर न रह सके वा उनका परस्पर वैमनस्य भाव उत्पन्न हो जावे जिससे फिर वे परस्पर निन्दादि करने लग जावें। अत एव साधुको साधारण पदार्थ लेते समय अवश्य विचार करना चाहिए।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि दोनों ही व्यक्ति निमन्त्रणा करें तो फिर ग्रहण करना चाहिए या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं,—

दुण्ह तु भुंजमाणाण, दोवि तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ॥ ३८ ॥

द्वयोर्भुञ्जानयो, द्वावपि तत्र निमंत्रयेयाताम् ।
दीयमानं प्रतिगृह्णीयात्, यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(दुण्ह) दो व्यक्ति (भुंजमाणाण) भोगते हुए हों (तत्थ) वहाँ पर-उन में से (दोवि) दोनों ही व्यक्ति (निमंतए) निमन्त्रणा करें (तु) तो (दिज्जमाणं) उस दीयमान पदार्थ को (पडिच्छिज्जा) ग्रहण करले (जं) जो-वह पदार्थ (तत्थ) उस समय-वहाँ (एसणीयं) एषणीय-सर्वथा शुद्ध (भवे) हो ॥ ३९ ॥

मूलार्थ—यदि वे सम्मिलित-एक पदार्थ के भोगने वाले दोनों ही व्यक्ति निमन्त्रणा करें तो, मुनि-उस देते हुए पदार्थ को ग्रहण करले । यदि वह पदार्थ शुद्ध-निर्दोष होतो ॥ ३८ ॥

भाष्य—पूर्व सूत्र में यह कथन किया जा चुका है कि- गोचरी के लिए गया हुआ साधु दो व्यक्तियों के स्वामित्ववाले-साझे के पदार्थ को एक स्वामी की निमन्त्रणा से ग्रहण न करे। अब इस सूत्र में यह बतलाया है कि—यदि दोनों ही व्यक्ति प्रेम-पूर्वक भक्ति भावना से निमन्त्रणा करें तो फिर ग्रहण करले। क्यों कि—दोनों व्यक्तियों की संमिलित रूप से सप्रेम निमन्त्रणा होजाने पर फिर पूर्व सूत्रोक्त पारस्परिक-वैमनस्य आदि दोषों के उत्पन्न होने की कोई आशंका नहीं रहती। हाँ, लेते समय उस पदार्थ की अन्य भिक्षा सम्बन्धी शुद्धता-अशुद्धता का अवश्य ध्यान रखना चाहिए—केवल निमन्त्रणा की शुद्धता पर ही न रहना चाहिए। यदि वह अन्य सभी प्रकार से शुद्ध-निर्दोष मालूम होतो ग्रहण करे—नहीं तो नहीं।

क्यों कि—यदि अन्य भिक्षा सम्बन्धी दोषों पर पूर्ण ध्यान नहीं रक्खा जायगा तो संयम-वास्तविक संयम नहीं रह सकता अर्थात ऐसी लापरवाही करने से संयम विराधना अवश्यभावी है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, गर्भवती स्त्री के लिए तैयार किए हुए आहार पानी के लेने न-लेने के विषय में कहते हैं—

गुव्विणीए उवणत्थं, विविहं पाण भोयणं।
भुंजमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए॥ ३९॥

गुर्विण्या उपन्यस्तं , विविधं पानभोजनम् ।
भुज्यमानं विवर्जयेत् , भुक्तशेषं प्रतीच्छेत् ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—(**गुव्विणीए**) गर्भवती स्त्री के लिए (**उवणत्थं**) उपन्यस्त—तैयार किए हुए (**भुंजमाणाणं**) भोजनार्थ लिए हुए (**विविह**) नाना प्रकार के (**पाणभोयणं**) खाद्य तथा पेय पदार्थ को साधु (**विवज्जिज्जा**) छोड़दे—ग्रहण न करे (**भुत्तसेसं**) भुक्तशेष—खाने से बचेहुएको तो (**पडिच्छए**) ग्रहण करले ॥ ३९ ॥

मूलार्थ — गर्भवती स्त्री के लिए खास तैयार किए गए—भोजनार्थ उससे लिए हुए विविध प्रकार के खाद्य तथा पेय पदार्थों को अहिंसाव्रती मुनि ग्रहण न करे । यदि वे पदार्थ भुक्तशेष हों—भोजन से बचेहुए हों तो ग्रहण करले ॥ ३९ ॥

भाष्य—इस सूत्र में इस विषय का वर्णन है कि, गर्भवती स्त्री के लिए तैयार किए गए नाना प्रकार के खाद्य तथा पेय पदार्थों को यदि वह स्त्री अपने उपभोग में लारही होतो, मुनि ग्रहण न करे ।

कारण कि— यदि फिर उस अवशिष्ट स्वल्प भोजन से गर्भवती की तृप्ति न हुई तो गर्भपात आदिक होजाने की सम्भावना है ।

अतः साधु, जो भोजन गर्भवती के खाने से बचा हुआ हो उसेही स्वयोग्य जानकर ग्रहण कर सकता है ।

भाष्य—पूर्व सूत्र में यह कथन किया जा चुका है कि- गोचरी के लिए गया हुआ साधु दो व्यक्तियों के स्वामित्ववाले-साझे के पदार्थ को एक स्वामी की निमन्त्रणा से ग्रहण न करे। अब इस सूत्र में यह बतलाया है कि—यदि दोनों ही व्यक्ति प्रेम-पूर्वक भक्ति भावना से निमन्त्रणा करें तो फिर ग्रहण करले। क्यों कि— दोनों व्यक्तियों की संमिलित रूप से सप्रेम निमंत्रणा होजाने पर फिर पूर्व सूत्रोक्त पारस्परिक- वैमनस्य आदि दोषों के उत्पन्न होने की कोई आशंका नहीं रहती। हाँ, उस समय उस पदार्थ की अन्य भिक्षा सम्बन्धी शुद्धता-अशुद्धता का अवश्य ध्यान रखना चाहिए—केवल निमन्त्रणा की शुद्धता पर ही न रहना चाहिए। यदि वह अन्य सभी प्रकार से शुद्ध-निर्दोष मालूम होतो ग्रहण करे—नहीं तो नहीं।

क्यों कि—यदि अन्य भिक्षा सम्बन्धी दोषों पर पूर्ण ध्यान नहीं रक्खा जायगा तो संयम-वास्तविक संयम नहीं रह सकता अर्थात् ऐसी लापरवाही करने से संयम विराधना अवश्यभावी है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, गर्भवती स्त्री के लिए तैयार किए हुए आहार पानी के लेने न-लेने के विषय में कहते हैं—

गुव्विणीए उवणत्थं , विविहं पाण भोयणं ।
भुंजमाणं विवज्जिज्जा , भुत्तसेसं पडिच्छए ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—(सिआ) कदाचित् (कालमासिनी) पूरे महिने वाली (गुब्विणी) गर्भवती स्त्री (समण डाए) साधुको दान देने के लिए (उठिया) खडी हुई (निसीइज्जा) बैठे (वा) अथवा (निमन्ना) बैठी हुई (पुणुट्ठए) फिर खडी होवे (तु) तो —

(त)वह (भत्तपाण) आहार पानी (सजयाण) सयतोंको-साधुओंको (अकप्पिअं) अकल्पनीय अयोग्य (भवे) होता है। अत (दिंतिय) उस देनेवाली स्त्री से (पडिआइक्खे) कहदेकि (मे) मुझे (तारिस) इस प्रकार का आहार पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ ४०-४१ ॥

मूलार्थ—यदि कदाचित् गर्भवती स्त्री साधु को आहार पानी बहराने के लिए खडी हुई बैठे और बैठी हुई फिर खडी होवेतो—

यह आहार पानी साधुको अग्राह्य है। अत देनेवाली स्त्री से कहदेकि— इस प्रकार का आहार पानी लेना मुझे नही कल्पता है ॥ ४०—४१ ॥

भाष्य—इस सूत्र में साधु को आहार दान के निमित्त उठने बैठने की क्रिया करने वाली काल मासिनी (पूरे महिने वाली) गर्भवती स्त्री से आहार पानी लेने का साधु के लिए निषेध किया है।

इस ऊपर के कथन से यह भली भांति सिद्ध होजाता है कि— जैन साधुओं का अहिंसा-व्रत स्थूल दृष्टि से वर्णित नहीं है। जो स्थूल बुद्धि वाले ऐरे-गैरे नाम प्रेमी इसका पालन करलें। जैन साधुओं के अहिंसा व्रत का वर्णन अत्यन्त सर्वतोव्यापिनी सूक्ष्म दृष्टि से किया है। अतः इसे सूक्ष्म दृष्टि वाले धर्मप्रेमी महानुभाव ही पालन कर सकते हैं।

उत्थानिका—अब आचार्य, गर्भवती स्त्री से आहार लेने न लेने के विषय में कहते हैं—

सिआ य समणट्ठाए , गुव्विणी कालमासिणी ।
उट्ठिआ वा निसीइज्जा , निसन्ना वा पुणुट्ठए ॥ ४० ॥
त भवे भत्त पाण तु , सजयाण अकप्पिअ
दितिय पडिआइक्खे , न मे कप्पइ तारिस ॥४१॥ [युग्मम्]

स्याच्च श्रमणार्थं , गुर्विणी कालमासिनी ।
उत्थिता वा निषीदेत् , निषण्णा वा पुनरुत्तिष्ठेत् ॥ ४० ॥
तद् भवेद्भक्त पानंतु , संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत , न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४१ ॥

उत्थानिका—अव सूत्रकार, स्तन-पान कराती हुई दातार स्त्री के विषय में कहते हैं—

थणग पिज्जमाणी , दारग वा कुमारिअ ।
त निक्खिवित्तु रोअत , आहारे पाणभोयण ॥ ४२ ॥
त भवे भत्तपाण तु , सजयाण अकप्पिअ ।
दितिय पडिआइक्खे , न मे कप्पइ तारिस ॥ ४३ ॥ [युग्मम्]

स्तनकं पाययन्ती , दारकं वा कुमारिकाम् ।
तं निक्षिप्य रुदन्तं , आहरेत् पान-भोजनम् ॥ ४२ ॥
तद्भवेद्भक्तपान तु , सयतानामकल्पिकम् ॥
ददतीं प्रत्याचक्षीत , न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ—(दारग) बालक को (वा) अथवा (कुमारिअं) बालिका को (थणग) स्तन (पिज्जमाणी) पिलाती हुई स्त्री यदि (तं) उन (रोअंत) रुदन करते हुए बालक-बालिका को (निक्खिवित्तु) नीचे भूमि आदि पर रख कर (पाणभोयण) आहार-पानी (आहरे) देवे—

क्योंकि—इस प्रकार की कठोर क्रियाओं के करने से गर्भस्थ-जीव को पीड़ा पहुँचने की संभावना है और पीड़ा पहुँचने से प्रथम अहिंसा महाव्रत दूषित होजाता है।

यहांपर ध्यान रखना चाहिए कि—जो स्थविर कल्पी मुनि होते हैं, वेतो उकदोष का विचार काल मास पर रखते हैं। किन्तु जो जिनकल्पी मुनि होते हैं, वे ऐसा काल मास का विचार नहीं रखते। वेतो गर्भ धारण के समय से ही-प्रथम मास सेही उकदोष के निवारणार्थ गर्भवती स्त्री से आहार पानी ग्रहण करना छोड़ देते हैं। स्थविर कल्पी मुनि की अपेक्षा जिन कल्पी मुनि का क्रिया-काण्ड अतीव उग्र होता है।

यहांपर यह सूत्र साररूप ही सम्प्रदायिक मान्यता मानी जाती है कि—स्थविर कल्पी मुनि यदि गर्भवती स्त्री बैठी, हो या खड़ी होतो उससे उसी वर्तमान अवस्था में आहार पानी ग्रहण कर सकते हैं।

सूत्रकारने जो इस जनता की दृष्टि में मामूली नगण्य जँचने वाली-बात को इतना महत्व दिया है, सो इसका तात्पर्य यह है कि—

जो सांसारिक उपाधियों को छोड़कर विरक्त मुनि होगए हैं, और जिन्होंने पूर्ण अहिंसा की विशाल प्रतिज्ञा की है। उन्हें बड़ी सावधानी से साधारण सेभी साधारण बातों का ध्यानरखके अहिंसा व्रत की प्रतिज्ञा का पालन करना चाहिए। व्रती और फिर वह स्वीकृत व्रत के पालन में असावधानी रक्खे, यह बात आत्म पतन की सूचक है ॥४०॥ ॥४१॥

मपीता हो कष्ट की सम्भावना हो—न संभावना हो, रोता हो—न रोता हो, किसी भी हालत में बच्चे वाली स्त्री से आहार पानी ग्रहण नहीं करते।

और विशेष बात यह है—भगवान् मार्गावलम्बी मुनि को अपने द्रव्य, क्षेत्र काल, और भावका पूर्ण विचार करके उचितमार्ग का आश्रयण करना चाहिए। ॥ ४२-४३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार ग्राह्य अग्राह्य की शङ्कावाले पदार्थों के विषय में कहते हैं:-

ज भवे भत्तपाणतु , कप्पा कप्पमि सकिअ ।
दिंतिय पडिआइक्खे , न मे कप्पइ तारिस ॥ ४४ ॥

यद्भवेद् भक्तपानं तु, कल्पाकल्पे शङ्कितम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ (जं) जो (भत्तपाणं) आहार-पानी (कप्पा कप्पमि) कल्पनीय और अकल्पनीय की शङ्का से शङ्कित हो (तु) तो) दिंतिय) देनेवाली से (पडिआइक्खे) कहदेवे कि (मे) मुझे (तारिस) इस प्रकार का शङ्कित आहार पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ ४४ ॥

मूलार्थ—यह आहार पानी मेरे को—कल्पनीय है या अकल्पनीय है—इस तरह की शङ्का होजाने पर साधु देनेवाली स्त्री से कहदेकि- मुझे ऐसा आहार-पानी कल्पता नहीं है ॥ ४४ ॥

(तु) तो (तं) वह (भत्तपाणं) आहार-पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है अतः (दिंतियं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का आहार पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

मूलार्थ—बालक-बालिका को स्तन पान कराती हुई स्त्री, उन रोते हुए बालक-बालिका को नीचे भूमिपर रखकर साधु को आहार पानी देतो वह आहार-पानी साधु को अग्राह्य है। अतः देने वाली से कहदे कि इस प्रकार का आहार-पानी मुझे नहीं कल्पता है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

भाष्य—ऊपर जो आहार-पानी लेने का निषेध किया गया है। उसका यह कारण है कि-इस प्रकार करने से बालक के दुग्ध पान की अन्तराय लगती है। तथा भूमि आदि अरक्षित स्थान पर रखने से मार्जार आदि के आक्रमण से पीड़ा पहुंचने की संभावना है।

यहाँ एक बात यह है कि अपवाद मार्गावलम्बी स्थविर कल्पी मुनि- यदि बालक दुग्ध पान न करता हो- भूमिपर रखने से किसी प्रकार के कष्ट हो जाने की सम्भावना भी न हो और नाहीं वह रखने से रुदन करता हो, तब उस बालक वाली स्त्री से आहार पानी ग्रहण कर सकता है। परंतु जो उत्सर्ग मार्गावलम्बी जिनकल्पी मुनि हैं, वे ऐसा नहीं करते। वे तो चाहे बालक दुग्ध पीता हो

गर्भिता हो कष्ट की सम्भावना हो—न सम्भावना हो, रोता हो—न रोता हो, किसी भी हालत में बच्चे वाली स्त्री से आहार पानी ग्रहण नहीं करते।

और विशेष बात यहा यह है—अपवाद मार्गावलम्बी मुनि को अपने द्रव्य, क्षेत्र काल, और भावका पूर्ण विचार करके उचितमार्ग का आश्रयण करना चाहिए। ॥ ४२-४३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार ग्राह्य अग्राह्य की शकावाले पदार्थों के विषय में कहते हैं:—

ज भवे भत्तपाणतु , कप्पा कप्पमि सकिअ ।

दिंतिय पडिआइक्खे , न मे कप्पइ तारिस ॥ ४४ ॥

यद्भवेद् भक्तपानं तु, कल्पाकल्पे शङ्कितम् ।

ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ (जं) जो (भत्तपाणं) आहार-पानी (कप्पा कप्पमि) कल्पनीय और अकल्पनीय की शङ्का से शङ्कित हो (तु) तो) दिंतियं) देनेवाली से (पडिआइक्खे) कहदेवे कि (मे) मुझे (तारिस) इस प्रकार का शङ्कित आहार पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ ४४ ॥

मूलार्थ—यह आहार पानी मेरे को—कल्पनीय है या अकल्पनीय है—इस तरह की शङ्का होजाने पर साधु देनेवाली स्त्री से कहदेकि- मुझे ऐसा आहार पानी कल्पता नहीं है ॥ ४४ ॥

भाष्य—आहार पानी ग्रहण के उद्गम आदि दोष पहले कहे जा चुके हैं। जिस समय उन दोनों का निश्चय साधु को हो जाता है, उस समय तो साधु आहार पानी लेते ही नहीं हैं। क्यों कि—यह उनके लिए मकल्पनीय है। किन्तु जिस समय उन दोषों में किसी प्रकार का संदेह भी साधु के हृदय में उत्पन्न हो जाय तो ऐसी हालत में भी साधु को वह आहार पानी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

कारण कि—शङ्कायुक्त आहार पानी लेने से आत्मा में एक प्रकार का अयुक्त साहस उत्पन्न हो जाता है। इसलिए शङ्कायुक्त आहार पानी साधु को कदापि न लेना चाहिये ॥ ४४ ॥

उत्थानिका—अब शास्त्रकार, आहार-पानी के विषय में और भी कुछ प्रतिबन्ध कहते हैं:

दगवारेण पिहिअं, नीसाए पीढएण वा।
लोढेण वावि लेवेण, सिलेसेण वि केणइ ॥ ४५ ॥
तं च उब्भिदिआ दिज्जा, समणट्ठा एव दावए।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४६ ॥ [युग्मम्]

दकवारेण पिहितं, निःसारिकया पीठकेनवा।
कोष्ठेन वापि लेपेन, श्लेषेण वा केनचित् ॥ ४५ ॥

तच उद्भिद्य दद्यात्, श्रमणार्थं वा दायकः ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥४६॥

अन्वयार्थ—(**दगवारेण**) पानी के घड़े से (**वा**) अथवा (**नीसाए**) पत्थर की पेषणी से (**पीढएण**) पीठ-चौकी से (**वा**) अथवा (**लोढेण**) शिलापुत्र से तथा (**लेवेण**) मिट्टी आदि के लेप से (**वा**) अथवा (**सिलेसेण**) लाख आदि से अथवा (**केणइवि**) अन्य किसी भी वस्तु से (**पिहिअं**) ढका हुआ हो और—

(**च**) उस ढके हुए आहार-पानी को (**समणट्ठाए**) साधु के वास्ते ही (**उब्भिदिआ**) खोलकर (**दावए**) देने वाला गृहस्थ (**दिज्जा**) देवे तब (**दिंतिअं**) देने वाले के प्रति (**पडिआइक्खे**) कहे (**मे**) मुझे (**तारिसं**) इस प्रकार का अन्न-पानी (**नकप्पइ**) नहीं कल्पता है ॥ ४५-४६ ॥

मूलार्थ—पानी के घड़े से, पत्थर की पेषणी से, चौकी से, शिलापुत्र से, मिट्टी के लेपसे, लाख आदि की मुद्रा से, अथवा अन्य किसी वस्तुसे, आहार पानी यदि ढका हुआ हो—

और उसको साधु के ही निमित्त से उघाड़कर यदि दाता उस आहार पानी को देतो साधु दाता से कहदे कि—इस प्रकार का आहार-पानी मुझे नहीं कल्पता है ॥ ४५–४६ ॥

भाष्य—आहार पानी ग्रहण के उद्गम आदि दोष पहले कहे जा चुके हैं। जिस समय उन दोनों का निश्चय साधु को होजाता है, उस समय तो साधु आहार पानी लेते ही नहीं हैं। क्यों कि —वह उनके लिए अग्रहणीय है। किन्तु जिस समय उन दोषों में किसी प्रकार का संदेह भी साधु के हृदय में उत्पन्न होजाय तो ऐसी हालत में भी साधु को वह आहार पानी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

कारण कि— शङ्कायुक्त आहार पानी लेने से आत्मा में एक प्रकार का अयुक्त साहस उत्पन्न हो जाता है। इसलिए शङ्कायुक्त आहार पानी साधु को कदापि न लेना चाहिये ॥ ४४ ॥

उत्थानिका—अब शास्त्रकार, आहार-पानी के विषय में और भी कुछ प्रतिबन्ध कहते हैं -

दगवारेण पिहिअं, नीसाए पीढएण वा।
लोढेण वावि लेवेण, सिलेसेण वि केणइ ॥ ४५ ॥
तं च उब्भिदिआ दिज्जा, समणट्ठा एव दावए।
दितिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४६ ॥ [युग्मम्]

दकवारेण पिहितं, निःसारिकया पीठकेनवा।
लोष्ठेन वापि लेपेन, श्लेषेण वा केनचित् ॥ ४५ ॥

तच उद्भिद्य दद्यात्, श्रमणार्थं वा दायकः।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥४६॥

अन्वयार्थ—(**दगवारेण**) पानी के घड़े से (**वा**) अथवा (**नीसाए**) पत्थर की पेषणी से (**पीढएण**) पीठ-चौकी से (**वा**) अथवा (**लोढेण**) शिलापुत्र से तथा (**लेवेण**) मिट्टी आदि के लेप से (**वा**) अथवा (**सिलेसेण**) लाख आदि से अथवा (**केणइवि**) अन्य किसी भी वस्तु से (**पिहिअं**) ढका हुआ हो और—

(**तं**) उस ढके हुए आहार-पानी को (**समणट्ठाए**) साधु के वास्ते ही (**उब्भिदिआ**) खोलकर (**दावए**) देने वाला गृहस्थ (**दिज्जा**) देवे तब (**दितिअं**) देने वाले के प्रति (**पडिआइक्खे**) कहे (**मे**) मुझे (**तारिसं**) इस प्रकार का अन्न-पानी (**नकप्पइ**) नहीं कल्पता है ॥ ४५-४६ ॥

मूलार्थ—पानी के घड़े से, पत्थर की पेषणी से, चौकी से, शिलापुत्र से, मिट्टी के लेपसे, लाख आदि की मुद्रा से, अथवा अन्य किसी वस्तुसे, आहार पानी यदि ढका हुआ हो—

और उसको साधु के ही निमित्त से उघाड़कर यदि दाता उस आहार पानी को देतो साधु दाता से कहदे कि—इस प्रकार का आहार-पानी मुझे नहीं कल्पता है ॥ ४५—४६ ॥

भाष्य—ऊपर जिन पदार्थों से आहार-पानी रुका हुआ बतलाया गया है। उनमें सचित्त या अचित्त दोनों ही पदार्थों का ग्रहण है। सो सचित्त तो पहले ही वर्जनीय है। और जो अचित्त पदार्थ हैं वेभी इस गाथा द्वारा वर्जनीय है।

यद्यपि यहांपर लिये हुए पदार्थों का मूल में वर्णन नहीं है, किन्तु उपलक्षण से वेभी ग्रहण किये जाते हैं।

अस्तु- गृहस्थ जब केवल साधु के वास्ते ही उन भाजनों को खोल कर वा लियेहुयों की सीमन तोड़ कर साधु को आहार-पानी देने लगे तब देने वाले गृहस्थ से साधु स्पष्ट कहदे कि—'हेभद्र! इस प्रकार से आहार-पानी मुझे लेना नहीं योग्य है। क्योंकि— जब तुम मेरे निमित्त ही खोलकर अमुक वस्तु मुझे देने लगे होतो उक्त भाजनों को मृत्तिकादि द्वारा तुम्हें फिर लिप्त आदि करना पड़ेगा। जिस से फिर हिंसा होने की संभावना है। इसके अतिरिक्त लिया हुआ पदार्थ यदि किसी अन्यका निकल आवेतो फिर उनको सक्लेश उत्पन्न होजाने की संभावना है। इसलिये साधु को उक्तकर्मों से बचना चाहिए।

इससे सिद्ध हुआ कि- जिस में हिंसा अपत्ता वा विवादादि के कारण उपस्थित होजाने की आशंका होतो वह भिक्षा भी साधु को नहीं लेनी चाहिए यदि किसी प्रकार की आत्म विराधना वा संयम विराधना की संभावना न होतो कारणवश अपवाद मार्ग में इस प्रकार खुलवा कर योग्य पदार्थ लिया जा सकता है। परन्तु-लिया जा सकता है-अचित्त पदार्थ एतावन्मात्री वर्जित नहीं ॥ ४५-४६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इस विषय का वर्णन करते हैं कि, जो भोजन केवल दान के वास्ते ही तैयार किया गया हो तो उस विषय में साधु को क्या करना चाहिए—

असण पाणग वावि, खाइम साइम तहा ।
ज जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगड इम ॥ ४७ ॥
तारिस भत्तपाण तु, सजयाण अकप्पिअ ।
दितिअ पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥ ४८ ॥ [युग्मम्]

अशनं पानक वापि , खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
यज्जानियात् शृणुयाद्वा, दानार्थं प्रकृतमिदम् ॥ ४७ ॥
तादृशं भक्तपानन्तु , सयताना मकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ—(असण) अन्न (पाणग) पानी (वावि) अथवा (खाइमं) खाद्य—मोदकप्रमुख (तहा) तथा (साइम) स्वाद्य—लवगप्रमुख कोई पदार्थ (जं) यदि (जाणिज्ज) स्वयमेव जानले

(वा) अथवा (सुणिज्जा) किसी अन्य से सुनले कि (इमं) यह पदार्थ (दाणट्ठा) दानके लिए (पगडं) बनाया गया है—

(तु) तो (तारिसं) इस प्रकार का (भत्तपाणं) आहार—पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय है अतः (दितिअं) देनेवाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का आहार-पानी (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ ४७-४८ ॥

मूलार्थ—अन्न, पानी, खाद्य वा स्वाद्य पदार्थ को स्वयमेव जान लिया हो अथवा सुन लिया हो कि —यह पदार्थ दान के वास्ते ही तैयार किया गया है—

सो इस प्रकार का अन्न पानी साधुओं को लेना उचित नहीं है। अतः, भावितात्मा साधु देने-वाली स्त्री से साफ साफ कहदे कि इस प्रकार का अन्न पानी मुझे नहीं कल्पता है ॥ ४७ ४८ ॥

भाष्य—जब साधु भिक्षा के वास्ते गृहस्थ के घर पहुंचे तब उसे स्वयमेव या किसी अन्य के द्वारा यह मालूम होजाए कि- "यह ओदनादि अन्न, द्राक्षादि का पानी मोदक आदि खाद्य पदार्थ तथा हरीतिकी वा इलायची आदि स्वाद्य पदार्थ, अमुक गृहस्थने केवल दान के लिए ही तैयार किये हैं" तब साधु को वे पदार्थ कदापि न लेने चाहिएँ।

कारण कि— दान लेने वालों का अन्तराय पड़ता है। तथा साधु की वृत्ति गृहस्थ के द्वादश व्रतों में यथासंविभाग व्रत में वर्णन की गई है।

साथ ही इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उक्त चारों प्रकार के आहार प्रासुक ही लेने चाहिए। यहाँपर तो केवल दान के कारण से वे निषिद्ध कथन किये गये हैं।

अस्तु—यदि कोई स्त्री हठात् पूर्वोक्त आहार पानी साधु को देनेही लगेतो साधु को बिना किसी लाग लपेट के स्पष्ट कह देना चाहिए कि— हे बहन ! क्यों हठ करती हो। इस प्रकार का अन्न पानी मैं कदापि नहीं लेसकता। क्योंकि यह केवल दान के निमित्त तैयार किया गया है। "स्पष्ट भाषी सदा सुखी"।

प्राचीन प्रतियों में उक्त द्वितीय गाथा का प्रथमपद " तंभवे भत्तपाणं तु " कथन किया है। किन्तु— बृहद्वृत्तिकार वा दीपिकाकार उक्त गाथा का प्रथमपद " तारिसं भत्तपाणंतु " लिखते हैं। लेकिन् अगली गाथाओं के देखनेसे निश्चय होता है कि "तंभवेभत्तपाणं तु" पदही समीचीन है। क्योंकि प्राय प्राचीन प्रतियों में विशेषतया यहीपद ग्रहण किया है ॥ ४७–४८ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, जो भोजन केवल पुण्य के लिए ही तैयार किया है उसके विषय में वर्णन करते हुए कहते हैं—

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।

(वा) अथवा (सुणिज्जा) किसी अन्य से सुनले कि (इमं) यह पदार्थ (दाणट्ठा) दानके लिए (पगड) बनाया गया है—

(तु) तो (तारिसं) इस प्रकार का (भत्तपाणं) आहार-पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय है अत. (दिंतिअं) देनेवाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का आहार-पानी (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ ४७-४८ ॥

मूलार्थ—अन्न, पानी, खाद्य या स्वाद्य पदार्थ को स्वयमेव जान लिया हो अथवा सुन लिया हो कि —यह पदार्थ दान के वास्ते ही तैयार किया गया है—

तो इस प्रकार का अन्न पानी साधुओं को लेना उचित नहीं है। अतः, भावितात्मा साधु देने-वाली से साफ साफ कहदे कि, इस प्रकार का अन्न पानी मुझे नहीं कल्पता है ॥ ४७ ४८ ॥

भाष्य—जब साधु भिक्षा के वास्ते गृहस्थ के घर पहुंचे तब उसे स्वयमेव या किसी अन्य के द्वारा यह मालूम होजाय कि- "यह ओदनादि अन्न, द्राक्षादि का पानी मोदक आदि खाद्य पदार्थ तथा हरीतिकी या इलायची आदि स्वाद्य पदार्थ, अमुक गृहस्थने केवल दान के लिए ही तैयार किये हैं" तब साधु को वे पदार्थ कदापि न लेने चाहिएं।

(मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकारका अन्न पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ ४९ ५० ॥

मूलार्थ—अन्न, पानी, खाद्य, और स्वाद्य पदार्थ, जिसको स्वयमेव वा अन्य किसी से सुन कर साधु यदि यह जानले कि-यह पदार्थ पुण्य के वास्ते बनाया गया है—

तो यह अन्न पानी साधुओं को अग्राह्य है। अतः साधु देने वाली से कहदे कि-मुझे इस प्रकार का अन्न पानी नहीं कल्पता है ॥ ४९-५० ॥

भाष्य—इस गाथा युग्म में इस विषय का प्रकाश किया है कि-जो अशनादि पदार्थ पुण्यार्थ बनाए गए हों, साधु उन्हें ग्रहण न करे और देने वाली से भी स्पष्ट कहदे कि "मैं यह आहार पानी नहीं ले सकता। क्योंकि मैं किसी की आत्मा को अन्तराय नहीं करना चाहता। मेरी वृत्ति ऐसी भिक्षा लेने की है ही नहीं। यह बात नहीं कि मैं तुम्हारे यहाँ से ही ऐसे टलरहा हूँ। मैं सभी के यहाँ ऐसा किया करता हूँ।"

यहाँ यदि यह शङ्का की जाये कि-शिष्ट कुलों में साधु भिक्षा के वास्ते जो जाते हैं तब वे लोग साधु को पुण्य की भावना से ही भिक्षा देते हैं। तो इस से यह सिद्ध होता है कि साधु को किसी भी कुल में भिक्षा के लिए न जाना चाहिए ?

इसका समाधान यह है कि-जो अशनादि पदार्थ केवल पुण्य के अर्थ ही कल्पित किए हुए हैं, सूत्र कर्ता ने उन्हीं का निषेध किया है। किन्तु जो गृहस्थ लोग साधु को अपने खान में से

ज जाणिज्ज सुणिज्जा वा , पुण्णट्ठा पगड इम ॥ ४९ ॥

तं भवे भत्तपाण तु , सजयाण अकप्पिअ ।

दिंतिअ पडिआइक्खे , न मे कप्पइ तारिस ॥ ५० ॥ [युग्मम्]

अशनं पानकं वा पि , खाद्य स्वाद्य तथा ।

यज्जानियात् शृणुयाद्वा , पुण्यार्थं प्रकृतमिदम् ॥ ४९ ॥

तद्भवेद्भक्तपानं तु , संयतानामकल्पिकम् ।

ददती प्रत्याचक्षीत , न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(असणं) अन्न (पाणगं) पानी (वावि) अथवा (खाइमं) खाद्य पदार्थ (तहा) तथा (साइमं) स्वाद्य पदार्थ (जं) यदि (जाणिज्ज) आमन्त्रणादि से स्वयमेव जान ले (वा) अथवा (सुणिज्जा) किसी अन्य से सुनले कि- (इम) यह पदार्थ (पुण्णट्ठा) पुण्य के अर्थ (पगडं) बनाया गया है—

(तु) तो (तं) वह (भत्तपाणं) भोजन और पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है । अतः (दिंतिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि—

त भवे भत्तपाण तु, सजयाण अकप्पिअ ।
दितिअ पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥५२॥

अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्य तथा ।
यज्जानियात् शृणुयाद्वा, वनीपकार्थं प्रकृतमिदम् ॥ ५१ ॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थ—(असण) अन्न (पाणगं) पानी (वावि) अथवा (खाइमं) खाद्य पदार्थ (तहा) तथा (साइम) स्वाद्य पदार्थ (जं) यदि (जाणिज्ज) आमत्रणादि से स्वयमेव जान ल (वा) अथवा (सुणिज्जा) किसी अन्य से सुनले कि- (इमं) यह पदार्थ (वणिमट्ठा) याचकों के लिये (पगडं) बनाया गया है

(तु) तो (त) वह (भत्तपाण) भोजन और पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है अत (दितिअ) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि— (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का भोजन पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥५१ ५२॥

संविभाग करता है- जिसके कारण से वह निर्जरा वा पुण्य रूप फल को उपार्जन करता है, उसका निषेध नहीं है।

अतः सिद्ध हुआ कि, केवल पुण्य के अर्थ ही कल्पित किया हुआ पदार्थ मुनि नहीं ले सकता। जैसे कि-मृत्यु के समय बहुत से लोग म्रियमाण पुरुष से संकल्प करवाया करते हैं।

यहाँ यदि दूसरी शंका यह की जाय कि- दान और पुण्य में क्या अन्तर है जो सूत्रकार ने दोनों को पृथक् पृथक् किया है? तो समाधान में कहना है कि-लोग दान प्रायः यशः कीर्ति आदि के वास्ते करते हैं और पुण्य प्रायः परलोक के वास्ते किया करते हैं। अतएव सूत्रकारने भी लौकिक प्रथा के अनुसार दोनों को पृथक् पृथक् रूप से ग्रहण किया है। वैसे तो ये दोनों नाम पर्याय वाची ही हैं॥ ४९-५० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मुख्यतया याचकों के वास्ते ही जो भोजन तैयार किया गया है, उसके विषय में कहते हैं—

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, वणिमट्ठा पगडं इमं ॥५१॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं ।
दितिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५४ ॥ [युग्मम्]

अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा, श्रमणार्थं प्रकृतमिदम् ॥५३॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थ—(असणं) अन्न (पाणगं) पानी (वावि) अथवा (खाइमं) खाद्य पदार्थ (तहा) तथा (साइमं) स्वाद्य पदार्थ (जं) यदि (जाणिज्ज) आमन्त्रणादि से स्वयमेव जान ले (वा) अथवा (सुणिज्जा) किसी अन्य से सुनले कि- (इमं) यह पदार्थ (समणट्ठा) श्रमणों के अर्थ (पगडं) बनाया गया है—

(तु) तो (तं) वह (भत्तपाणं) भोजन और पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है। अत (दितिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि- (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का भोजन पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥५३-५४॥

मूलार्थ—अन्न, पानी, खाद्य और स्वाद्य पदार्थों के विषय में साधु स्वयमेव या अन्य किसी से सुनकर यह जानले कि–ये पदार्थ याचकों के वास्ते तैयार किए गए हैं–

तो ये पदार्थ साधु को अकल्पनीय हैं। अत' देनेवाली स्त्री से स्पष्ट कहे कि–ये भोजन पानी मेरे योग्य नही हैं। अत' मैं नही ले सकता ॥ ५१–५२ ॥

भाष्य—उक्त दोनों गाथाओं में याचकों के लिये जो भोजन तैयार किया गया हो, साधु को उस को लेने के लिये निषेध किया गया है।
कारण वही हैं जो पूर्व गाथाओं के विवरण में कहे जा चुके हैं ॥ ५१–५२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, जो भोजन श्रमणों के लिए तैयार किया गया है उसके विषय में निर्णयात्मक कथन करते हैं—

असण पाणग वावि , खाइम साइम तहा ।
ज जाणिज्ज सुणिज्जा वा , समणट्ठा पगड इम ॥ ५३ ॥

तं भवे भत्तपाण तु, संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५४ ॥ [युग्मम्]

अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
यज्जानियात् शृणुयाद्वा, श्रमणार्थं प्रकृतमिदम् ॥ ५३ ॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थ—(असणं) अन्न (पाणगं) पानी (वावि) अथवा (खाइमं) खाद्य पदार्थ (तहा) तथा (साइमं) स्वाद्य पदार्थ (जं) यदि (जाणिज्ज) आमन्त्रणादि से स्वयमेव जान ले (वा) अथवा (सुणिज्जा) किसी अन्य से सुनले कि- (इमं) यह पदार्थ (समणट्ठा) श्रमणों के अर्थ (पगडं) बनाया गया है-

(तु) तो (तं) वह (भत्तपाणं) भोजन और पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है । अतः (दिंतिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि- (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का भोजन पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥५३ ५४॥

मूलार्थ—अन्न, पानी, खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ को साधु स्वयमेव वा अन्य किसी से सुनकर यह जानले कि– ये पदार्थ श्रमणों के वास्ते बनाए गए हैं–

तो वे पदार्थ साधु को अकल्पनीय होते हैं। अतः साधु देने वाली स्त्री से कह देवे कि–ये पदार्थ मुझे लेने नहीं कल्पते हैं॥ ५३–५४ ॥

भाष्य—उक्त दोनों गाथाओं में श्रमणों के लिये जो भोजन तैयार किया गया है उसको ग्रहण करने के लिये जैन साधुओं को निषेध किया है।

यद्यपि श्रमण शब्द जैन भिक्षुओं के लिये भी प्रायः जैन सूत्रोंमें व्यवहृत होता है। तथापि 'श्रमण' शब्द शाक्य आदि भिक्षुओं के लिए भी उनके शास्त्रों में व्यवहृत होता है। क्योंकि वे अपने आपको 'श्रमण' कहते हैं। इसी लौकिक दृष्टि से यहाँ परभी 'श्रमण' शब्द शाक्य आदि भिक्षुओं क लिये ही प्रयुक्त किया है।

अत शाक्यादि श्रमणों के वास्ते बनाए गये भोजन को सदा प्रशस्तात्मा साधु कष्ट से कष्ट के समय में भी ग्रहण नहीं करे।

कारण कि– उसके ग्रहण करने से अनेक दोषों के उत्पन्न होने की संभावना है। जैसे कि– कोई अज्ञानी पुरुष स्वाभाविकता से अपने हृदय में यह बात अङ्कित कर बैठता है कि, प्रत्येक साधु के लिए बना हुआ भोजन प्रत्येक मुनि के खाने योग्य है। [illegible] किसी भी तैयार करके

माजन नहीं देखिया जायगा तथा उनके अन्तराय या परस्पर वैमनस्यभाव के भी उत्पन्न होने की आशङ्का है ॥ ५३-५४ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इसी आशङ्का को मुख्य रखते हुए फिर इसी आहार विधि के विषय में प्रकरणोचित वर्णन करते हैं—

उद्देसिय कीअगड , पूइकम्म च आहड ।
अज्झोअर पामिच्च , मीसजाय विवज्जए ॥ ५५ ॥

औद्देशिकं क्रीतकृतं , पूतिकर्म च आहृतम् ।
अध्यवपूरकं प्रामित्यं, मिश्रजातं विवर्जयेत् ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ—(उद्देसिय) साधु का निमित्त रखकर तैयार किया हुआ (कीअगड) साधु के निमित्त मोल लिया हुआ (च) और (पूइकम्मं) निर्दोष आहार में आधाकर्मी का संयोग मिला हुआ तथा (आहड) ग्रामादि से साधु के निमित्त लाया हुआ (अज्झोअर) मूल आहार में साधु का निमित्त रखकर उसमें और प्रक्षेप किया हुआ (पामिच्च) निर्बल से छीनकर साधुको देना (च) तथा (मीसजायं) साधु के और अपने वास्ते साधारण-सम्मिलित रूप से तैयार किया हुआ आहार

मूलार्थ—अन्न, पानी, खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ को साधु स्वयमेव या अन्य किसी से सुनकर यह जानले कि– ये पदार्थ श्रमणों के वास्ते बनाए गए हैं–

तो वे पदार्थ साधु को अकल्पनीय होते हैं। अतः साधु देने वाली स्त्री से कह दे कि–ये पदार्थ मुझे लेने नहीं कल्पते हैं ॥ ५३–५४ ॥

भाष्य—उक्त दोनों गाथाओं में श्रमणों के लिये जो भोजन तैयार किया गया है उसको ग्रहण करने के लिये जैन साधुओं को निषेध किया है।

यद्यपि श्रमण शब्द जैन भिक्षुओं के लिये भी प्रायः जैन सूत्रोंमें व्यवहृत होता है। तथापि 'श्रमण' शब्द शाक्य आदि भिक्षुओं के लिए भी उनके शास्त्रों में व्यवहृत होता है। क्योंकि वे अपने आपको 'श्रमण' कहते हैं। इसी लौकिक दृष्टि से यहाँ परभी 'श्रमण' शब्द शाक्य आदि भिक्षुओं के लिये ही प्रयुक्त किया है।

अतः शाक्यादि श्रमणों के वास्ते बनाए गये भोजन को सदा प्रशस्तात्मा साधु कष्ट से कष्ट के समय में भी ग्रहण नहीं करे।

कारण कि— उसके ग्रहण करने से अनेक दोषों के उत्पन्न होने की संभावना है। जैसे कि— कोई अज्ञानी पुरुष स्वाभाविकता से अपने हृदय में यह बात अङ्कित कर बैठता है कि, प्रत्येक साधु के लिए बना हुआ भोजन प्राप्त कर मुझे दे सकता है। [illegible] मुझे इनके लिये भी तैयार करके

उत्थानिका—अब उद्गमादि दोषों की शंका दूर करने के लिए कहते हैं—

उग्गमं से अ पुच्छिज्जा , कस्सट्ठा केणवा कडं ।
सुच्चा निस्संकियं सुद्धं , पडिगाहिज्ज संजए ॥ ५६ ॥

उद्गमं तस्य च पृच्छेत् , कस्यार्थं केन वा कृतम् ।
श्रुत्वा निःशंकितं शुद्धं प्रतिगृह्णीयात् संयतः ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ—(**संजए**) साधु (**अ**) फिर सन्देह होने पर (**से**) उस शङ्कित अन्न पान की (**उग्गमं**) उत्पत्ति के विषय में (**पुच्छिज्जा**) पूछेकि— यह आहार (**कस्सट्ठा**) किसके लिये (**वा**) और (**केण**) किसने (**कडं**) तैयार किया है (**सुच्चा**) यदि दातार का उत्तर सुनकर वह आहार (**निस्संकियं**) निःशंकित और (**सुद्धं**) शुद्ध मालूम पड़ेतो (**पडिगाहिज्ज**) ग्रहण करे—नहीं तो नहीं ॥ ५६ ॥

मूलार्थ— पूर्वोक्त आहारादि में शङ्का होजाने पर साधु दातार से उस शङ्कित आहार की उत्पत्ति के विषय में पूछेकि—यह आहार किसलिये और किसने तैयार किया है? इस प्रकार पूछनेपर यदि यह आहार शङ्का रहित एवं निर्दोष जान पड़ेतो साधु ग्रहण करे—अन्यथा नहीं ॥ ५६ ॥

पानी (विवज्जए) साधु छोड़दे ग्रहण न करे ॥ ५५ ॥

मूलार्थ—औद्देशिक आहार, क्रीतकृत आहार, पूतिकर्म आहार, आहृत आहार, अध्यवपूरक आहार, प्रामित्य आहार, और मिश्रजात आहार इत्यादि प्रकार के आहारों को साधु वर्ज देवे ॥ ५५ ॥

भाष्य—इस सूत्र में इस बात का प्रकाश किया गया है कि-साधु को निम्नलिखित सात प्रकार का आहार नहीं लेना चाहिए।

१ औद्देशिक आहार—केवल साधु का ही निमित्त रखकर तैयार किया हुआ आहार।

२ क्रीतकृत—साधु के लिये मोल लिया हुआ—खरीदा हुआ आहार।

३ पूतिकर्म—आधाकर्मी आहार के स्पर्श से दूषित निर्दोष आहार।

४ आहृत—साधु के उपाश्रय में लाकर देना या साधु के लिये अन्य ग्रामादि से मंगवा कर देना।

५ अध्यवपूरक—साधु की याद आजाने पर अपने लिये बनाते हुए आहार को और मिलाकर बढ़ा देना

६ प्रामित्य—साधु के लिये निबल से छीना हुआ आहार।

७ मिश्रजात—अपने और साधु के लिये संमिलित रूप से तैयार किया हुआ आहार।

उपर्युक्त आहार इसलिये नहीं लेने चाहियें कि-इस प्रकार के आहार लेने से साधु की वृत्ति भंग होजाती है और साधु ने जो अहिंसादि व्रत ग्रहण किये हुए हैं उनमें शिथिलता आजाती है।

अशन पानकं वापि, खाद्य स्वाद्यं तथा।
पुष्पैर्भवेदुन्मिश्रं, बीजैर्हरितैर्वा ॥ ५७ ॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थ—(**असण**) अन्न (**पाणगं**) पानी (**वावि**) अथवा (**खाइमं**) खाद्य (**तहा**) तथा (**साइम**) स्वाद्य पदार्थ यदि (**पुप्फेसु**) पुष्पों से (**बिएसु**) बीजों से (**वा**) अथवा (**हरिएसु**) हरित-दुर्वादिकों से (**उम्मीस**) उन्मिश्र-मिला हुआ हो—

(**तु**) तो (**तं**) वह (**भत्तपाण**) अन्न—पानी (**संजयाण**) साधुओं को (**अकप्पिअं**) अकल्पनीय (**भवे**) होता है अत (**दिंतिअं**) देनेवाली से (**पडिआइक्खे**) कहदे कि (**तारिसं**) इस प्रकार का आहार-पानी (**मे**) मुझे (**न**) नहीं (**कप्पइ**) कल्पता है ॥ ५७-५८ ॥

मूलार्थ—यदि अन्न, पानी, खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ पुष्पों से, बीजोंसे तथा हरित दूर्वा आदि से मिश्रित हों–

भाष्य—इस गाथा में यह बतलाया गया है कि–यदि आहार लेते समय साधु को आहार के विषय में किसी प्रकार की अशुद्धि की आशंका होजाय तो साधु बिना दातार से पूछताछ कर निर्णय किए उक्त आहार को कदापि ग्रहण न करे। यदि गृहस्वामी दातार से पूर्णतया निर्णय न होसके तो अन्य नासमझ बालक बालिका आदि से पूछकर निर्णय करे। मतलब यह है कि सर्वथा निःशंकित होने की चेष्टा करे। क्योंकि शंका युक्त आहार का लेना साधु के लिये सर्वथा अयोग्य है।

क्यों अयोग्य है? इस प्रश्न के विषय में यह बात है कि–इस प्रकार संदेहयुक्त पदार्थों के लेने से साधु की आत्मा में दुर्बलता आजाती है। जब आत्मा में दुर्बलता–प्रतिभाहीनता आगई तो फिर साधुता कहाँ? दुर्बलता और साधुता का तो परस्पर महान विरोध है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, बीजादि मिश्रित अशनादि पदार्थों के लेने का निषेध करते हैं—

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
पुप्फेसु हुज्ज उम्मीसं, बीएसु हरिएसु वा ॥ ५७ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दितिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५८ ॥ [युग्मम्]

अशन पानकं वापि, खाद्य स्वाद्यं तथा।
पुष्पैर्भवेदुन्मिश्र, बीजैर्हरितैर्वा ॥ ५७ ॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थ—(असण) अन्न (पाणग) पानी (वावि) अथवा (खाइम) खाद्य (तहा) तथा (साइमं) स्वाद्य पदार्थ यदि (पुप्फेसु) पुष्पों से (विएसु) बीजों से (वा) अथवा (हरिएसु) हरित दुर्वादिकों से (उम्मीस) उन्मिश्र-मिला हुआ हो—

(तु) तो (त) वह (भत्तपाण) अन्न-पानी (सजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है अत (दिंतिअं) देनेवाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (तारिसं) इस प्रकार का आहार-पानी (मे) मुझे (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ ५७-५८ ॥

मूलार्थ—यदि अन्न, पानी, खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ पुष्पों से, बीजोंसे तथा हरित दूर्वा आदि से मिश्रित हों–

तो यह अन्न पानी साधुओं को अयोग्य होता है। अतः देनेवाली से साधु साफ कहदे कि, यह पदार्थ मुझे लेना नहीं कल्पता है ॥ ५७–५८ ॥

भाष्य—इस सूत्र युग्म में यह वर्णन है कि-यदि कोई दातार, साधु को पुष्पादि सचित्त पदार्थों से मिश्रित आहार पानी देने लगेतो, साधु उस आहार पानी को ग्रहण न करे और देने वाले गृहस्थ से स्पष्टतः कहदे कि-यह आहार पानी मेरे योग्य नहीं है। अतः मैं नहीं लेसकता।

नहीं लेने का कारण यह है कि— साधु पूर्णअहिंसा वादी होता है। अतः वह न तो स्वय पुष्पादि सचित्त पदार्थों का स्पर्श करता है और न उन सचित्त पदार्थों से स्पर्शित आहार पानी आदि पदार्थ ग्रहण कर सकता है।

दातार को आहार लेने से नहीं कहने का कारण यह है कि—जब दातारगृहस्थ को-इस प्रकार दोष को बतला कर स्पष्टत नहीं न कही जायगी, तब पकतो उसको—साधु ने मेरे से आहार क्यों नहीं लिया ? क्या कारण हुआ ? मैं बड़ा अभागी हूँ। भला मेरे जैसे पापियों से साधु आहार कैसे ले सकते हैं ? इत्यादि विचारों से दुःख होता है।

दूसरे उसको- साधु विधि का भली भांति बोध होजाता है।

प्रथम "असणं पाणंवा" सूत्र में "पुप्फेसु बीएसु" आदि शब्दोंमें जो सप्तमी विभक्ति ग्रहण कीगई है, वह तृतीया विभक्ति के अर्थ में है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सचित्त जल-प्रतिष्ठित पदार्थों के लेने का निषेध करते हैं—

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा ।
उदगम्मि हुज्ज निक्खित्तं, उत्तिंग पणगेसु वा ॥ ५९ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६० ॥ [युग्मम्]

अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
उदके भवेत् निक्षिप्तं, उत्तिंगपनकेषु वा ॥ ५९ ॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ६० ॥

अन्वयार्थ—(असणं) अन्न (पाणगं) पानी (वावि) अथवा (खाइमं) खाद्य (तहा) तथा (साइमं) स्वाद्य पदार्थ (उदगम्मि) जलपर (वा) अथवा (उत्तिंगपणगेसु) कीड़ी प्रमुख के नगर पर (निक्खित्तं) रक्खा हुआ (हुज्ज) हो—

तो यह अन्न पानी साधुओं को अयोग्य होता है। अतः देनेवाली से साधु साफ़ कहदे कि, यह पदार्थ मुझे लेना नहीं कल्पता है ॥ ५७–५८ ॥

भाष्य—इस सूत्र युग्म में यह वर्णन है कि-यदि कोई दातार, साधु को पुष्पादि सचित्त पदार्थों से मिश्रित आहार पानी देने लगेतो, साधु उस आहार पानी को ग्रहण न करे और देने वाले गृहस्थ से स्पष्टता कहदे कि–यह आहार पानी मेरे योग्य नहीं है। अतः मैं नहीं लेसकता।

नहीं लेने का कारण यह है कि— साधु पूर्णअहिंसा वादी होता है। अतः वह न तो स्वय पुष्पादि सचित्त पदार्थों का स्पर्श करता है और न उन सचित्त पदार्थों से स्पर्शित आहार पानी आदि पदार्थ ग्रहण कर सकता है।

दातार को आहार लेने से नहीं कहने का कारण यह है कि—जब दातारगृहस्थ को-इस प्रकार दोष को बतला कर स्पष्टत नहीं न करदी जायगी, तब एकतो उसको—साधु ने मेरे से आहार क्यों नहीं लिया ? क्या कारण हुआ ? मैं बड़ा अभागी हूं। भला मेरे जैसे पापियों से साधु आहार कैसे ले सकते हैं ? इत्यादि विचारों से दुःख होता है।

दूसरे उसको- साधु विधि का भली भांति बोध होजाता है।

प्रथम "असणं पाणंवा' सूत्र में "पुप्फेसु बीएसु" आदि शब्दोंमें जो सप्तमी विभक्ति प्रयुक्त कीगई है, वह तृतीया विभक्ति के अर्थ में है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार अग्नि प्रतिष्ठित पदार्थों के लेने का निषेध करते हैं।

असण पाणग वावि, खाइम साइम तहा।
तेउम्मि हुज्ज निक्खित्त, त च सघाट्टिया दए ॥ ६१ ॥
त भवे भत्त पाण तु, सजयाण अकप्पिअ।
दितिअ पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥६२॥ [युग्मम्]

अशन पानकं वाऽपि, खाद्य स्वाद्य तथा।
तेजसि भवेत् निक्षिप्त, तं च संघट्य दद्यात् ॥ ६१ ॥
तद्भवेद्भक्तपान तु, संयताना मकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थ—(असणं) अन्न (पाणगं) पानी (वावि) अथवा (खाइम) खाद्य (तहा) तथा (साइम) स्वाद्य पदार्थ (तेउम्मि) तेजस्काय अग्नि पर रक्खा हुआ (हुज्ज) हो (च) या (त) उस अग्निको (सघट्टिया) सघट्टा करके (दए) दे—

(तु) तो (तं) वह पदार्थ (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है। अतः साधु (दितिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि– (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का आहार पानी (नकप्पइ) लेना नहीं कल्पता है ॥५९-६०॥

मूलार्थ—अन्न, पानी, खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ, यदि सचित्त जल पर या कीड़ी आदिके नगर पर रक्खे हुए हों—

तो वे पदार्थ साधु को अग्राह्य होते हैं। अतः मुनि देनेवाली स्त्री से कहदे कि—यह आहार मेरे योग्य नहीं है। मैं नहीं ले सकता ॥५९ ६०॥

भाष्य—जैन साधु अहिंसा की पूर्ण प्रतिज्ञा वाला होता है। अतः उसे अपनी प्रत्येक क्रियाओं में सर्वतो व्यापिनी सूक्ष्म दृष्टि से अहिंसा की महती प्रतिज्ञा का पालन करना चाहिए।

अस्तु-जो अशनादि चतुर्विधाहार कच्चे जल पर या कीड़ी प्रमुख के नगर पर रक्खा हुआ हो तो साधु उसे न ले और देने वाले को साफ समे से नहीं करदे।

नहीं लेने का कारण यह है कि-इस प्रकार आहार लेने से जीवों की विराधना होती है। जीवों की विराधना से संयम की विराधना स्वयं सिद्ध है ही। जब संयमी की ही विराधना होगई तो संयमी पना कहाँ रहा। प्रतिज्ञा के विषय में असावधानी एकता प्रतिज्ञा पालने के लिए बहुत बुरी बात है। मामूली सी असावधानी का परिणाम "अनन्तोअन्ता" कड़ा कटु होता है ॥ ५९ ६० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार अग्नि प्रतिष्ठित पदार्थों के लेने का निषेध करते हैं।

असण पाणग वावि, खाइम साइम तहा।
तेउम्मि हुज्ज निक्खित्त, त च सघट्टिया दए ॥ ६१ ॥
त भवे भत्त पाण तु, सजयाण अकप्पिअ।
दिंतिअ पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥६२॥ [युग्मम्]

अशन पानक वाऽपि, खाद्य स्वाद्य तथा।
तेजसि भवेत् निक्षिप्त, तं च संघट्य दद्यात् ॥ ६१ ॥
तद्भवेद्भक्तपान तु, संयताना मकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थ—(असणं) अन्न (पाणग) पानी (वावि) अथवा (खाइमं) खाद्य (तहा) तथा (साइम) स्वाद्य पदार्थ (तेउम्मि) तेजस्काय अग्नि पर रक्खा हुआ (हुज्ज) हो (च) या (त) उस अग्निको (सघट्टिया) सघट्टा करके (दए) दे—

(तु) तो (तं) वह (भत्तपाणं) अन्न-पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है अतः (दिंतिअं) देनेवाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का आहार-पानी (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ ६१ ६२ ॥

मूलार्थ-यदि अशनादि चतुर्विध आहार अग्निपर रक्खा हुआ हो अथवा दातार अग्निसे संघट्टा करके देवे-तो साधु को वह पदार्थ नहीं लेना चाहिए और दातार से कहदेना चाहिए कि-यह आहार मेरे अयोग्य है। अतः मैं नहीं लेता ॥ ६१-६२ ॥

भाष्य—यदि कोई महानुभाव अग्निपर रक्खे हुए अन्न आदि पदार्थ को तथा अग्नि से संघट्टा करके देवे तो साधु को वह ग्रहण नहीं करना चाहिए।

जैन शास्त्रकारों का अटल सिद्धान्त है कि- अग्नि सचित्त है-सजीव है। अतः पूर्ण अहिंसा को लक्ष्य में रखते हुए अग्निकाय के जीवों की रक्षा के लिए सूत्रकार ने यह निषेध किया है ॥ ६१-६२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, फिर अग्नि के सम्बन्ध में ही कहते हैं—

एवं उस्सक्किया ओसक्किया, उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया।
उस्सिंचिया निस्सिंचिया, ओवत्तिया ओयारिया दए ॥ ६३ ॥

त भवे भत्तपाण तु , सजयाण अकप्पिअ ।
दिंतिअ पडिआइक्खे , न मे कप्पइ तारिस ॥६४॥ [युग्मम्]

एव मुत्सिच्य अवसर्प्य , उज्ज्वाल्य प्रज्ज्वाल्य निर्वाप्य ।
उत्सिच्य निषिच्य अपवर्त्य , अवतार्य दद्यात् ॥ ६३ ॥
तद्भवेद्भक्तपान तु , संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत , न मे कल्पते तादृशम् ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थ—(एव) इसी प्रकार कोई श्राविका (उस्सक्किया) चूल्हे में इन्धनडालकर या (ओसक्किया) चूल्हे में से इन्धन काढकर या (उज्जालिया) स्तोकमात्र चूल्हे में इन्धन डालकर अथवा (पज्जालिया) बहुतसा इन्धन चूल्हे में डालकर अथवा (निव्वाविया) अग्नि को बुझाकर या (उस्सिन्चिया) अग्निपर रक्खे हुए पात्र में से थोड़ा सा अन्न काढकर या (निस्सिन्चिया) अग्निपर रक्खे हुए पात्र में पानी का छींटा देकर या (ओवत्तिया) अग्निपर का अन्न अन्य पात्र में डालकर अथवा (ओयारिया) अग्निपर से पात्र उतार कर साधु को आहार (दा) देवे—

(हु) तो (तं) वह (भत्तपाणं) आहार पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है अतः साधु (दितिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि- (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का आहार पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥६३ ६४॥

मूलार्थ—इस प्रकार यदि कोई दातार श्राविका-चूल्हे में इन्धन डालकर, चूल्हे में से इन्धन काढकर, स्तोक मात्र इन्धन चूल्हे में डालकर, बहुत सा इन्धन चूल्हे में डालकर, जलती हुई अग्नि को बुझाकर, अग्नि स्थित पात्र में से थोडासा अन्न काढ कर, अग्नि स्थित पात्र में जलका छींटा डालकर, अग्नि पर के अन्न को अन्य पात्र में काढ कर, तथा अग्नि पर से पात्र उतार कर साधु को आहार पानी देवे—

तो वह आहार पानी साधु के योग्य नहीं होता। अतः साधु देने वाली से कहदे कि- बहन यह आहार मेरे को अयोग्य है। इस लिये मैं नहीं लेसकता ॥ ६३–६४ ॥

भाष्य—इस सूत्र में यह वर्णन किया है कि जब कोई साधु आहारार्थ गृहस्थ के घर पर जावे। तब गृहस्थ साधु को आते देखकर या स्वभावतः चूल्हे में अग्नि सिलगा कर इन्धन डाल दे या अधिक जानकर चूल्हे में से निकाल दे। तथा थोड़ा या बहुत इन्धन चूल्हे में डाल कर अग्नि प्रज्वलित करे

तथा जल से या अन्य किसी मिट्टी आदि से अग्नि बुझावे। तथा अग्नि पर रक्खे हुए पात्र में से अधिक जानकर अन्न निकाल ले या उफनता हुआ जान कर पात्र में जल के छींटे देकर शान्त करे। तथा अग्नि पर जो पात्र रक्खा हुआ हो उसमें से अन्नादि पदार्थ निकाल कर अन्य पात्र में रख दे या दग्ध होने के भय से पात्रको ही अग्नि पर से उतार ले।

सारांश यह है कि दातार इत्यादि क्रियाएं करके साधु को आहार पानी बहराने लगे तो साधु को नहीं लेना चाहिए। क्योंकि इत्यादि क्रियाओं से अयत्ना की वृद्धि होती है और साधु की जो निर्दोष आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा है, उसका भंग होता है। इतना ही नहीं किन्तु उक्तक्रियाएं शीघ्रता पूर्वक करने से आत्म विराधना और संयम विराधना होने की भी पूरी-पूरी संभावना है॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, विशेष विधि के विषय में कहते हैं—

हुज्ज कट्ठं सिलं वावि, इट्टालं वावि एगया।
ठवियं संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलं॥ ६५॥
ण तेण भिक्खू गच्छेज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो।
गंभीरं झुसिरं चेव, सव्विंदिअ समाहिए॥ ६६॥ [युग्मम्]

भवेत् काष्ठं शिला वाऽपि, इष्टका-शकलं वाऽपि एकदा
स्थापितं संक्रमार्थं, तच्च भवेत् चलाचलम् ॥ ६५ ॥
न तेन भिक्षु गच्छेद्, दृष्टस्तत्र असंयम
गम्भीरं शुषिरं चैव, सर्वेन्द्रिय समाहितः ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ—(कट्ठं) काष्ठ (वावि) अथवा (सिलं) शिला (वावि) अथवा (इट्टालं) ईंटका टुकड़ा-रोड़ा (एगया) कभी वर्षा आदि के समय पर (संकम्मट्ठाए) संक्रमण के वास्ते (ठवियं) स्थापित किया हुआ (हुज्ज) हो (य) और (तं) वह काष्ठादि (चलाचलं) चलाचल-अस्थिर (होज्ज) होतो—

(भिक्खू) साधु (तेण) उस काष्ठादि द्वारा (नगच्छेज्जा) न जावे क्योंकि (तत्थ) वहां पर गमन करने से (असंजमो) असंयम (दिट्ठो) देखा गया है तथा (सव्विंदिअ समाहिए) सम्पूर्ण इन्द्रियोंद्वारा समाधिभाव रखनेवाला मुनि अन्यमी (गंभीरं) प्रकाश रहित तथा (झुसिरं) अन्तः सार रहित- पोले मार्ग से भी गमन न करे ॥ ६५-६६ ॥

मूलार्थ—वर्षा आदि के समय काष्ठ, शिला वा ईंट आदि वस्तु संक्रमण के लिये

रक्खी हुई हों और वे अस्थिर होंतो—

साधु उस मार्ग से गमनागमन न करे। क्यों कि ऐसा करने से असयम की संभावना है। तथा समस्त इन्द्रियों द्वारा समाधित मुनि, अन्य भी अन्धकारमय और पोले आदि मार्गों से गमन न करे ॥ ६५-६६ ॥

भाष्य—वर्षा आदि क समय पर मार्ग प्रायः कीचड़ से दुर्गम्य-खराब होजाते हैं। अतः लोग कीचड़ स बचने के उद्देश्य से मार्ग के सक्रमण के लिये काष्ठ शिला अथवा ईंट आदि चीजें मार्ग मे स्थापित कर दिया करते हैं। अस्तु—यदि वह स्थापित काष्ठ आदि पूर्ण रूपेण प्रतिष्ठित स्थिर हों तो साधु उनके ऊपर से चला जाय। कोई दोष नहीं। और यदि वे अच्छी प्रकार स्थिर न हों — डग मगाते हों तो फिर भूलकरभी न जाय। क्यों कि इस प्रकार के गमन में अपने गिरने से-अन्य जीवों क उपमर्दन से असयम होने की समावना है।

इसी प्रकार समस्त इन्द्रियों से समाधि भाव रखने वाला मुनि, अन्य भी प्रकाश रहित-जिनके नीचे पोल हो ऐसे दोष दूषित मार्गों से गमन न करे। क्योंकि यहाँ पर भी पूर्वोक्त दोषों की आशङ्का है ॥ ६५—६६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, निश्रेणी के विषय में कहते हैं—

निस्सेणिं फलग पीढ , उस्सविचाण मारुहे ।
मच कील च पासाए , समणट्ठा एव दावए ॥ ६७ ॥

निश्रेणिं फलकं पीठं , उत्सृत्य आरोहेत् ।
मंच कीलं च प्रासादं , श्रमणार्थमेव दायक ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थ—यदि (दावए) दानदनेवाला व्यक्ति (समणट्ठाएव) केवल साधुके ही लिए (निस्सेणिं) निसेणी को (फलगं) फलक-पाटियाको (पीढं) पीठ—चौकी को (मचं) मंच-पलंग को (च) तथा (कीलं) कीलक को (उस्सविचाण) ऊँचा करके (पासाए) प्रासाद के ऊपर (आरुहे) चढे ॥ ६७ ॥

मूलार्थ—यदि कोई दान देने वाला व्यक्ति केवल साधुके ही लिये निश्रेणी, फलक, पीठ, मच और कीलक को ऊँचा करके प्रासाद पर चढे । (साधु को आहार देतो साधु नले) ॥ ६७ ॥

भाष्य—इस सूत्र मे इस बात का कथन है कि—जब साधु भिक्षार्थ गृहस्थ के घर पर जाय । तब कोई गृहस्थ यदि केवल साधु के लिये ही खाद्य वस्तु उतार ने के लिये उपर्युक्त निश्रेणी—सीढी आदि वस्तुओं को ऊंची करके—खडी करके प्रासाद पर चढकर भक्तपानादि देने लगे तो साधु को नहीं लेना चाहिए ।

क्योंनहीं करना चाहिए? इसका उत्तर अग्रिम सूत्र में सूत्रकार स्वय ही देने वाले हैं। अतः यहाँ कुछ नहीं कहते ॥ ६७ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इस प्रकार चढ़ने से जो दोष होते हैं उनका वर्णन करते हैं—

दुरूहमाणी पडिवज्जा (पवडेज्जा), हत्थ पाय व लूसए।
पुढवि जीवे वि हिंसिज्जा, जे अ तन्निस्सिया जगे ॥ ६८ ॥

आरोहन्ती प्रपतेत्, हस्त पादं च लूषयेत्
पृथिवी जीवानपि हिंस्यात् यानि च तन्निश्रितानि जगन्ति ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थ—(दुरूहमाणी) आहार देने वाली स्त्री दुःख पूर्वक ऊपर चढ़ती हुई कदाचित् (पडिवज्जा) गिर पड़े जिससे (हत्थं) अपने हाथ (च) और (पाय) पैरों को (लूसए) खण्डित-खण्डित करे साथ ही (पुढवि जीवेवि) पृथिवी कायिक जीवोंकी भी (हिंसिज्जा) हिंसा करे (च) और भी (जे) जो (तन्निस्सिया) पृथिवी के आश्रित (जगे) त्रस जीव हैं उनकी भी हिंसा करे। अतः ग्रहण न करे ॥ ६८ ॥

मूलार्थ—पूर्वोक्त निश्रेणी आदि द्वारा दुःख पूर्वक ऊपर चढ़ने से दातार स्त्री के गिर जाने की

गिर जाने से हाथ पैर आदिक अङ्ग भग हो जाने की-पृथ्वी कायिक एव पृथ्वी आश्रित त्रस जीवों की हिंसा हो जाने की, एक निश्चित सी आशङ्का रहती है। अतः इस अवस्था से साधु आहार पानी ग्रहण न करे ॥६८॥

भाष्य—निश्रेणी आदि से आरोहण की क्रिया करने से एक तो कष्ट होता है। दूसरे अस्थिरता के कारण शरीर के गिर जाने की और गिर जाने से हाथ पैर आदि अपने अंगों के भंग होजाने की संभावना रहती है। तीसरे गिरने से सचित्त पृथ्वी के जीवों की और पृथ्वी के आश्रित त्रस जीवों की हिंसा की भी निश्चित आशङ्का है।

क्योंकि- जिस समय मनुष्य कहीं से गिरता है तो वह अपने वश नहीं रहता। वह बिल्कुल पर वश हो जाता है। उस में हिताहित के ज्ञान से फिर समझ आने की शक्ति नहीं रहती। गिरने पर चाहे उसे खुद को किसी प्रकार का कष्ट हो-चाहे किसी तटस्थ प्राणी को कष्ट हो। कष्ट की आशङ्का अवश्य है।

तथा सूत्र में जो "दुरूहमाणी" स्त्रीलिङ्ग का निर्देश किया है, उस का यह आशय है कि- प्रायः स्त्रियों को ही भिक्षा देने का विशेष अवसर मिला करता है।

तथ-पूर्व ६७ वी गाथा में 'दायक' पुंलिङ्ग शब्द का और इस प्रस्तुत ६८ वी गाथा में 'दुरूहमाणी' स्त्रीलिङ्ग का जो निर्देश किया है। सो इस बात का द्योतक है कि- चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष हो

चाहे नपुंसक हो—जो अयत्ना से चढ़ेगा उसी के गिरने की संभावना है। गिरने में किसी लिङ्ग विशेष की बात नहीं रहती ॥ ६८ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, स्वयही एतत्सम्बन्धी दोषों को दिखला कर अपने ही शब्दों में स्पष्टतया प्रतिषेध करते हैं—

एआरिसे महादोसे , जाणिऊण महेसिणो ।
तम्हा मालोहडं भिक्खं , न पडिगिण्हंति संजया ॥ ६९ ॥

एतादृशान्महादोषान् , ज्ञात्वा महर्षयः ।
तस्मात् मालापहृतां भिक्षां , न प्रतिगृह्णन्ति संयताः ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थ— (संजया) शास्त्रोक्त संयम के पालक (महेसिणो) महर्षि लोग (एआरिसे) इस प्रकार के (महादोसे) महादोषों को (जाणिऊण) जानकर (तम्हा) दोषों की निवृत्ति के लिए (मालोहडं) मालापहृत-ऊपर के मकान से निसेणी आदि द्वारा उतार कर लाई हुई (भिक्खं) भिक्षाको (न पडिगिण्हंति) नहीं ग्रहण करते ॥ ६९ ॥

मूलार्थ—संयतात्मा-महामुनि, पूर्वोक्त महादोषों को सम्यक्तया जानकर कदापि मालापहृत अर्थात् ऊपरके मकान से सीढ़ी आदि से उतारकर लाई हुई भिक्षा ग्रहण नहीं करते ॥६९॥

गिर जाने से हाथ पैर आदिक अङ्ग भग हो जाने की-पृथ्वी कायिक एव पृथ्वी आश्रित त्रस जीवों की हिंसा हो जाने की, एक निश्चित सी आशङ्का रहती है। अतः इस अवस्था से साधु आहार पानी ग्रहण न करे ॥६८॥

भाष्य—निश्रेणी आदि से आरोहण की क्रिया करने से एक तो कष्ट होता है। दूसरे अस्थिरता के कारण शरीर के गिर जाने की और गिर जाने से हाथ पैर आदि अपने अंगों के भंग होजाने की संभावना रहती है। तीसरे गिरने से सचित्त पृथ्वी के जीवों की और पृथ्वी के आश्रित त्रस जीवों की हिंसा की भी निश्चित आशङ्का है।

क्योंकि- जिस समय मनुष्य कहीं से गिरता है तो वह अपने वश नहीं रहता। वह बिल्कुल पर वश हो जाता है। उस में हिताहित के ज्ञान से फिर संभल आने की शक्ति नहीं रहती। गिरने पर चाहे उसे खुद को किसी प्रकार का कष्ट हो-चाहे किसी तटस्थ प्राणी को कष्ट हो। कष्ट की आशङ्का अवश्य है।

तथा सूत्र में जो "दुरूहमाणी" स्त्रीलिङ्ग का निर्देश किया है, उस का यह आशय है कि- प्रायः स्त्रियों को ही भिक्षा देने का विशेष अवसर मिला करता है।

तथ-पूर्व ६७ वी गाथा में 'दायकः' पुंल्लिङ्ग शब्द का और इस प्रस्तुत ६८ वी गाथा में 'दुरूहमाणी' स्त्रीलिङ्ग का जो निर्देश किया है। सो इस बात का घोतक है कि- चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष हो

अन्वयार्थ—([illegible]) इसी तरह (आपणे) बाजार में दुकानों पर (विक्कायमाणं) [illegible]चन के लिये ([illegible]) प्रगट रूप से रक्खे हुए—अधिक दिनों के पुराने (रएण) रज से (परिफासिअं) सने [illegible] मंथु चुण्णाइं) यव आदि सत्तु का चून (कोल चुण्णाइं) बेरों का चून (संकुलिं) तिल पापड़ी (फाणिअं) श्लथगुड़—राब (पूयं) पूआ-रोटी तथा (अन्नवावि) और भी (तहाविहं) तथाविध इसी प्रकार के पदार्थ मोदक आदि यदि साधु को देने लगे तो साधु (दिंतिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार के पदार्थ लेने (न) नहीं (कप्पइ) कल्पते हैं ॥ ७१-७२ ॥

मूलार्थ—बाजार में दुकानों पर विक्री के लिये प्रगट रूप से रक्खे गये, बहुत दिनों के पुराने, सचित्त रजसे मिश्रित सक्तु चूर्ण, बदरी फल चूर्ण, तिल पापड़ी, ढीला गुड़, पूआ तथा अन्य भी ऐसे ही लड्डू जलेबी आदि खाद्य पदार्थ यदि साधु को मिलते हों तो साधु न ले और देने वाली से कहदे कि—ये पदार्थ मेरे योग्य नहीं हैं ॥ ७१-७२ ॥

भाष्य—इस सूत्र में यह वर्णन है कि—बाजार में बिकते हुए सत्तु, तिल पापड़ी गुड़ आदि खाद्य पदार्थ यदि बहुत दिनों के पुराने हों—सचित्त धूल से भरे हुए हों तो साधु न ले (यदि साफ-शुद्ध-नये ही बने हुए हों तो ले सकता है)। क्योंकि एकतो अधिक दिनों के खाद्य पदार्थ रस-

ये सब पदार्थ अपने अपने स्वरूप से सङ्ख्यात, असंख्यात और अनन्त जीवों के समूहरूप होने से बिना किसी नजुमव के सचित्त हैं। अतः साधुओं को प्रथम अहिंसा महाव्रत की पूर्ण रूपेण रक्षा के लिये उक्त कच्चे पदार्थ अपने खान-पान आदि के प्रयोग में कदापि नहीं लाने चाहिएं।

यहाँ उपलक्षण से सभी जाति के कच्चे-सचित्त फलों का ग्रहण है। अतः सभी के लिये प्रतिषेध है। किसी एक के लिये नहीं। उदाहरण के तौर पर ये विशेष नाम कहदिये हैं ॥ ७० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, बाजार में बिकने वाले खाद्य पदार्थों के विषय में कहते हैं—

तहेव सत्तुचुण्णाइं, कोलचुण्णाइं आवणे।
सक्कुलिं फाणियं पूयं, अन्नं वावि तहाविहं ॥ ७१ ॥
विक्कायमाणं पसढं, रएण परिफासिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥७२॥ [युग्मम्]

तथैव सक्तुचूर्णान्, कोलचूर्णान् आपणे।
शष्कुलिं फाणितं पूतं, अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥ ७१ ॥
विक्रीयमाणं प्रसह्य, रजसा परिस्पृष्टम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थ—(तहेव) इसी तरह (आपणे) बाजार में दुकानों पर (विक्कायमाणं) बेचने के लिये (पसढं) प्रगट रूप से रक्खे हुए—अधिक दिनों के पुराने (रएण) रज से (परिफासिअं) सने हुए (सत्तु चुण्णाइं) यव आदि सत्तु का चून (कोलचुण्णाइ) बेरों का चून (संकुलिं) तिल पापड़ी (फाणिअं) द्रवगुड़—राब (पूयं) पूआ-रोटी तथा (अन्नवावि) और भी (तहाविहं) तथाविध इसी प्रकार के पदार्थ मोदक आदि यदि साधु को देने लगे तो साधु (दिंतिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार के पदार्थ लेने (न) नहीं (कप्पइ) कल्पते हैं ॥ ७१–७२ ॥

मूलार्थ—बाजार में दुकानों पर बिक्री के लिये प्रगट रूप से रक्खे गये, बहुत दिनों के पुराने, सचित्त रजसे मिश्रित सक्तु चूर्ण, बदरी फल चूर्ण, तिल पापड़ी, ढीला गुड़, पूआ तथा अन्य भी ऐसे ही लड्डू जलेबी आदि खाद्य पदार्थ यदि साधु को मिलते हों तो साधु न ले और देने वाली से कहदे कि—ये पदार्थ मेरे योग्य नहीं हैं ॥ ७१-७२ ॥

भाष्य—इस सूत्र में यह वर्णन है कि-बाजार में बिकते हुए सत्तु, तिल पापड़ी गुड़ आदि खाद्य पदार्थ यदि बहुत दिनों के पुराने हों-सचित्त धूल से भरे हुए हों तो साधु न ले (यदि साफ-शुद्ध-नये ही बने हुए हों तो ले सकता है)। क्योंकि एकतो अधिक दिनों के साथ पदार्थ रस-

ये सब पदार्थ अपने अपने स्वरूप से संख्यात, असंख्यात और अनन्त जीवों के समूहरूप होने से बिना किसी नजुनच के सचित्त हैं। अतः साधुओं को प्रथम अहिंसा महाव्रत की पूर्ण रूपेण रक्षा के लिये उक्त कच्चे पदार्थ अपने खान-पान आदि के प्रयोग में कदापि नहीं लाने चाहिएं।

यहाँ उपलक्षण से सभी जाति के कच्चे-सचित्त फलों का ग्रहण है। अतः सभी के लिये प्रतिषेध है। किसी एक के लिये नहीं। उदाहरण के तौर पर ये विशेष नाम कहदिये हैं ॥ ७० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, बाजार में बिकने वाले खाद्य पदार्थों के विषय में कहते हैं—

तहेव सत्तुचुण्णाइ, कोलचुण्णाइ आवणे।
सक्कुलिं फाणियं पूयं, अन्नं वावि तहाविहं ॥ ७१ ॥
विक्कायमाणं पसढं, रएण परिफासिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥७२॥ [युग्मम्]

तथैव सक्तुचूर्णान्, कोलचूर्णान् आपणे।
शष्कुलिं फाणितं पूतं, अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥ ७१ ॥
विक्रीयमाणं प्रसभं, रजसा परिस्पृष्टम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ७२ ॥

अप्पे सिया भोयणजाए , बहुउज्झियधम्मिए।
दिंतिअ पडिआइक्खे , नमे कप्पइ तारिसं ॥ ७४ ॥[युग्मम्]

बह्वस्थिकं पुद्गलं, मनिमिष वा बहु कण्टकम् ।
अस्थिकं तिन्दुकं बिल्वं, मिक्षुखण्डं वा शाल्मलिम् ॥ ७३ ॥
अल्पं स्याद् भोजनजातं, बहूज्झन धर्मकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थ—(बहुअट्ठियं) बहुत गुठलियों वाला (पुग्गल) पुद्गल नामक फल विशेष (अणिमिसं) अनिमिष नामक फल विशेष (वा) अथवा (बहुकंटयं) बहुत कांटों वाला फल (अत्थियं) अस्थिक वृक्ष का फल (तिंदुअं) तिन्दुक वृक्ष का फल (बिल्लं) बिल्व नामक वृक्ष का फल (उच्छुखंडं) इक्षुखण्ड (व) तथा (सिंबलिं) शाल्मली वृक्ष का फल—

(भोयणजाय) जिनमें खाने लायक भागतो (अप्पे) अल्प (सिया) हो और (बहु उज्झिय धम्मिए) गेरने लायक भाग बहुत अधिक हो, ऐसे फल कोई देने लगे तो साधु-

सचित्त हो जाने से वैसे ही अग्राह्य होजाते हैं। दूसरे सचित्त रज का सम्मिश्रण हो जाने से जो अग्राह्यता होती है वह स्वयं सिद्ध है ही। दोनों ही अवस्थाओं में आहार लेने से साधु का प्रथम महाव्रत दूषित हो जाता है।

ऊपर के सूत्र लेख से सिद्ध होता है कि, प्राचीन काल में भी अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ तैयार किये जाते थे और वे बाजार में दुकानों पर ग्राहकों को यथोचित मूल्य से बेचे जाते थे। बेचने वाले दुकानदार प्राय: भव्य एवं भद्रपरिणामी होते थे। अत: वे पैसा नहीं रखनेवाले संत महात्माओं को भी कभी कभी अवसर मिलने पर बिना किसी इच्छा के धर्म बुद्धि से यथा योग्य दान देकर महान लाभ उठाया करते थे।

यहाँ सूत्रगत एक बात और भी विचारणीय- मननीय है जो इतिहासज्ञ सज्जनों के लिये बड़ी ही कीमती है। वह यह है कि इसी ७२ वें सूत्र में 'इत्थिअं' शब्द आया है, जिस का अर्थ होता है देने वाली। अस्तु-इस शब्द से यह निःसंदेह सिद्ध हो जाता है कि- प्राचीन काल में पुरुषों की भाँति स्त्रियां भी बाजारों में दुकानों पर कुशलता पूर्वक क्रय विक्रय किया करती थीं। उस समय उनका यह कार्य समाज में निन्दित नहीं समझा जाता था। ॥ ७१-७२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, आहार के विषय में और भी विस्तृत विवेचना करते हैं—

बहुअट्ठिय पुग्गल, अणिमिस वा बहुकंटय।

अत्थियं तिन्दुयं बिल्लं, उच्छुखंड व सिंबलिं ॥ ७३ ॥

कच्चे फलों का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। अतः यहां साधु ऐसे अधिक लेने के लायक फल न सही यदि अधिक खाने में आने लायक कच्चे फल हों फिर तो लेने में कोई हर्ज नहीं यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता है।

प्रस्तुत 'बहु अट्ठियं पुग्गल' सूत्र में जो अणिमिस अनिमिष, शब्द दिया हुआ है उसका अर्थ मांस नहीं समझना चाहिए। क्योंकि मास का अर्थ सर्वथा प्रकरण विरुद्ध है। देखिए, गाथा के उत्तर के दोनों चरणों में येन इक्ख आदि फलों के नाम स्पष्टतया परिकथित हैं। अतः निर्भ्रान्त सिद्ध है कि पूर्व के दोनों चरणों में भी वनस्पतिका ही स्पष्ट अधिकार है।

यह प्रकृति देवी का लीला क्षेत्र संसार बड़ा ही विचित्र है। यहाँ देखने वाले जहाँ देखेंगे, वहाँ विचित्रता ही देखेंगे। यहाँ की कोई भी बात ऐसी नहीं है, जिस में किसी प्रकार की विचित्रता नहीं। परन्तु-सब से अधिक विचित्रता जिन में है वे नाम हैं। इन नामों की विचित्रता ऐसी बढ़ी हुई है कि, ना समझ जनता तो बहुधा धोखा खाजाया करती है। यह कभी कभी नामों की भूल में आकर अर्थ का अनर्थ कर डालती है। परन्तु जो विद्वान सज्जन हैं वे कभी धोखा नहीं खाते। वेतो जो कुछ करते हैं वह पूर्वा पर का विचार करके ही करते हैं।

मद्दु-सूत्रगत 'अनिमिष' शब्द के नाम साम्य से भी विपरीत कल्पना करके विद्वान् पाठक धोखा न खावें।। क्योंकि फलों की अनेक जातियाँ होती हैं। कोई फल ऐसे होते हैं, जिन में गुठलियाँ अधिक होती हैं। और कोई फल ऐसे होते हैं, जिन में कांटे अधिक होते हैं। कोई फल

(दितियं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का आहार (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ ७३–७४ ॥

मूलार्थ—बहुत अधिक गुठलियों वाले–बीजों वाले पुद्गल फल, अनिमिष फल, बहुत कांटोंवाले फल, अस्थिक फल, तिन्दुक फल, विल्व फल, (बेल) गन्नेकी गनेरियां , तथा शाल्मली फल आदि—

ऐसे पदार्थ जिनमें खाने लायक भागतो थोड़ा हो और गेरने के लायक भाग अधिक हो साधु ग्रहण न करे । और देने वाली से स्पष्ट कहदेकि–ये पदार्थ मेरे योग्य नहीं है । अतः मैं नहीं लेता ॥ ७३–७४ ॥

भाष्य—इस गाथा में यह वर्णन है कि—अपने और पर के तारने वाले मुनियों को-जिन फलों का भाग खाने में तो थोड़ा आता हो और गेरने में अधिक आता हो–ऐसे उपर्युक्त "पुद्गल फल" आदि फलों का सेवन कभी नहीं करना चाहिए । क्योंकि अखाद्य भाग के परिष्ठापन से अयत्ना होने की बहुत संभावना है ।

सूत्रकार की विषय प्रतिपादन शैली कह रही है कि—यावन्मात्र पदार्थ-जो खाने में थोड़े आते हों और गेरने में अधिक आते हों वे सभी अग्राह्य हैं । फलों के नामों का जो उल्लेख किया है वह उदाहरण रूपेण सूचना मात्र है । इससे सूत्रोक्त फलही अग्राह्य हैं , यह बात नहीं ।

कच्चे फलों का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। अतः यहां साधु ऐसे अधिक गरन का लायक फल न सही यदि अधिक खाने में आने लायक कच्चे फल हों फिर तो लेने में कोई हर्ज नहीं यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता है।

प्रस्तुत 'बहु अट्ठियं पुग्गल' सूत्र में जो अणिमिसं, अनिमिष, शब्द दिया हुआ है उसका अर्थ मांस नहीं समझना चाहिए। क्योंकि मांस का अर्थ सर्वथा प्रकरण विरुद्ध है। देखिये, गाथा के उत्तर के दोनों चरणों में बेर इख आदि फलों के नाम स्पष्टतया परिकथित हैं। अतः निर्भ्रान्त सिद्ध है कि पूर्व के दोनों चरणों में भी वनस्पतिका ही स्पष्ट अधिकार है।

यह प्रकृति देवी का लीला क्षेत्र संसार बड़ा ही विचित्र है। यहाँ देखने वाले जहाँ देखेंगे, वहाँ विचित्रता ही देखेंगे। यहाँ की कोई भी बात ऐसी नहीं है, जिस में किसी प्रकार की विचित्रता नहीं। परन्तु सब से अधिक विचित्रता जिन में है वे नाम हैं। इन नामों की विचित्रता ऐसी बढ़ी हुई है कि, ना समझ जनता तो बहुधा धोखा खाजाया करती है। वह कभी कभी नामों की भूल में आकर अर्थ का अनर्थ कर डालती है। परन्तु जो विद्वान सज्जन हैं वे कभी धोखा नहीं खाते। वे तो जो कुछ करते हैं वह पूर्वा पर का विचार करके ही करते हैं।

मह्नु-सूत्रगत 'अनिमिष' शब्द के नाम साम्य से भी विपरीत कल्पना करके विद्वान् पाठक धोखा न खावें।। क्योंकि फलों की अनेक जातियाँ होती हैं। कोई फल ऐसे होते हैं, जिन में गुठलियाँ अधिक होती हैं। और कोई फल ऐसे होते हैं, जिन में कांटे अधिक होते हैं। कोई फल

ऐसे होते हैं, जिनके नाम पशु पक्षियों के नामों पर होते हैं, और कोई फल ऐसे होते हैं, जिन के नाम मनुष्यों के एवं अन्य पदार्थों के नामों पर होते हैं। फलों के इस प्रकार विचित्रता मय नामों के विषय में जिज्ञासु पाठकों को वैद्यक कोषों का-निघन्टुओं का अवलोकन करना चाहिए। उनमें बहुतसी वनस्पतियें इसी प्रकार की मिलेंगी जैसे कि ब्राह्मणी, कुमारी, कन्या, मार्जारी, कपोती आदि आदि।

सूत्रगत 'अनिमिष' शब्द फलका भी वाचक है इसके लिये कोषों के प्रमाण भी देखिये।

" अणिमिस त्रि० (अनिमेष) पलक न मारा हुआ और वनस्पति विशेष "

अर्द्ध मागधी कोष-प्रथम भाग-पृष्ठ १८१

" अणिमिस-त्रि० (अनिमिष) आँखनों पलकारो मार्या वगर नु २ वनस्पति विशेष "

जैनागम शब्द संग्रह-अर्द्ध मागधी गुजराती कोष पृष्ठ ४८

अस्तु उपर्युक्त कोषों के प्रमाणों से 'अणिमिस' शब्द का मांस अर्थ इस स्थान पर कदापि नहीं हो सकता, किन्तु फल विशेष ही सिद्ध होता है। मांस अर्थ करने से गाथा के अर्थ की परस्पर संगति किसी प्रकार भी नहीं मिलती।

एक बात और भी है कि-इस अध्ययन में कहीं पर भी मांस विषयक अधिकार नहीं आता। जिस प्रकार अकल्पनीय अन्न पानी कालिम और स्वादिम नहीं लेने चाहियें, यह विषय बारबार आता है और जिस प्रकार उक्त चारों आहारों का विस्तृत वर्णन किया गया है। ठीक उसी प्रकार मांस मदिप

का कहीं पर भी विधान नहीं है। क्योंकि ये उक्त दोनों पदार्थ सर्वथा ही अभक्ष्य हैं। फिर भला इनका विधान अहिंसा प्रधान शास्त्र में किस प्रकार किया जा सकता था। इतना तो मन्द से मन्द बुद्धि भी सोच विचार सकते हैं।

ऊपर के सर्व विवचन का संक्षिप्त शब्दों में यह निष्कर्ष है कि- उक्त 'अणिमिस, आदि पदों का वनस्पति अर्थ ही युक्तियुक्त एवं शास्त्र सम्मत है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, जल के विषय में कथन करते हैं—

तहे वुच्चावयं पाणं , अदुवा वारधोअण ।
ससेइम चाउलोदग, अहुणाधोअ विवज्जए ॥७५॥

तथैवो च्चावचं पानं , अथवा वारकधावनम् ।
संस्वेदजं तन्दुलोदकं , अधुना धौत विवर्जयेत् ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थ—(तहेव) उसी प्रकार (उच्चावयं) ऊँच नीच—अच्छा बुरा (पाणं) पीने योग्य पदार्थ पानी (अदुवा) अथवा (वारधोअणं) गुड घट आदि का धोवन (संसेइमं) पिष्टोदक—कठोती का धोवन (चाउलोदग) चावलों का धोवन (अहुणाधोअ) सो यदि तत्काल का धौत होतो मुनि (विवज्जए) वर्जदे—ग्रहण न करे ॥ ७५ ॥

मूलार्थ—जिस प्रकार अशन के विषय में कहागया है, उसी प्रकार उच्च-सुस्वादु द्राक्षादि का पानी, अवच-दुःस्वादु काँजी आदि का पानी, गुड़ घट के धोवन का पानी, कथरोट के धोवन का पानी, चावलों के धोवन का पानी, इत्यादि तत्काल के धोवनपानी को मुनि कदापि ग्रहण न करे ॥ ७५ ॥

भाष्य—इस गाथा में पानी के विषय में वर्णन किया गया है—जिस प्रकार उत्सर्ग और अपवाद मार्ग के द्वारा अशनादि के विषय में वर्णन किया है ठीक उसी प्रकार पानी के विषय में भी जानना चाहिए। यथा—

उच्च पानी उसे कहते हैं जिसका वर्ण गन्ध, शुभ होता है। जैसे द्राक्षा आदि का पानी। नीच पानी है जिसका वर्ण, गन्ध, शुभ नहीं होता जैसे कांजी आदि का पानी। गुड़ के घड़े का धोवन घड़े का धोवन धान्य स्थाली का धोवन, पिष्ट आदि का धोवन तथा चावलों के धोवन का प्रकार अन्य भी धोवन के पानी जो तत्काल के—तुरत के बने हुए हों न लेने चाहिए। क्यों तन पानी थोड़े समय के बने हुए होते हैं उनमें अन्य पदार्थों का स्पर्श पूर्ण रूप से नहीं होने। पूर्ण रूप से स्पर्शित-शुद्ध जल ही साधु को ग्राह्य है अन्य नहीं। इसी लिए सूत्रकार ने 'अनुनाधौतं विवर्जयेत्' पद दिया है।

उत्थानिका—अब फिर इसी जल के विषय में कहा जाता है—

जं जाणेज्ज चिरा धोयं , मईए दंसणेण वा ।
पडिपुच्छिऊण सुच्चा वा, जं च निस्संकिअं भवे ॥ ७६ ॥

यज्जानियात् चिराद्धौतं , मत्या दर्शनेन वा ॥
प्रतिपृच्छ्य श्रुत्वा च , यच्च निःशंकितं भवेत् ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ—(जं) यदि (चिराधोअं) यह धोवन चिरकाल का है इस प्रकार (मईए) अपनी विचार बुद्धि से (वा) अथवा (दंसणेण) देखने से (पडिपुच्छिऊण) गृहस्थ से, पूछकर (वा) या (सुच्चा) सुनकर (जाणेज्ज) जानले (च) और (जं) पूर्वोक्त पानी के विषय में (निस्संकिअं) पूर्ण निःशङ्कित (भवे) होजाय तो ग्रहण करले ॥ ७६ ॥

मूलार्थ—विचार-बुद्धि से, प्रत्यक्ष दर्शन से, दातार से पूछकर या सुन कर यदि ' यहजल चिरधौत है ' ऐसा शङ्का रहित शुद्ध निश्चय हो जाय तो मुनि धोवन पानी ग्रहण करले ॥ ७६ ॥

भाष्य—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है-साधु को चाहिए कि जितने भी धोवन पानी शास्त्रकारों ने साधु को ग्राह्य बतलाये हैं, उन सब को लेने से पहले दीर्घकालिक धौत सम्बन्धी निर्दूषणता का ज्ञान भले प्रकार प्राप्त करे ।

यह ज्ञान कई प्रकार से किया जा सकता है-प्रथम तो सूत्रानुसारिणी सूक्ष्म बुद्धि से विचार करे कि प्रायः धावन पानी किस समय तैयार होते हैं? अब क्या समय हो चला है? गृहस्थ लोग अब किस अवस्था में थे? किधर थे? क्या कर रहे थे? आदि आदि बातों पर पूर्ण ध्यान दे। यदि इससे ठीक तौर से कुछ पता न चले तो फिर धोवन जल को देखे देख कर निर्णय करे कि जल का रूप रंग किस प्रकार का है? जल में विलोडितपना परिलक्षित होता है या नहीं। यदि लक्षित है तो वह किस कारण को लिये हुये है? यदि इतने पर भी आशङ्का बनी ही रहे तो दातार गृहस्थ से या अन्य समीपस्थ अबोध बच्चों आदि से प्रश्नोत्तर करके निर्णय करे।

कहने का सारांश यह कि-जब पूर्ण रूप से पूछ ताछ आदि करने पर 'यह धोवन साधु मर्यादा योग्य प्रासुक निर्जीव है और अधिक समय का हो चुका है।" यह निश्चय होजाय तब तो साधु उस धोवन पानी को ग्रहण करे नहीं तो नहीं। तत्काल के धोवन पानी में प्रासुकता की-जीव रहितता की बुद्धि रखना स्पष्ट शास्त्र असम्मत है॥ ७६॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, उष्ण जल के विषय में एवं शङ्कित जल को चखकर निर्णय करने के विषय में कहते हैं-

अजीवं परिणयं नच्चा, पडिगाहिज्ज संजए।
अह संकियं भवेज्जा, आसाइत्ताण रोअए॥७७॥

अजीवं परिणतं ज्ञात्वा, प्रतिगृह्णीयात् संयत ।
अथ शंकितं भवेत्, आस्वाद्य रोचयत् ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ—उष्ण जल को पूर्ण तया (अजीव) अजीव भाव (परिणयं) परिणत हुआ (नच्चा) जान कर (पडिगाहिज्ज) ग्रहण करे अन्यथा नहीं। (अह) यदि किसी अन्य प्रासुक जल के विषय में अरुचिता आदि की (संकियं) शङ्का (भवे) होजाय तो (आसाइत्ताण) आस्वादन करके-चख करके (रोअए) निश्चय करे ॥ ७७ ॥

मूलार्थ साधुको उष्ण जल मिले तो-भले प्रकार तप्त, अजीव भाव परिणत, पूर्ण प्रासुक उष्ण जल ही ग्रहण करे। इस के विपरीत मन्दोष्ण आदि नहीं। तथा यदि किसी अन्य प्रासुक जल के विषय में यह शङ्का होजाय कि-यह जल मेरी प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ेगा तो-चख कर लेने न लेने का निश्चय करे ॥ ७७ ॥

भाष्य—इस गाथा में पूर्व के दो चरणों में उष्ण जल के विषय में और उत्तर के दो चरणों में अन्य प्रासुक जल के विषय में वर्णन किया गया है—

उष्ण जल साधु के लिये ग्राह्य है। परन्तु कब ग्राह्य है-जब कि वह पूरे तौर से तप्त हो जाने पर जीव रहित,-प्रासुक हो चुका हो तब। इस का निर्णय भी उन्हीं पूर्व सूत्रोक्त युक्ति दर्शन प्रश्न आदि

यह ज्ञान इस प्रकार से किया जा सकता है-प्रथम तो सूत्रानुसारिणी सूक्ष्म बुद्धि से विचार करे कि प्रायः धावन पानी किस समय तैयार होते हैं? अब क्या समय हो चला है? गृहस्थ लोग अब किस अवस्था में थे? किधर थे? क्या कर रहे थे? आदि आदि बातों पर पूर्ण ध्यान दें। यदि इससे ठीक तौर से कुछ पता न चले तो फिर धोवन जल को देखे देख कर निर्णय करे कि जल का रूप रंग किस प्रकार का है? जल में विशेष भिन्नता परिलक्षित है या नहीं। यदि परिलक्षित है तो वह किस कारण को लिये हुये है? यदि इतने पर भी आशङ्का बनी ही रहे तो दातार गृहस्थ से या अन्य समीपस्थ अबोध बच्चों आदि से प्रश्नोत्तर करके निर्णय करे।

कहने का सारांश यह कि-जब पूर्ण रूप से पूछ ताछ आदि करलेने पर 'यह धोवन साधु मर्यादा योग्य प्रासुक निर्जीव है और अधिक समय का हो चुका है।" यह निश्चय होजाय तब तो साधु उस धोवन पानी को ग्रहण करे नहीं तो नहीं। तत्काल के धोवन पानी में प्रासुकता की-जीव रहितता की बुद्धि रखना स्पष्टतः शास्त्र असम्मत है ॥ ७६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, उष्ण जल के विषय में एवं शङ्कित जल को चखकर निर्णय करने के विषय में कहते हैं—

अजीव परिणयं नच्चा, पडिगाहिज्ज संजए।
अह संकियं भवेज्जा, आसाइत्ताण रोअए ॥ ७७ ॥

थोवमासायणट्ठाए , हत्थगम्मि दलाहि मे।
मा मे अच्चविलं पूअं , नालं तिण्हं विणित्तए ॥ ७८ ॥

स्तोक मास्वादनार्थं , हस्ते देहि मे।
मा मे अत्यम्लं पूति , नालं तृष्णापनोदाय (नालंतृष्णा विनेतु ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थ—(थोवं) थोड़ा सा पानी (आसायणट्ठाए) आस्वादन के वास्ते (मे) मुझे (हत्थगम्मि) हाथ में—अंजली में (दलाहि) दे। क्यों कि (अच्चविलं) अत्यन्त खट्टा अथवा (पूअं) सड़ा हुआ (तिण्हं) तृषा को (विणित्तए) निवृत्त करने में (नालं) असमर्थ पानी (मे) मुझे (मा) नहीं खपता है ॥ ७८ ॥

मूलार्थ—हे बहिन ! चखने के लिये थोड़ा सा पानी मुझे हाथ में दे। क्योंकि अतीव खट्टा, सड़ा हुवा, प्यास नहीं मिटाने वाला जल मुझे अनुकूल नहीं पड़ता ॥ ७८ ॥

भाष्य—इस गाथा में यह वर्णन है कि—जिस जल के विषय में यह शङ्का होजाय कि यह जल खट्टा है—सड़ा हुआ है—प्यास बुझाने लायक नहीं है, तो साधु देनेवाली से कहे कि—हे बहन ! यह जल थोड़ासा चखने के लिये मुझे अंजली में दे। ताकि मैं निर्णय करलूं कि यह जल किसी प्रकार

उपायों से करना चाहिए। ग्राह्य-अग्राह्य सम्बन्धी सन्देह की अवस्था में किसी चीज के लेने के लिये
हाथ पसारना आत्माभिमानी-मताभिमानी जैन साधु के लिये सर्वतो भावेन वर्जित है।

पहले रही उष्ण जल की शुद्धता की बात। अब सूत्रकारने गाथा के पिछले दो चरणों में
यह बतलाया है कि-जल के विषय में प्रासुकता सम्बन्धी तो किसी प्रकार की शंका नहीं रही हो-
अच्छे प्रकार से यह निश्चय हो चुका हो कि-यह जल प्रासुक है शुद्ध है। अतः इसके लेने में कोई आपत्ति
नहीं। परन्तु—यदि यह शङ्का हो जाय कि यह जल दुःस्वादु-विरस-अरुचिकर है। अतः यह मेरी
शारीरिक प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ेगा तो उस समय दातव्य जल को चख करके अपनी शङ्का
की सत्यता असत्यता का ज्ञान करे। गृहस्थ के यहाँ ही ऐसे चखकर निर्णय करने में साधु को कोई
दूषण नहीं लगता।

शरीर की उपमा यंत्र से दी जाती है। अतः शरीर के लिये जिस प्रकार अन्न की शुद्धता का
ध्यान रक्खा जाता है उसी प्रकार-उससे भी बढ़कर जल की शुद्धता का ध्यान रखना चाहिए। दूषित
जल के पीने से स्वास्थ्य में गड़बड़ हुए बिना नहीं रह सकती। जब स्वास्थ्य में गड़बड़ होगई तो
फिर नित्यप्रति की धार्मिक क्रियाओं में गड़बड़ का होना अपने आप सिद्ध है। अस्तु, इस उत्तरोत्तर
की गड़बड़ से बचने के लिये मुनि को अपने खान-पान के कामों में अवश्य ही सदा सतर्क रहना
चाहिए ॥ ७७ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, चखने के लिये पानी किस तौर से क्या कह कर ले यह कहते हैं—

थोवमासायणट्ठाए , हत्थगाम दलाहि मे ।
मा मे अच्चविलं पूअं , नालं तिण्हं विणित्तए ॥ ७८ ॥

स्तोक मास्वादनार्थं , हस्ते देहि मे ।
मा मे अत्यम्लं पूति , नालं तृडपनोदाय (नालंतृष्णां विनेतु ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थ—(थोव) थोड़ा सा पानी (आसायणट्ठाए) आस्वादन के वास्ते (मे) मुझे (हत्थगंमि) हाथ में—अञ्जली में (दलाहि) दे । क्यों कि (अच्चविलं) अत्यन्त खट्टा अथवा (पूअं) सड़ा हुआ (तिण्हं) तृषा को (विणित्तए) निवृत्त करने में (नालं) असमर्थ पानी (मे) मुझे (मा) नहीं खपता है ॥ ७८ ॥

मूलार्थ—हे बहिन ! चखने के लिये थोड़ा सा पानी मुझे हाथ में दे । क्योंकि अतीव खट्टा, सड़ा हुआ, प्यास नहीं मिटाने वाला जल मुझे अनुकूल नहीं पड़ता ॥ ७८ ॥

भाष्य—इस गाथा में यह वर्णन है कि—जिस जल के विषय में यह शङ्का होजाय कि यह जल खट्टा है—सड़ा हुआ है—प्यास बुझाने लायक नहीं है, तो साधु देनेवाली से कहे कि—हे बहन ! यह जल थोड़ासा चखने के लिये मुझे अञ्जली में दे । ताकि मैं निर्णय करलूं कि यह जल किसी प्रकार

से तृषित हो नहीं है। क्यों कि—दूषित पानी पिया हुआ शरीर में विकार करता है। अतः ऐसे पानी को लेकर मैं क्या करूँगा?

इस ऊपर के कथन से स्पष्ट सिद्ध है कि—जो पदार्थ अनुपयोगी हो विकार जनक हो उसे मुनि कदापि ग्रहण न करे। शङ्कित पदार्थ की उसी स्थान पर परीक्षा करले, जिससे फिर उसे गेरना न पड़े क्यों कि—गेरने में प्रायः अयत्ना होजाने की सम्भावना रहती है।

सूत्रकर्ता ने जो 'आस्वादन' पद दिया है, वह व्यक्त करता है कि—देय पदार्थ की योग्यता-अयोग्यता के निर्णय करने में साधु गृहस्थ के यहाँ किसी प्रकार का लज्जा भाव एवं संकोच न करे। जिस रीति से निर्णय हो सकता हो साधु को उसी रीति का अवलम्बन करना चाहिए।

सूत्रकार ने सूत्र में केवल पानी के लिये ऐसा कहा है-इससे यह मतलब नहीं निकाल लेना चाहिए कि केवल पानी का ही इस प्रकार निर्णय करे अन्य का नहीं। यह पानी उपलक्षण है। इससे इसी भाँति अन्य पदार्थों का भी ग्रहण कर लेना चाहिए ॥ ७८ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि कोई दातार की आग्रह करके ऐसा पानी देने ही लगे तो फिर साधु क्या करे–यह कहते हैं—

त च अच्चंबिलं पूअं, नालं तिण्हं विणित्तए।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७९ ॥

तञ्च अच्चम्लं पूति (तं), नालं तृष्णां विनेतुं ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत , न मे कल्पते तादृशम् ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थ—(च) फिर (त) उस (अच्चंबिल) अत्यन्त खट्टे (पूयं) सड़े हुए (तिण्हं) तृषा (विणित्तए) शान्त करने के लिये (नालं) असमर्थ-पानी को (दिंतिअ) देनेवाली स्त्री से (पडि आइक्खे) कहे कि- (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का दूषित पानी ग्रहण करना (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ ७९ ॥

मूलार्थ—फिरभी यदि दातार स्त्री आग्रह करके इस प्रकार का खट्टा-सड़ाहुआ-प्यास बुझाने के लिये अयोग्य पानी देने लगेतो साधु उस देने वाली से स्पष्ट कहदेकि-इस प्रकार का दूषित पानी मुझे ग्रहण करना नहीं कल्पता है ॥ ७९ ॥

भाष्य—इस सूत्र में यह वर्णन है कि-यदि कोई अनभिज्ञ दातार स्त्री ऐसे दूषित पानी के लेने का आग्रह करने लगे तो साधु को चाहिए कि वह उस देने वाली से साफ कहदे कि यह आग्रह समयोचित नहीं है। ऐसा पानी मैं नहीं लेसकता। पानी तृषा मिटाने के लिये लिया जाता है नकि गेरने के लिये। इस में कौनसा काम होगा कि मैं तेरे यहाँ से लेजाऊँ और फिर गेरता फिरूं। इस पानी से पानी की गर्ज पूरी होनी तू भी जानती है सर्वथा असम्भव है।

से दूषित तो नहीं है। क्यों कि—दूषित पानी पिया हुआ शरीर में विकार करता है। अतः ऐसे पानी को लेकर मैं क्या करूँगा ?

इस ऊपर के कथन से स्पष्ट सिद्ध है कि-जो पदार्थ अनुपयोगी हो विकार जनक हो उसे मुनि कदापि ग्रहण न करे। शङ्कित पदार्थ की उसी स्थान पर परीक्षा करले, जिससे फिर उसे गेरना न पड़े क्यों कि—गेरने में प्रायः अयत्ना होजाने की सम्भावना रहती है।

सूत्रकर्ता ने जो 'आस्वादन' पद दिया है, वह व्यक्त करता है कि—देय पदार्थ की योग्यता-अयोग्यता के निर्णय करने में साधु गृहस्थ के यहाँ किसी प्रकार का लज्जा भाव एवं संकोच न करे। जिस रीति से निर्णय हो सकता हो साधु को उसी रीति का अवलम्बन करना चाहिए।

सूत्रकार ने सूत्र में केवल पानी के लिये ऐसा कहा है-इससे यह मतलब नहीं निकाल लेना चाहिए कि-केवल पानी का ही इस प्रकार निर्णय करे अन्य का नहीं। यह पानी उपलक्षण है। इससे इसी भाँति अन्य पदार्थों का भी ग्रहण कर लेना चाहिए ॥ ७८ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि कोई दातार भी आग्रह करके ऐसा पानी देने ही लगे तो फिर साधु क्या करे—यह कहते हैं—

त च अच्चबिल पूअ , नाल तिण्ह विणित्तए ।

दिंतिअ पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिस ॥ ७९ ॥

तच्च अत्यम्लं पूति (त), नालं तृष्णां विनेतुं ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत , न मे कल्पते तादृशम् ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थ—(च) फिर (तं) उस (अच्चविल) अत्यन्त खट्टे (पूअं) सड़े हुए (तिण्ह) तृषा (विणित्तए) शान्त करने के लिये (नाल) असमर्थ-पानी को (दिंतिअं) देनेवाली स्त्री से (पडि आइक्खे) कहे कि (मे) मुझे (तारिस) इस प्रकार का दूषित पानी ग्रहण करना (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ ७९ ॥

मूलार्थ—फिरभी यदि दातार स्त्री आग्रह करके इस प्रकार का खट्टा-सड़ाहुवा-प्यास बुझाने के लिये अयोग्य पानी देने लगेतो साधु उस देने वाली से स्पष्ट कहदेकि-इस प्रकार का दूषित पानी मुझे ग्रहण करना नहीं कल्पता है ॥ ७९ ॥

भाष्य—इस सूत्र में यह वर्णन है कि-यदि कोई अनभिज्ञ दातार स्त्री ऐसे दूषित पानी के देने का आग्रह करने लगे तो साधु को चाहिए कि वह उस देने वाली से साफ कहदे कि यह आग्रह समयोचित नहीं है। ऐसा पानी मैं नहीं लेसकता। पानी तृषा मिटाने के लिये लिया जाता है नकि गेरने के लिये। इस में कौनसा लाभ होगा कि मैं तेरे यहाँ से लेजाऊं और फिर गेरता फिरूं। इस पानी से पानी की गर्ज पूरी होनी तू भी जानती है सर्वथा असम्भव है।

ऊपर की इस स्पष्टोक्ति के कहने का सारांश यह ही है कि-आहार पानी के विषय में साधु स्पष्टता से काम ले। किसी प्रकार की दबा ढ़की न रक्खे। दबा ढ़की के काम में माया चारी अवश्य करनी पड़ती है। जब मायाचारी आगई तो फिर साधुता कहाँ ! असावधानता के कारण एक दोष ही आगे चल कर अनेकानेक दोषों का कारण होजाता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि कभी ऐसा पानी लेही लिया होतो साधु फिर क्या करे-यह कहते हैं –

त च होज्ज अकामेण, विमणेण पडिच्छिअ।
त अप्पणा न पिवे, नोवि अन्नस्स दावए ॥८०॥

तच्च भवेत् अकामेन, विमनस्केन प्रतीप्सितम्।
तदात्मना न पिबेत्, नाऽप्यन्येभ्यो दापयेत् ॥ ८० ॥

अन्वयार्थ—(अकामेणं) बिना इच्छा से अथवा (विमणेणं) बिना मन से (तं) कदाचित् उक्त पानी (पडिच्छिअं) ग्रहण करलिया होतो (तं) उस जल को साधु (अप्पणा) स्वय (नपिवे) न पिवे तथा (अन्नस्सवि) दूसरों को भी (नोदावए) पीने के लिये न दे अर्थात् नही पिलावे ॥ ८० ॥

मूलार्थ—यदि पूर्वोक्त अग्राह्य पानी बिना इच्छा के और बिना मन के अर्थात् असावधानता से ग्रहण कर लिया होतो साधु का कर्तव्य है कि उस जल को न तो स्वय पीवे और न दूसरों को पिलाये ॥ ८० ॥

भाष्य—पूर्व सूत्र में बतलाया जा चुका है कि- साधु दूषित पानी कदापि ग्रहण न करे-साफ कहदे कि यह पानी मैं नहीं लेता। दूषित पानी के लेने से कुछ लाभ नहीं।

अब यह दूसरा सूत्र है। इस के प्रश्न और उत्तर के रूप में दोखण्ड होते हैं। पाठक दोनों का सूक्ष्म विचारणा के साथ अवलोकन करें।

प्रश्न—पूर्व सूत्रका कथन सर्वांश में ठीक है। ऐसा दूषित पानी कदापि नहीं लेना चाहिए। फिर भी मनुष्य के पीछे भूल लगी हुई है। कभी कभी वह भूल से बचते-बचते भी सहसा भूल में आजाता है और उसी काम को कर बैठता है। अस्तु भूल से या गृहस्थ के विशेष आग्रह से (कभी ऐसा अवसर होजाता है कि- गृहस्थ के आग्रह की उपेक्षा करने से धर्म में बड़ी भारी हानि हो जाती है) इच्छा न होते हुए भी, यदि कभी दूषित जल ग्रहण करलिया जाय तो फिर क्या करना उचित है? उस जल को स्वय पीवे या दूसरे साथी साधुओं को दे? दोनों कामों में से एक काम तो करना ही होगा-सो कौनसा करे? इस का उत्तर होना चाहिए।

उत्तर—दोनों में से एक काम भी न करना चाहिए अर्थात् न तो खुद पीवे और न दूसरे साधुओं को पीने के लिये दे। क्योंकि दूषित जल, चाहे खुद पीयो चाहे कोई दूसरा पीयो केवल हानिही

हानि है लाभ कुछ नहीं। दूषित जल पान से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। सो रुग्णावस्था में संयम रक्षा व आत्म रक्षा कहाँ तक? किस रूप में हो सकती है? यह सब जानते ही हैं। अतः उसके लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं।

साधु स्वपर हितार्थी होते हैं। वे अपने में और दूसरे में कुछ भेद नहीं समझते। जिस प्रकार वे अपनी रक्षा का ध्यान रखते हैं ठीक उसी प्रकार दूसरों की रक्षा का भी ध्यान रखते हैं। साधुओं की यह वृत्ति नहीं होती कि-वे अपनी बेगार दूसरों पर गेरें। अतएव उन्हें दूसरे साधुओं को भी यह दूषित पानी नहीं देना चाहिए।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि-यदि उस पानी की किसी को आवश्यकता ही होवे तो फिर क्या करना चाहिए? देना चाहिए या नहीं? उत्तर में कहा जाता है कि-यदि कोई गीतार्थ साधु उस पानी को माँगता होतो साधु उस पानी के विषय में अपनी तरफ से कहने योग्य सब कुछ कह कर उसको दे सकता है। यदि कोई अगीतार्थ माँगता होतो उसे कदापि नहीं देना चाहिए। गीतार्थ और अगीतार्थ में यही अन्तर होता है कि गीतार्थ उचित-अनुचित हित-अहित का पूर्ण ज्ञाता होता है और अगीतार्थ नहीं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इस विषय में कहते हैं कि जब वह पानी किसी को भी न दिया जाय तो फिर क्या करना चाहिए—

एगत मवक्कमित्ता , अचित्त पड़िलेहिआ ।
जय परिट्ठाविज्जा , परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ ८१ ॥

एकान्त मवक्रम्य , अचित्तं प्रत्युपेक्ष्य ।
यतं परिष्ठापयेत् , परिष्ठाप्य प्रतिक्रामेत् ॥ ८१ ॥

अन्वयार्थ—(एगतं) एकान्त स्थान पर (अवक्कमित्ता) जाकर (अचित्त) जीव रहित स्थान की (पड़िलेहित्ता) प्रति लेखना करके (जय) यत्न पूर्वक (परिट्ठविज्जा) पानी को परठदे-गरदे । और (परिट्ठप्प) परठ कर (पडिक्कमे) ईर्या पथिकी का ध्यान करे ॥ ८१ ॥

मूलार्थ—एकान्त स्थान पर जाकर, अचित स्थान की प्रतिलेखना करके, यत्नपूर्वक उस पानी को परठ दे और परठकर प्रतिक्रमण करे ॥ ८१ ॥

भाष्य—जब वह पानी किसी प्रकार से भी काम न आसके तो फिर उस पानी को एकान्त स्थान पर आकर, अचित्त भूमि को आँखों से खूब अच्छी तरह देखकर तथा रजोहरणादि द्वारा प्रति लेखना करके पश्चात् यत्ना के साथ परठ देना-गेर देना चाहिए और विधि पूर्वक परठ देने के बाद उस पानी को वोसिरा देना चाहिए। अर्थात परठ कर 'वोसिरे-वोसिरे' 'व्युत्सृजामि' इस प्रकार मुख से कहना चाहिए।

यद्यपि वृत्तिकार 'प्रति क्रमेत्' क्रिया पद के अर्थ में 'ईर्यापथिकम्' ईरिया वहिया का ध्यान करे इस प्रकार लिखते हैं-यथा- 'प्रतिष्ठाप्य वसतिमागतः प्रतिक्रमेदीर्यापथिकम्। एतच्च वहिर्गत-नियमकरणसिद्धम प्रतिक्रमणमवहिरपि प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रमणमापनार्थ मिति सूत्रार्थः।" परन्तु-'प्रतिक्रमेत्' क्रिया पद का अर्थ पीछे हटना है अर्थात् परठ कर 'वोसिरामि' कहना यही अर्थ युक्ति संगत प्रतीत होता है। क्योंकि जब दैवसिक प्रतिक्रमण किया जाता है तब दिन में लगे हुए सब अतिचारों की विधि पूर्वक आलोचना की ही जाती है।

सूत्रगत पानी' शब्द उपलक्षण है। इससे इसी प्रकार के अन्य मल आदि पदार्थों का भी ग्रहण हो जाता है। अस्तु परठने लायक सभी वस्तुओं के लिये यही विधि है। जो वस्तु परठनी हो, उसे एकान्त-निर्जीव स्थान पर परठे और परठ कर प्रतिक्रमण अर्थात् वोसिरे करे।

यहाँ सूत्र में जो 'एकान्त स्थान' शब्द आया है, उससे यह मतलब है कि जहाँ गृहस्थों का आना जाना न होता हो ऐसा स्थान। क्योंकि-चौड़े चौड़े खुले स्थान पर परठी हुई वस्तु गृहस्थों के देखने में आती है, उससे गृहस्थों को-साधुओं की तरफ से अप्रतीति होती है। वे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के दृष्टि बिन्दुओं से वस्तु के योग्य अयोग्य का विचार न करके अपने मन में यही भाव लाते हैं कि देखो ये कैसे साधु हैं? हम गृहस्थों के यहाँ से चीजें लाकर यों फेंक देते हैं। न अपने काम में लाते और न हमारे काम की छोड़ते! साधु बनगये तो क्या हुआ पर सीमतो बस न हुई।

दूसरा शब्द 'अचित्तस्थान की प्रतिलेखना है। इस का यह भाव है कि जो अयोग्य वस्तु परठनी हो उसे यत्न पूर्वक सूब देख भाल कर-जहाँ त्रस स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की बाधा

न होती हो ऐसे अचित्त स्थान पर परठे। क्योंकि अयत्ना के साथ बिना देखे भाले परठ देने से जीवों की विराधना होती है उससे प्रथम अहिंसा व्रत दूषित होजाता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अन्न पानी की ग्रहण विधि के कथन के बाद भोजन विधि के विषय में कहते हैं—

सिआ य गोयरग्गगओ , इच्छिज्जा परिभुत्तुअ (भुंजिउ)।
कुट्ठग भित्तिमूल वा , पडिलेहित्ताण फासुअ ॥८२॥

स्याच्च गोचराग्रगत , इच्छेत् परिभोक्तुम्।
कोष्ठकं भित्तिमूलं वा , प्रत्युपेक्ष्य प्रासुकम् ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थ—(गोयरग्गगओ) गोचरी के लिये गया हुआ साधु, (सिआ) कदाचित् (परिभुत्तुअं) वहाँ पर ही भोजन करने की (इच्छिज्जा) इच्छा करे (य) तो, (कुट्ठग) शून्य गृह आदि में (वा) अथवा (भित्तिमूल) मठ आदि की भित्ति के मूल में (फासुअ) प्रासुक—जीव रहित स्थान की (पडिलेहित्ताण) प्रति लेखना करके—भोजन करे ॥८२॥

मूलार्थ—गोचरी के लिये गाँव में गये हुए साधुको कदाचित् किसी कारण वश वहाँ पर ही

यद्यपि वृत्तिकार 'प्रति क्रामेत्' क्रिया पद के अर्थ में 'ईर्यो पथिकाम्' ईरिया वहिया का ध्यान करे इस प्रकार लिखते हैं-यथा- 'प्रतिष्ठाप्य वसतिमागतः प्रतिक्रामेदीर्यापथिकाम् । एतच्च बहिरागत-नियमकरणसिद्धम प्रतिक्रमण्मन्तरपि प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रमणज्ञापनार्थं मिति सूत्रार्थ । " परन्तु-'प्रतिक्रामेत्' किया पदका अर्थ पीछे हटना है अर्थात् परठ कर वोसिरामिर कहना यही अर्थ युक्ति संगत प्रतीत होता है। क्योंकि जब दैवसिक प्रतिक्रमण किया जाता है तब दिन में लगे हुए सब अतिचारों की विधि पूर्वक आलोचना की ही जाती है।

सूत्रगत पानी' शब्द उपलक्षण है। इससे इसी प्रकार के अन्य मल आदि पदार्थों का भी ग्रहण हो जाता है। अस्तु परठने लायक सभी वस्तुओं के लिये यही विधि है। जो वस्तु परठनी हो, उसे एकान्त-निर्जीव स्थान पर परठे और परठ कर प्रतिक्रमण अर्थात् वोसिरे करे ।

यहाँ सूत्र में जो 'एकान्त स्थान' शब्द आया है, उससे यह मतलब है कि जहाँ गृहस्थों का आना जाना न होता हो ऐसा स्थान। क्योंकि-जो ऐसे खुले स्थान पर परठो हुई वस्तु गृहस्थों के देखने में आती है, उससे गृहस्थों की-साधुओं की तरफ से अप्रतीति होती है। वे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के हरि बिन्दुओं से वस्तु के योग्य अयोग्य का विचार न करके अपने मन में यही भाव लाते हैं कि देखो ये कैसे साधु हैं? हम गृहस्थों के यहाँ से चीजें लालाकर यों फेंक देते हैं। न अपने कामों में लाते और न हमारे काम की छोड़ते! साधु बनगये तो क्या हुआ पर श्रीमंतो बस न हुए।

दूसरा शब्द 'अचित्तस्थान की प्रतिलेखना है। उस का यह भाव है कि जो अयोग्य वस्तु परठनी हो उसे यत्न पूर्वक सूक्ष्म-देख भाल कर-जहाँ त्रस स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की घात

अनुज्ञाप्य मेधावी , प्रतिच्छन्ने संवृतः ।
हस्तकं सम्प्रमृज्य , तत्र भुञ्जीत संयतः॥ ८३ ॥

अन्वयार्थ—(मेहावी) बुद्धिमान (सजए) साधु (अणुन्नविशु) गृहस्थ की आज्ञा लेकर (पडिच्छन्नंमि) प्रतिच्छादन किये हुए—ढके हुए स्थानक में (संवुडे) उपयोग पूर्वक (हत्थगं) रजोहरणी द्वारा शरीर के हस्त पादादि अवयवों को (सपमज्जित्ता) सम्यक् प्रकार से प्रमार्जनकर (तत्थ) वहां (भुजिज्जा) भोजन करे ॥ ८३ ॥

मूलार्थ—बुद्धिमान साधु का कर्तव्य है कि, जब पूर्व प्रसग से भोजन करने की इच्छा हो तब गृहस्थ की आज्ञा लेकर पूजणी से अपने शरीर के अवयवों को सम्यक्तया प्रमार्जन करके तृणादि से आच्छादित स्थानक में उपयोग पूर्वक भोजन करे ॥ ८३ ॥

भाष्य—इस गाथा में आहार करने की विधि प्रतिपादित है कि—जब साधु, किसी शून्य गृह में अथवा किसी भित्ति के मूल में आहार करने लगे तब साधु को एक तो प्रथम गृहस्थ की आज्ञा अवश्य लेनी चाहिए। क्योंकि बिना गृहस्थ की आज्ञा लिये भोजन करने में जैन धर्म की हीलना निन्दना आदि अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं, जिनके कहने की आवश्यकता नहीं—जो विचार—शीलों के स्पष्टतः विचार गम्य हैं।

भोजन करने की इच्छा हो जाय, तो सूने-निर्जन घर में अथवा किसी भित्ति-दीवार के मूल-कोणे प्रासुक-शुद्धभूमि की प्रति लेखना करके (भोजन करे) ॥ ८२ ॥

भाष्य—इस सूत्र में यह वर्णन है कि-कोई तपस्वी या बालक साधु गोचरी के लिये गाँव में गया हुआ है। गांव में फिरते-फिरते बहुत देर होगई है, समय के अतिक्रमण से कड़ी भूख-प्यास या अन्य किसी ऐसे ही कारण के उपस्थित हो जाने पर, उस की यह इच्छा हो कि, मैं यहीं किसी स्थान पर आहार करलूं। तब उस को योग्य है कि वह किसी सूने घर में आकर यत्न पूर्वक आहार करले। यदि कोई सूना घर न मिले तो किसी कोष्ठक की भित्ति के बड़ में यानी दीवार की आड़ में प्रासुक-निर्दोष भूमि की प्रतिलेखना कर वहींपर आहार करे।

यहाँ यह अवश्य स्मरण रहे कि-जिस स्थान पर गृहस्थ लोग भोजनादि क्रियाएँ करते हों उस स्थान पर बैठकर साधु कदापि आहार न करे। क्योंकि वहाँपर आहार करने से बहुत से लोगों को यह शङ्का उत्पन्न होजाएगी कि यह साधु यहाँ आमंत्रित भोजन कर रहा है। इसलिये सूत्रकार ने शून्य गृह में तथा किसी दीवार की मूल में भोजन करने के लिये कहा है। ८२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वहाँपर किस प्रकार से भोजन करे—यह कहते हैं—

अणुन्नवित्तु मेहावी , पडिच्छन्नम्मि संवुडे ।
हत्थगं संपमज्जित्ता , तत्थ भुंजिज्ज संजए ॥ ८३ ॥

अनुन्नाप्य मेधावी , प्रतिच्छन्ने संवृतः ।
हस्तकं सम्प्रमृज्य , तत्र भुञ्जीत संयतः॥ ८३ ॥

अन्वयार्थ—(मेहावी) बुद्धिमान (संजए) साधु (अणुन्नविञ्चु) गृहस्थ की आज्ञा लेकर (पडिच्छन्नंमि) प्रतिच्छादन किये हुए—ढके हुए स्थानक में (संवुडे) उपयोग पूर्वक (हत्थगं) रजोहरणी द्वारा शरीर के हस्त पादादि अवयवों को (संपमज्जिचा) सम्यक् प्रकार से प्रमार्जनकर (तत्थ) वहां (भुंजिज्जा) भोजन करे ॥ ८३ ॥

मूलार्थ—बुद्धिमान साधु का कर्तव्य है कि, जब पूर्व प्रसंग से भोजन करने की इच्छा हो तब गृहस्थ की आज्ञा लेकर पूजणी से अपने शरीर के अवयवों को सम्यक्तया प्रमार्जन करके तृणादि से आच्छादित स्थानक में उपयोग पूर्वक भोजन करे ॥ ८३ ॥

भाष्य—इस गाथा में आहार करने की विधि प्रतिपादित है कि–जब साधु, किसी शून्य गृह में अथवा किसी भित्ति के मूल में आहार करने लगे तब साधु को एक तो प्रथम गृहस्थ की आज्ञा अवश्य लेनी चाहिए। क्योंकि बिना गृहस्थ की आज्ञा लिये, भोजन करने में जैन धर्म की हीलना निन्दा आदि अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं, जिनके कहने की आवश्यकता नहीं–जो विचार-शीलों के स्पष्टतः विचार गम्य हैं।

(छ) दूसरे जिस स्थान पर भोजन करना है, उस स्थान की शुद्धि का भी अवश्य ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि शुद्धि रहित स्थान अशुद्ध होता है। अशुद्ध अशुद्धि करता ही है। यहाँ शुद्धि से मतलब स्थान सम्बन्धी यतना से है, बाह्य-प्रचलित लौकिक जलादि शुद्धि से नहीं। स्थान सम्बन्धी शुद्धि का यह अर्थ है कि साधु जिस स्थान में भोजन करे, वह स्थान ऊपर से अच्छी प्रकार ढका हुआ होना चाहिए। चाहे ढका हुआ हो छप्पर के ऊपरसे ही इसकी कोई बात नहीं। प्रतिच्छन्न स्थानक में भोजन करने से भोजन में उड़ते हुए सूक्ष्म जीव नहीं गिरने पाते।

(ज) अस्तु—जब पूर्वोक्त भक्त की और स्थान शुद्धि की बात ठीक होजाय, तब साधु आहार करने से पहले अपने शरीर के हस्त पादादि अवयवों को पूंजणी से अच्छी तरह प्रमार्जन करे–तत्पश्चात् भोजन करे। पूंजणी द्वारा शरीर प्रमार्जन करने से एकतो जो सूक्ष्म जीव शरीर पर चढे हुए हों वे उतर जाते उनकी विराधना नहीं होती। दूसरे शरीर पर पड़ी हुई सूक्ष्म रज आदि पदार्थ भी उतर जाते हैं, जिससे भोजन करते समय फिर किसी प्रकार की खुजली आदि आकुलता नहीं होने पाती।

संक्षिप्त शब्दों में कहने का तात्पर्य यह है कि-साधु भोजन करने की अयोग्य शीघ्रता न करे। साधु जब भोजन करना चाहे तब बड़ी सावधानी से शान्ति पूर्वक खूब अपना विधि विधान देख भाल कर भोजन करे।

वाचक वृन्द! प्रस्तुत सूत्र में की एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है वह यह है कि–सूत्र में जो 'हत्थगं' 'हस्तकं' शब्द आया है उसका अर्थ पूंजणी–ओघरणी किया है। परन्तु टीकाकार इसके विषय है, वे इस हस्तक का अर्थ "मुख वस्त्रिका" करते हैं और उसके द्वारा शरीर का प्रमार्जन करना

वतलाते हैं। तथाच टीका-"हस्तकं" "मुख वस्त्रिका रूपम्। आदाय इति वाक्यशेषः सम्प्रमज्य स्थान ना तेनकाय तत्र भुञ्जीत।'

परन्तु-टीकाकार का यह अर्थ युक्ति से समर्थित नहीं जान पड़ता। क्योंकि मुखवस्त्रिका तो सदा मुंहपर लगी रहती है। अतएव 'हस्तेभवं हस्तकं' यह व्युत्पति मुखवस्त्रिका पर किसी भी रीति से नहीं लग सकता। जिन पर विना किसी ननु-नच के लग सकती है वे रजोहरण एवं रजोहरणी ही है। क्योंकि उक्त दोनों पदार्थ केवल प्रमार्जन क्रिया के वास्ते ही रक्खे जाते हैं।

प्रश्न व्याकरण सूत्र के प्रथम संवर द्वार में भी यह पाठ आता है कि 'संपमज्जिऊण ससीसकायं' यहाँ वृत्तिकार ने 'सम्प्रमृज्य मुखवस्त्रिका रजोहरणाभ्या सशीर्षं कायं समस्तकं शरीरम्' यह वृत्ति लिखकर मुखवस्त्रिका के साथही रजोहरण भी ग्रहण किया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रश्न व्याकरण सूत्र के टीकाकार को मुखवस्त्रिका की अपेक्षा प्रमार्जन के लिये रजोहरण ही उपयुक्त जान पड़ा है। मुखवस्त्रिका तो उन्होंने एक टीकाकारों की प्रथा के अनुसार ग्रहण की है। शोभनमात्मप्रोधनम्

मुखवस्त्रिका तो वायुकाय के जीवों की रक्षा वास्ते एवं स्वलिङ्ग के वास्ते ही कथन की गई है नकि शरीर के प्रमार्जन के वास्ते। प्रमार्जन तो रजोहरणीसे ही होसकता है अतः सिद्ध हुआ कि 'हत्थग'—'हस्तक शब्द से रजोहरणी ग्रहण करना ही सूत्र विहित है।

'इस रजोहरणी अर्थ को कोषकार भी स्वीकार करते हैं। देखिये-जैनागम शब्द संग्रह (अर्द्ध-मागधी गुजराती कोष) पृष्ठ ८१० पर लिखा है-हत्थग, न० (हस्तक) पूँजनी।

दूसरे जिस स्थान पर भोजन करना है, उस स्थान की शुद्धि का भी अवश्य ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि शुद्धि रहित स्थान अशुद्ध होता है। अशुद्ध अशुद्धि करता ही है। यहाँ शुद्धि से मतलब स्थान सम्बन्धी यतना से है, बाह्य-प्रचलित लौकिक अन्यादि शुद्धि से नहीं। स्थान सम्बन्धी शुद्धि का यह अर्थ है कि साधु जिस स्थान में भोजन करे, वह स्थान ऊपर से अच्छी प्रकार ढका हुआ होना चाहिए। क्योंकि ढका हुआ हो तो तृणादि के ऊपर से ही इसकी कोई बात नहीं। प्रतिच्छन्न स्थानक में भोजन करने से भोजन में उड़ते हुए सूक्ष्म जीव नहीं गिरने पाते।

अस्तु—जब पूर्वोक्त भाजन की और स्थान शुद्धि की बात ठीक हो जाय, तब साधु आहार करने से पहले अपने शरीर के हस्त पादादि अवयवों को पूँजणी से अच्छी तरह प्रमार्जन करे—तत्पश्चात् भोजन करे। पूँजणी द्वारा शरीर प्रमार्जन करने से एक तो जो सूक्ष्म जीव शरीर पर चढ़े हुए हों वे उतर जाते हैं, उनकी विराधना नहीं होती। दूसरे शरीर पर पड़ी हुई सूक्ष्म रज आदि पदार्थ भी उतर जाते हैं, जिससे भोजन करते समय फिर किसी प्रकार की खुजली आदि आकुलता नहीं होने पाती।

संक्षिप्त शब्दों में कहने का तात्पर्य यह है कि-साधु भोजन करने की अयोग्य शीघ्रता न करे। साधु जब भोजन करना चाहे तब बड़ी सावधानी से शान्ति पूर्वक खूब अपना विधि विधान देख भाल कर भोजन करे।

पाठक वृन्द ! प्रस्तुत सूत्र में की एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है वह यह है कि—सूत्र में जो 'हत्थगं' 'हत्थं' शब्द आया है उसका अर्थ पूँजणी-रजोहरणी किया है। परन्तु टीकाकार इसके विरुद्ध हैं, वे इस हत्थक का अर्थ "मुख वस्त्रिका" करते हैं और उसके द्वारा शरीर का प्रमार्जन करना

तदुत्क्षिप्य न निक्षिपेत् , आस्येन नोज्झेत् ।
हस्तेन तद् गृहीत्वा , एकान्तमपक्रामेत् ॥ ८५ ॥
एकान्तमवक्रम्य , अचित्तं प्रत्युपेक्ष्य ।
यत परिष्ठापयेत् , परिष्ठाप्य प्रतिक्रामेत् ॥ ८६ ॥

अन्वयार्थ—(तत्थ) वहाँ पूर्वोक्त शुभस्थान में (भुंजमाणस्स) भोजन करते हुए (से) उस साधु के आहार में (अट्ठिअं) गुठली (कंटओ) कण्टक (वावि) और (तणकट्ठसक्करं) तृण, काष्ठ, शर्करा-कंकर (वा) तथा (अन्नंवावि) अन्य भी कोई (तहाविहं) तथा विध पदार्थ (सिआ) कदाचित् निकल आवे तो—

(तं) उस पदार्थ को (उक्खिवित्तु) हाथ से उठाकर (न निक्खिवे) इतस्ततः न फेंके तथा (आसएण) मुख से भी (न छड्डए) थूककर दूर न गेरे किन्तु (हत्थेण) हाथ से (तं) सम्यक्तया उसको (गहेऊण) ग्रहण कर-पकड़ कर (एगंतं) एकान्त स्थान में (अवक्कमे) जावे—

और (एगंत) एकान्त स्थान में (अवक्कमे) जाकर (अचित्तं) अचित्त भूमि की प्रति

अस्तु—युक्ति प्रमाणों से हस्तक का वास्तविक अर्थ पूंजनी ही सिद्ध होता है। टीकाकारों का कथन परतः प्रमाण है। अतः यहाँ इस अर्थ में टीका अप्रमाण्य ठहरती है॥ ८३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, तीन गाथाओं से इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि यदि भोजन करते समय कण्टक आदि पदार्थ आजायें तो क्या करना चाहिए—

तत्थ से भुंजमाणस्स, अट्ठिअं कंटओ सिया।
तणकट्ठ सक्करं वावि, अन्नं वावि तहाविहं॥ ८४॥
तं उक्खिवित्तु न निक्खिवे, आसएण न छड्डए।
हत्थेण तं गहेऊण, एगंत मवक्कमे॥ ८५॥
एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिआ।
जयं परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे॥ ८६॥ [त्रिभि०]

तत्र तस्य भुञ्जानस्य अस्थिकं कण्टकः स्यात्।
तृण-काष्ठं शर्करं वाऽपि, अन्यद्वाऽपि तथाविधम्॥ ८४॥

तदुत्क्षिप्य न निक्षिपेत् , आस्येन नोज्झेत् ।
हस्तेन तद् गृहीत्वा , एकान्तमवक्रामेत् ॥ ८५ ॥
एकान्तमवक्रम्य , अचित्तं प्रत्युपेक्ष्य ।
यत परिष्ठापयेत् , परिष्ठाप्य प्रतिक्रामेत् ॥ ८६ ॥

अन्वयार्थ—(तत्थ) वहाँ पूर्वोक्त शुद्धस्थान में (भुंजमाणस्स) भोजन करते हुए (से) उस साधु के आहार में (अट्ठिअं) गुठली (कंटओ) कण्टक (वावि) और (तणकट्ठसक्कर) तृण, काष्ठ, शर्करा-कंकर (वा) तथा (अन्नंवावि) अन्य भी कोई (तहाविहं) तथा विध पदार्थ (सिआ) आजाय-निकल आवे तो—

(तं) उस पदार्थ को (उक्खिविचु) हाथ से उठाकर (न निक्खिवे) इतस्ततः न फेंके तथा (आसएण) मुख से भी (न छड्डए) थूककर दूर न गेरे किन्तु (हत्थेण) हाथ से (त) सम्यक्तया उसको (गहेऊण) ग्रहण कर-पकड़ कर (एगंत) एकान्त स्थान में (अवक्कमे) जावे—

और (एगंत) एकान्त स्थान में (अवक्कमे) जाकर (अचित्त) अचित्त भूमि की प्रति-

लेखना कर (जयं) यतना से (परिट्ठविज्जा) उसे परठ दे और (परिट्ठप्प) परठकर (पडिक्कमे) प्रतिक्रमण करे यानी ईर्यावहिया का ध्यान करे या—'वोसिरामि-वोसिरामि' कहे। ॥ ८४-८५ ८६ ॥

मूलार्थ—पूर्व सूत्रोक्त स्थान में भोजन करते समय यदि साधु के आहार में गुठली, काँटा, तिनका, काठ, कंकर तथा अन्य भी इसी प्रकार के कोई पदार्थ आजाएँ तो—

साधु उन पदार्थों को न तो हाथ से उठाकर यत्र कुत्रचित् फेंके और नाही मुखसेथूत्कार की ध्वनि से थूककर फेंके। किन्तु—उनको सम्यक्तया हाथ से ग्रहण कर एकान्त जीव—रहित स्थान में चला जावे—

और वहाँ एकान्त स्थान में जाकर अचित्त भूमि को खूब देख भाल कर बड़ी यतना के साथ परठने योग्य स्थान पर परठे और परठकर प्रतिक्रमण करे ॥ ८४—८५—८६ ॥

भाष्य—साधु के भोजन करते समय यदि गुठली कंटक आदि पदार्थ निकल आयें तो साधु उन पदार्थों को योंही अयत्ना से इधर-उधर—थूक-थाक कर न फेंके। क्योंकि ऐसा करने से अयत्ना होती है। जहाँ अयत्ना है, वहां जीवों का उपघात सिद्ध है ही।

अस्तु—साधु ऐसे स्थान के अयोग्य निकृष्ट पदार्थों को हाथ से ग्रहण कर एकान्त स्थान में जावे और वहाँ जाकर प्रासुक भूमि की सावधानी से प्रतिलेखना कर यत्न पूर्वक परठ दे। इतना ही नहीं परठ कर प्रतिक्रमण भी करे। यानी इच्छाकारेण आदि प्रसिद्ध पाठ पढ़े या 'वोसिरामि २, कहे क्योंकि इस प्रकार करने से क्रिया का अपराध भली भाँति होजाता है। इसी वास्ते अन्तिम ८६ अंकवाली गाथा के चतुर्थ पाद में 'पडिक्कमे — प्रतिक्रमेत्' क्रिया पद दिया गया है। इस क्रियापद के विषय में विशेषवक्तव्य "एगत मवक्कमित्ता" ८१ गाथा के भाष्य में देखें। वहाँ स्पष्टतः विवेचन किया जाचुका है।

यहाँ विशेष विवेचन योग्य एक बात और है। वह यह कि—चोरासी वे सूत्र में जो 'अट्ठिअं' 'अस्थिकं' पद दिया हुआ है। उससे वही भ्रान्ति होती है जो 'बहुअट्ठिअंपुग्गल' वाली गाथा के भाष्य में कही जाचुकी है। परन्तु-दूर भसल इस शब्द का यहाँ वहाँ भ्रान्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ 'अस्थिक' शब्द से केवल फल की गुठली ही लीजाती है। क्योंकि अगले चरणों में स्पष्ट तृण आदि शब्द पड़े हुए हैं। वे बतलाते हैं कि सूत्रकार को 'अस्थिक' शब्द से गुठली ही अभिमत है। तभी तो पाठकी पूर्वापर संगति बैठती चली जाती है—नहीं तो कैसे बैठ सकती है?

पन्नवणा सूत्र के भी प्रथमपद में और वनस्पति अधिकार में 'एगट्ठिया' और 'बहुबीयगा' ऐसे दो सूत्र दिये हुए हैं। जिसमें 'एगट्ठिया' 'एकास्थिका' शब्द में निम्ब, आम्र, जामुन हरीत की (हरड़) आदि फल ग्रहण किये गये हैं और 'बहुबीयगा' शब्द में दाड़िम-अनार आदि फलों का

देखना कर (जयं) यतना से (परिट्ठविज्जा) उसे परठ दे और (परिट्ठप्प) परठकर (पडिक्कमे) प्रतिक्रमण करे यानी ईर्यावहिया का ध्यान करे या-'वोसिरामि-वोसिरामि' कहे। ॥ ८४-८५ ८६ ॥

मूलार्थ—पूर्व सूत्रोक्त स्थान में भोजन करते समय यदि साधु के आहार में गुठली, काँटा, तिनका, काठ, कंकर तथा अन्य भी इसी प्रकार के कोई पदार्थ आजाएँ तो—

साधु उन पदार्थों को न तो हाथ से उठाकर यत्र कुत्रचित् फेंके और नाही मुखसेथूत्कार की ध्वनि से थूककर फेंके। किन्तु—उनको सम्यक्तया हाथ से ग्रहण कर एकान्त जीव-रहित स्थान में चला जावे—

और वहाँ एकान्त स्थान में जाकर अचित्त भूमि को खूब देख भाल कर बड़ी यतना के साथ परठने योग्य स्थान पर परठे और परठकर प्रतिक्रमण करे ॥ ८४—८५—८६ ॥

भाष्य—साधु के भोजन करते समय यदि गुठली कंटक आदि पदार्थ निकल आयें तो साधु उन पदार्थों को योंही अयत्ना से इधर-उधर-थूक-थाक कर न फेंके। क्योंकि ऐसा करने से अयत्ना होती है। जहाँ अयत्ना है, वहाँ जीवों का उपघात सिद्ध है ही।

भोजन करूं, तो वह शुद्ध भिक्षा लिये हुए साधु उपाश्रय में आवे और भोजन स्थान की प्रति लेखना करके लायेहुए भिक्षा भोजन की विशुद्धि करे ॥ ८७ ॥

भाष्य—इस गाथा में यह वर्णन है कि किसी विशेष कारण के न होने पर जब साधु की यह इच्छा होवे कि-मैं उपाश्रय में आकर ही भोजन करूं तो वह 'सपिण्डपात' अर्थात्-शुद्ध भिक्षा लिये हुए उपाश्रय में आकर सब से प्रथम भोजन करने की भूमि की खूब देख भाल कर प्रतिलेखना करे क्योंकि भोजन करने की भूमि सर्वथा शुद्ध और जीव रहित होनी चाहिए।

तथा सूत्र में जो 'सपिण्डपात' शब्द आया है उस का यह भाव है कि साधु शुद्ध आहार को लेकर उपाश्रय में आकर भोजन योग्य भूमि को देखे-यथा च टीका- सह पिण्डपातेन विशुद्ध समुदान-नागम्य" इत्यादि।

सूत्रगत 'उन्दुक' शब्द का अर्थ यहाँ बहुत से 'स्थण्डिल भूमि करते हैं परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं। यहाँ 'उन्दुक' शब्द का अर्थ भोजन करने की भूमिका ही है। क्योंकि-अर्द्ध मागधी कोष के पृष्ठ १६ वें में लिखा है कि-'उंदुयं' न० (उन्दुक) भोजन करवानु स्थान। यद्यपि 'उ दुग' पु० शब्द के अर्थ उक्त कोष में मूत्रपात्र या मूत्र करने का स्थान लिखे हैं, किन्तु उक्त शब्द का संस्कृत रूप न देकर उसे देशी प्राकृत शब्द का रूप माना गया है। अपितु 'उ दुय' शब्द नपुंसक लिङ्गीय मान कर फिर उसका 'उन्दुक' इस प्रकार का संस्कृत रूप देकर उसका अर्थ भोजन करने का स्थान लिखा है सो इस स्थल पर यही अर्थ युक्ति युक्त सिद्ध होता है। कारण कि सब से प्रथम भोजन करने की

ग्रहण है। अतः इसी तरह 'अस्थिक' शब्द से गुठली का ग्रहण ही युक्ति युक्त सिद्ध होता है—अन्य का नहीं ॥ ८४-८५-८६ ॥

उत्थानिका—अब, बसति-उपाश्रय में आकर किस प्रकार भोजन करना चाहिए? इस विषय में कहा जाता है—

सिआ य भिक्खू इच्छिज्जा , सिज्जमागम्म भुत्तुअं ।
सपिंडपायमागम्म , उंडुअं पडिलेहिआ ॥ ८७ ॥

स्याच्च भिक्षुरिच्छेत् , शय्यामागम्य भोक्तुम् ।
सपिण्डपातमागम्य ,उन्दुकं प्रत्युपेक्ष्य ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थ—(सिआ) कदाचित् (भिक्खू) साधु (सिज्जं) उपाश्रय में (आगम्म) आकर ही (भुत्तुअं) भोजन करना (इच्छिज्जा) चाहे तो (सपिंड पाय) वह शुद्ध भिक्षा सहित साधु (आगम्म) उपाश्रय में आकर (उंडुअं) भोजन करने की भूमिका की (पडिलेहिआ) प्रतिलेखना करके फिर उसी स्थानपर पिण्डपातकी विशुद्धि करे ॥ ८७ ॥

मूलार्थ—यदि कोई विशेष कारण न हो और साधु यह चाहे कि-उपाश्रय में आकर ही

अन्वयार्थ—सदा विधि निषेध के सिद्धान्तों को मनन करने वाला (**मुणी**) मुनि (**विणएण**) विनय से उपाश्रय में प्रवेश करके (**गुरुणो**) गुरु श्री के (**सगासे**) समीप (**इरियावहियं**) ईर्या पथिका सूत्र को (**आयाय**) पढ़कर के तथा (**आगओ**) गुरु श्री के पास आया हुआ (**पडिक्कमे**) कायोत्सर्ग करे ॥ ८८ ॥

मूलार्थ—साधु महान विनय विधि के साथ "मत्थएण वंदामि" कहता हुआ उपाश्रय में प्रवेश करे और गुरुदेव के समीप आकर 'इरिया वहियाए' संपूर्ण सूत्र को पढ़कर कायोत्सर्ग करे ॥ ८८ ॥

भाष्य—इस सूत्र में वर्णन है कि–जब साधु आहार लेकर उपाश्रय में गुरुदेव के समीप प्रवेश करे तब निस्सही २'–'नैषेधिकीर' ऐसा शब्द कहे। इसका यह आशय है कि हे भगवन् ! जिस काम के लिये मैं गया हुआ था, उस काम को मैं पूर्ण करके अब आगया हूं–अर्थात् आवश्यक क्रिया से अब मैं निवृत्त होगया हूं । इसके बाद 'मत्थएण वंदामि मस्तकेन वन्दामि' तथा 'नमोक्खमासमणाण–नमः क्षमा श्रमणेभ्य, इत्यादि विनय पूर्वक मुख से शब्द उच्चारण करता हुआ और हाथ जोड़ता हुआ गुरु श्री के सनिकट आवे । गुरु श्रीके समीप आकर फिर 'इच्छाकारेण और 'तस्सोत्तरी करणेणं' सूत्र को पढ़कर गमनागमन की क्रिया का निरोध करने के लिये तथा मंगल के लिये '† लोगस्सउज्जोयगरे' के

† नोट यह लोगस्स के ध्यान की मान्यता उपाध्यायजी की अपनी साम्प्रदायिक मान्यता है। सभी संप्रदाए ऐसा नहीं मानती। बहुत सी सम्प्रदाएँ इच्छाकारेण' सूत्र का ध्यान करना मानती है – संपादक।

भूमि को देखकर ही फिर वहां बैठकर और क्रियाएं की जासकेंगी। नकि भोजन करते ही सबसे पहले स्थंडिल जाने की भूमि को देखना चाहिए। भला स्थण्डिल भूमि का और भोजन क्रिया का क्या सम्बन्ध ? भोजन क्रिया के लिये तो भोजन भूमि ही देखनी ठीक है।

वृत्तिकार भी इसी भोजन भूमि के अर्थ से सहमत हैं। वे अपनी इसी सूत्र की वृत्ति में स्पष्टता लिखते हैं कि–तत्र बहिरेवोप्मुकं स्थान प्रत्युपेक्ष्य विधिना तत्रस्थः पिण्ड पातं विशोधयेदिति सूत्रार्थः– उपाश्रय से बाहिर ही भोजन करने की भूमि को देखकर फिर विधि से वहाँपर बैठकर आहार पानी की विशुद्धि करे।

अस्तु–सभी प्रकार से इस स्थान पर 'उप्पुक' शब्द से 'भोजन करने की भूमि' यह अर्थ ग्रहण करना ही सिद्ध होता है।

उत्थानिका—अब उपाश्रय में गुरु के समीप किस प्रकार प्रवेश करना चाहिए ? इस विषय में कहा जाता है–

विणएण पविसित्ता, सगासे गुरुणो मुणी।
इरियावहियमायाय, आगओ अ पडिक्कमे॥ ८८॥

विनयेन प्रविश्य, सकाशे गुरोः मुनि।
ईर्यापथिकामादाय, आगत श्च प्रतिक्रामेत्॥ ८८॥

न कर ॥ ८९ ॥

भाष्य—जब साधु भिक्षा लाकर गुरु श्री के समक्ष कायोत्सर्ग करे, तब उस कायोत्सर्ग में गमन आने जाने की क्रिया करते समय तथा अन्न पानी ग्रहण करते समय जो कोई अतिचार हों उन सब को सम्यक् प्रकार से स्मरण करके अपने विकार शून्य हृदय में स्थापित करे।

इस गाथा के उक्त कथन से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि, विचारक मनुष्य को जो भी कुछ विचार करना हो वह कायोत्सर्ग विधि से भली भाँति किया जा सकता है। कारण कि-कायोत्सर्ग (ध्यान) की दशा में अव्याक्षिप्तचित्त होने से सभी वस्तुओं का विचार पूर्णरूपेण ठीक हो सकता है। अतः प्रत्येक वस्तु का विचार ध्यान गुप्ति से होना चाहिए।

सूत्रकर्ता ने जो 'यथाक्रम' पद दिया है। इस का यह भाव है कि अति चारों की स्मृति यथा क्रम से करनी चाहिए। जैसे कि प्रथम गमना गमन की क्रिया में से लगे हुए अति चारों की विचारणा करे और तत्पश्चात् अन्न पानी के ग्रहण करते समय लगे हुए अतिचारों की। जब यथा क्रम से अतिचारों की स्मृति की जाएगी तब स्मृति ठीक होने से ज्ञानावर्णीय कर्म का क्षयोपशम भी होवेगा। इसी कारण से सूत्र कर्ता ने 'यथं' शब्द का प्रयोग किया है। क्योंकि-'यथ' शब्द अवधारण अर्थ में व्यवहृत है।

उत्थानिका—कायोत्सर्ग पार लेने के बाद फिर क्या करना चाहिए? अब इस विषय में कहा जाता है—

सूत्र का स्थिर चित्त होकर ध्यान करे। कारण कि—जब विधि पूर्वक ध्यान किया जायेगा तभी अति-
चारों की विधि पूर्वक आलोचना हो सकेगी अन्यथा नहीं।

ऊपर के वक्तव्य से सिद्ध हुआ कि—साधु भोजन लाते ही भोजन करने न लग जाए, प्रत्युत विधि
पूर्वक ही प्रवेश करे और विधि पूर्वक ही ध्यान करे ॥ ८९ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, लोगस्स के ध्यान के अनन्तर ध्यान में किस बात का विचार
करना चाहिए। इस विषय में कहते हैं—

आमोइत्ताण नीसेसं, अइयारं जहक्कमं।
गमणागमणे चेव, भत्ते पाणे च संजए ॥ ८९ ॥

आभोगयित्वा निःशेषं, अतिचारं यथाक्रमम्।
गमनागमनयो श्चैव, भक्तपानयोश्च संयतः ॥ ८९ ॥

अन्वयार्थ—(संजए) साधु (गमणागमणे) गमना गमन की क्रिया में (चेव) और
इसी प्रकार (भत्तपाणे) अन्न पानी के ग्रहण करने में लगे हुए (नीसेसं) सम्पूर्ण (अइयारं) अति
चारों को (जहक्कमं) अनुक्रम से (आमोइत्ताण) जानकर हृदय में स्थापन करे ॥ ८९ ॥

मूलार्थ—भिक्षा लाने वाला साधु, कायोत्सर्ग में गमनागमन की क्रिया से तथा अन्न पानी

के वहर ने से लगे हुए समस्त अतिचारों को अनुक्रम से एक एक करके स्मरण कर अपने हृदय में स्थापन करे ॥ ८९ ॥

भाष्य—जब साधु भिक्षा लाकर गुरु श्री के समक्ष कायोत्सर्ग करे, तब उस कायोत्सर्ग में गमनागमन आने जाने की क्रिया करते समय तथा अन्न पानी ग्रहण करते समय जो कोई अतिचार लगे हों उन सब को सम्यक प्रकार से स्मरण करके अपने विकार शून्य हृदय में स्थापित करे।

इस गाथा के उक्त कथन से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि, विचारक मनुष्य को जो भी कुछ विचार करना हो वह कायोत्सर्ग विधि से भली भाँति किया जा सकता है। कारण कि-कायोत्सर्ग (ध्यान) की दशा में अव्याक्षिप्तचित्त होने से सभी वस्तुओं का विचार पूर्णरूपेण ठीक हो सकता है। अतः प्रत्येक वस्तु का विचार ध्यान वृत्ति से होना चाहिए।

सूत्रकर्ता ने जो 'यथाक्रम' पद दिया है। इस का यह भाव है कि अतिचारों की स्मृति यथा क्रम से करनी चाहिए। जैसे कि प्रथम गमना गमन की क्रियाओं से लगे हुए अति चारों की विचारणा करे और तत्पश्चात अन्न पानी के ग्रहण करते समय लगे हुए अतिचारों की। जब यथा क्रम से अतिचारों की स्मृति की जावगी तब स्मृति ठीक होने से ज्ञानावर्णीय कर्म का क्षयोपशम भी होवेगा। इसी कारण से सूत्र कर्ता ने 'एव' शब्द का प्रयोग किया है। क्योंकि-'एव' शब्द अवधारण अर्थ में व्यवहृत है।

उत्थानिका—कायोत्सर्ग पार लेने के बाद फिर क्या करना चाहिए? अब इस विषय में कहा जाता है—

उज्जुपन्नो अणुव्विग्गो , अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
आलोए गुरुसगासे , ज जहा गहिअ भवे ॥९०॥

ऋजुप्रज्ञ अनुद्विग्नः , अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।
आलोचयेद् गुरु सकाशे, यद् यथा गृहीतं भवेत् ॥९०॥

अन्वयार्थ—(उज्जुपन्नो) सरल बुद्धि वाला तथा (अणुव्विग्गो) उद्विग्नता रहित मुनि (अव्वक्खित्तेण) अव्याक्षिप्त (चेयसा) चित्त से (गुरू सगासे)गुरु के समीप (आलोए) आलोचना करे अर्थात् (ज) जो पदार्थ (जहा) जिस प्रकार से (गहिअं) ग्रहण किया (भवे) हो उसको उसी प्रकार से गुरु के समक्ष निवेदन करे ॥ ९० ॥

मूलार्थ—सरल स्वभावी एवं व्यग्रता रहित साधु जो पदार्थ जिस रूप से ग्रहण किया हो उसकी उसी रूप से स्थिर चित्त होकर गुरुश्रीके समक्ष आलोचना करे ॥ ९० ॥

भाष्य—जब ध्यान पारले तब कपट रहित होने से सरल बुद्धि वाला तथा क्षुधा आदि के जीतने से प्रशान्त चित्त वाला साधु अव्याक्षिप्त चित्त से अर्थात् स्थिर चित्तपूर्वक-चपलता आदि अव गुणों को दूर करके गुरु के समक्ष सभी ध्यान में स्मरण किये हुए अतिचारों को निवेदन करे। यानी

जिस प्रकार अन्न पानी ग्रहण किया गया हो उसी प्रकार गुरुदेव के समक्ष प्रगट करे। क्योंकि—जब गुरु के पास भिक्षाचरी विषयक सर्व प्रकार से आलोचना करली जायगी, तब गुरुदेव किसी अन्य साधु को उस घर-जिस घर से यह आहार लाया हो-जानेकी आज्ञा प्रदान नहीं करेंगे। जब गुरु को पताही नहीं होगा तो फिर वे अन्य मुनियों को 'अमुक घर पर मत जाना' इस प्रकार कैसे कह सकेंगे। अस्तु—अन्ततोगत्वा इसका यह परिणाम निकलेगा कि—प्रत्येक मुनि के एक ही घर में पुनः पुनः भिक्षा के लिये जानेसे जिन शासन की लघुता और मुनियों पर गृहस्थों की अश्रद्धा उत्पन्न होजायगी।

अतएव गुरुश्री के पास भिक्षाचरी के विषय में आलोचना करनी युक्ति युक्त सिद्ध होती है। तथा आलोचना करने से दूसरा यह भी लाभ है कि मूल से या अन्य किसी प्रकार से लगे हुए दोषों की यथावत् निवेदना करने से हृदय में सरलता निष्कपटता आती है। जब हृदय में निष्कपटता ने स्थान पालिया तो फिर कहना ही क्या है! जैसी आत्म विशुद्धि निष्कपट मनुष्य की होती है, वैसी अन्य किसी की नहीं होती। संयमी के लिये आत्म विशुद्धि सबसे बड़ा लाभ है। इसी लाभ के लिये संसार छोड़ कर साधुपद ग्रहण किया जाता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि आलोचना सम्यक्तया नहो तो फिर क्या करना चाहिए? इस के विषय में कहते हैं—

न सम्ममालोइअं हुज्जा, पुव्विं पच्छा व जं कडं।
पुणो पडिक्कमे तस्स, वोसट्ठो चिंतए इमं ॥ ९१ ॥

उज्जुपन्नो अणुव्विग्गो , अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
आलोए गुरुसगासे , जं जहा गहिअं भवे ॥९०॥

ऋजुप्रज्ञः अनुद्विग्न , अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।
आलोचयेद् गुरुसकाशे, यद् यथा गृहीतं भवेत् ॥९०॥

अन्वयार्थ—(उज्जुपन्नो) सरल बुद्धि वाला तथा (अणुव्विग्गो) उद्विग्नता रहित मुनि (अव्वक्खित्तेण) अव्याक्षिप्त (चेयसा) चित्त से (गुरू सगासे) गुरु के समीप (आलोए) आलोचना करे अर्थात् (जं) जो पदार्थ (जहा) जिस प्रकार से (गहिअं) ग्रहण किया (भवे) हो उसको उसी प्रकार से गुरु के समक्ष निवेदन करे ॥ ९० ॥

मूलार्थ—सरल स्वभावी एवं व्यग्रता रहित साधु जो पदार्थ जिस रूप से ग्रहण किया हो उसकी उसी रूप से स्थिर चित्त होकर गुरुश्रीके समक्ष आलोचना करे ॥ ९० ॥

भाष्य—जब ध्यान पारले तब कपट रहित होने से सरल बुद्धि वाला तथा क्षुधा आदि के जीतने से प्रशान्त चित्त वाला साधु अव्याक्षिप्त चित्त से अर्थात् स्थिर चित्तपूर्वक चंचलता आदि अव गुणों को दूर करके गुरु के समक्ष सभी ध्यान में स्मरण किये हुए अतिचारों को निवेदन करे। यानी

के लिये 'इच्छाकारेणं' और 'तस्सोत्तरीकरणेणं' इत्यादि सूत्र पढ़कर 'गोयर चरिआए' इत्यादि सूत्र का ध्यान करे और उसमें विस्मरण हुए अतिचारों का चिंतन करे।

क्योंकि— जब सम्यक प्रकार से चिन्तन किया जायगा तभी सर्व प्रकार से अतिचारों का स्मरण किया जासकेगा-अन्यथा नहीं। सम्यक् चिंतन ही वास्तव में सर्व श्रेष्ठ वस्तु है। यह स्मरण रहे कि-जैसा चिन्तन ध्यानावस्था में किया जासकता है वैसा बिना ध्यानावस्था के प्रायः नहीं किया जासकता। क्योंकि—ध्यानावस्था में चित्त वृत्तियाँ चंचलता छोड़कर स्थिर होजाती हैं। चित्त वृत्तियों की स्थिरता में ही सभी सद्गुण संनिहित हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, ध्यान सम्बन्धी विचारणा के विषय में कहते हैं—

अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया।
मुक्खसाहणहेउस्स, साहु देहस्स धारणा ॥ ९२ ॥

अहो जिनै असावद्या, वृत्तिः साधूनां दर्शिता।
मोक्षसाधनहेतोः, साधुदेहस्य धारणाय ॥ ९२ ॥

अन्वयार्थ—(अहो) आश्चर्य है कि (जिणेहिं) तीर्थंकर देवों ने (साहूण) साधुओं के लिये (असावज्जा) असावद्य—पापरहित (वित्ती) गोचरी रूप वृत्ति (देसिया) दिखलाई है

न सम्यगालोचितं भवेत्, पूर्वं पश्चाद्वा यत्कृतम् ।
पुनः प्रतिक्रामेत् तस्य, व्युत्सृष्टश्चिन्तयेदिदम् ॥ ९१ ॥

अन्वयार्थ—(जं) जो अतिचार (सम्मं) सम्यक् प्रकार से (आलोइअ) आलोचित (नहुज्जा) न किया गया हो (व) अथवा (जं) जो (पुव्वि) पूर्वकर्म तथा (पच्छाकड) पश्चात् कर्म विपर्यय हो (तस्स) उसको (पुणो) फिर (पडिक्कमे) प्रतिक्रमण करे और फिर (वोसट्ठो) कायोत्सर्ग में (इमं) यह (चिंतए) चिंतन करे ॥ ९१ ॥

मूलार्थ—जिन सूक्ष्म अतिचारों की सम्यक् प्रकार से आलोचना न हुई हो और जो पूर्वकर्म तथा पश्चात् कर्म आगे पीछे कहे गये हों, उनका फिर प्रतिक्रमण करे और दुबारा कायोत्सर्ग करके उसमें अग्रिम सूत्रोक्त विचारों का चिंतन करे ॥ ९१ ॥

भाष्य—यदि अनाभोगपन से-अज्ञान से-वा स्मृति के ठीक न होने से सम्यक्तया अतिचारों की आलोचना न की जासकी हो । जैसे—पूर्वकर्म पीछे वर्णन किया गया और पश्चात्कर्म पहले वर्णन किया गया अर्थात् जो पहले दोष लगा हो उसे पीछे और जो पीछे दोष लगा हो उसे पहले वर्णन कर दिया हो तो उस आलोचक साधु का कर्तव्य है कि-वह फिर दुबारा सूक्ष्म अतिचारों की स्मृति

जिस दिन से साधु होता है, उसी दिन से मौत से मोर्चा लगा देता है, फिर मरने का डर कैसा ? साधु जो भिक्षा द्वारा शरीर रक्षा करता है, वह मोक्ष के साधन जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप तीन रत्न हैं, उनकी सम्यक् साधना के लिये करता है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम।'

उत्थानिका—अब सूत्रकार, जब ध्यान में उक्त प्रकार से चिन्तन कर चुके तब फिर क्या करे ? इस विषय में कहते हैं—

णमुक्कारेण पारित्ता , करित्ता जिणसथवं ।
सज्झाय पट्ठवित्ताण, वीसमेज्ज खण मुणी ॥ ९३ ॥

नमस्कारेण पारयित्वा , कृत्वा जिन सस्तवम् ।
स्वाध्यायं प्रस्थाप्य विश्रामेत् क्षणं मुनिः ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थ—(णमुक्कारेण) नमस्कार मन्त्रसे (पारित्ता) कायोत्सर्ग को पारकर (जिणसंथवं) जिनसस्तव–अर्थात् 'लोगस्स उज्जोयगरे' आदि जिनसस्तव को (करित्ता) पढकर और (सज्झाय) स्वाध्याय को (पट्ठवित्ताणं) सपूर्ण करके (मुणी) साधु (खणं) क्षणमात्र (वीसमेज्ज) विश्राम लेवे ॥ ९३ ॥

बतलाई है जो (मुक्ख साहण हेउस्स) मोक्ष-साधन के कारण भूत (साहु देहस्स) साधु के शरीर को (धारणा) धारण करने के लिये-पोषण करने के लिये है ॥ ९२ ॥

मूलार्थ—महान आश्चर्य है कि—तीर्थंकर देवों ने साधुओं के लिये निरवद्य-पापरहित उस गोचरी रूप वृत्ति का उपदेश किया है, जो मोक्ष के साधन ज्ञान दर्शन चारित्र हैं तत्कारण भूत साधु के शरीर को धारण करने के लिये होती है ॥ ९२ ॥

भाष्य—साधु ध्यान में इस प्रकार विचार करे कि, अहो! आश्चर्य है, श्रीश्रमण भगवान महावीर स्वामी ने तथा राग द्वेष के जीतने वाले सभी तीर्थंकर देवों ने साधुओं की भिक्षा वृत्ति सर्वथा पाप से रहित उपदेशित की है। जैन साधुओं की भिक्षा वृत्ति किसी को कष्ट कारी न होने से पूर्ण रूपण पवित्र होती है।

इसी भिक्षा वृत्ति का उद्देश्य और कुछ नहीं है—यह केवल अपने शरीर के निर्वाह के लिये ही है। इसके द्वारा साधु अपने शरीर की पालना सम्यक् प्रकार से कर सकता है।

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—साधु भिक्षवृत्ति द्वारा अपने इस अपावन शरीर की रक्षा किस लिये करता है? क्या साधु भी शरीर के मोह में फंसा हुआ है? क्या वह भी गृहस्थों की तरह मरने के डर से शरीर रक्षा की इच्छा करता है?

उत्तर में कहा जाता है कि—शरीर-मोहकी या मरने के डरने की कोई बात नहीं है। साधु तो

जिस दिन से साधु होता है, उसी दिन से मौत से मोर्चा लगा देता है, फिर मरने का डर कैसा ? साधु जो भिक्षा द्वारा शरीर रक्षा करता है, वह मोक्ष के साधन जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप तीन रत्न हैं, उनकी सम्यक् साधना के लिये करता है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।'

उत्थानिका—अब सूत्रकार, जब ध्यान में उक्त प्रकार से चिन्तन कर चुके तब फिर क्या करे ? इस विषय में कहते हैं—

णमुक्कारेण पारित्ता , करित्ता जिणसंथवं ।
सज्झायं पट्ठवित्ताण, वीसमेज्ज खण मुणी ॥ ९३ ॥

नमस्कारेण पारयित्वा , कृत्वा जिन संस्तवम् ।
स्वाध्याय प्रस्थाप्य विश्रामेत् क्षण मुनि ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थ—(णमुक्कारेण) नमस्कार मन्त्रसे (पारित्ता) कायोत्सर्ग को पारकर (जिणसंथवं) जिनसस्तव–अर्थात् 'लोगस्स उज्जोयगरे' आदि जिनसस्तव को (करित्ता) पढकर और (सज्झाय) स्वाध्याय को (पट्ठवित्ताण) सपूर्ण करके (मुणी) साधु (खण) क्षणमात्र (वीसमेज्ज) विश्राम लेवे ॥ ९३ ॥

मूलार्थ—इस प्रकार विचारणा के बाद साधु 'नमस्कार मन्त्रसे-नमो अरिहंताणं' के पाठ से कायो-
त्सर्ग ध्यान को पारे। ध्यान पारकर जिनसंस्तव अर्थात् 'लोगस्स' पढे फिर सूत्र स्वाध्याय पूर्ण
करके कुछ देर विश्राम करे ॥ ९३ ॥

भाष्य—जब साधु कायोत्सर्ग को पारे तब मुख से 'नमोअरिहंताणं' पद पढकर पारे। ध्यान
पारने के बाद फिर जिन संस्तव-लोगस्स उज्जोयगरे इत्यादि स्तव संपूर्ण पढे। पश्चात्-सूत्र की गाथाओं
का स्वाध्याय आरम्भ करे जिससे एक मंडल पर बैठने वाले मुनिगण एकत्रित होजाएं तथा जो अन्य
मुनि आते जाएं, वे भी जिन संस्तव या सूत्र का स्वाध्याय आरम्भ करें। जब स्वाध्याय पूर्ण कर चुके
तत्पश्चात् क्षण मात्र थोड़ी देर विश्रान्ति ले यानी आराम करे।

कारणकि-अति शीघ्रता से किया हुआ आहार भली भाँति शरीर की रक्षा नहीं कर सकता।
प्रत्युत, शरीर में एक प्रकार की व्यथा उत्पन्न कर देता है। अतएव, उक्त विधि से किया हुआ आहार
अपने अभीष्ट की सिद्धि करने में सम्पूर्णतया सहायता करेगा। इसलिये मुनि को उक्त विधि से
विश्रान्ति लेकर ही आहार करना चाहिए।

तथ जो सूत्र में 'जिण संथवं'-'जिन संस्तव' का पाठ करना लिखा है, उस का अर्थ परम्परासे
'लोगस्स उज्जोयगरे' करते चले आये हैं। परन्तु जिन गाथाओं में भी भगवान की स्तुति हो उसी का
नाम जिन संस्तव है। अतः एव आहार करने से पहले 'जिन संस्तव' या 'स्वाध्याय' अवश्यमेव
करना चाहिए। जिससे स्वाभाविकता से ही आहार करने में विलम्ब होजाए।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, विश्राम लेते हुए क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं–

वीसमतो इम चिंते , हियमट्ठलाभमट्ठिओ (अस्सिओ)
जइ मे अणुग्गह कुज्जा , साहू हुज्जामि तारिओ ॥ ९४ ॥

विश्राम्यन्निदं चिन्तयेत् , हितमर्थं लाभार्थिकः ।
यदि मे अनुग्रह कुर्यु (कुर्यात्), साधु भवामि तारित ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थ—(लाभमट्ठिओ) निर्जरा के लाभ का अर्थी साधु (वीसमंतो) विश्राम करता हुआ (हियमट्ठ) हित के वास्ते (इम) यह (चिंते) चिन्तनकरे कि (जइ) यदि कोई (साहू) साधु (मे) मुझपर आहार लेने का (अणुग्गह) अनुग्रह (कुज्जा) करेतो मैं (तारिओ) भव समुद्र से तारा हुआ हो जाऊँ ॥ ९४ ॥

मूलार्थ—निर्जरा रूप महान् लाभ की अभिलाषा रखने वाला साधु, विश्राम करता हुआ कल्याण के लिये यह विचार करे कि—यदि कोई कृपालु मुनि, मेरे पर कुछ आहार लेने की कृपाकरें तो मैं संसार समुद्र से तारा हुआ हो जाऊँ ॥ ९४ ॥

मूलार्थ—इस प्रकार विचारणा के बाद साधु 'नमस्कार मत्रसे-नमो अरिहंताणं' के पाठ से कायोत्सर्ग ध्यान को पारे। ध्यान पारकर जिनसंस्तव अर्थात् 'लोगस्स' पढ़े फिर सूत्र स्वाध्याय पूर्ण करके कुछ देर विश्राम करे ॥ ९३ ॥

भाष्य—जब साधु कायोत्सर्ग को पारे तब मुख से 'नमोअरिहंताणं' पद पढ़कर पारे। ध्यान पारने के बाद फिर जिन संस्तव-लोगस्स उज्जोयगरे इत्यादि स्तव संपूर्ण पढ़े। पश्चात्-सूत्र की गाथाओं का स्वाध्याय आरंभ करे, जिससे एक मंडल पर बैठने वाले मुनिगण एकत्रित होजाएँ तथा जो अन्य मुनि आते जाएँ, वे भी जिन संस्तव वा सूत्र का स्वाध्याय आरम्भ करें। अब स्वाध्याय पूर्ण कर चुके तत्पश्चात् क्षण मात्र थोड़ी देर विश्रान्ति ले यानी आराम करे।

कारणकि-अति शीघ्रता से किया हुआ व्यवहार भली भाँति शरीर की रक्षा नहीं कर सकता। प्रत्युत, शरीर में एक प्रकार की व्यथा उत्पन्न कर देता है। अतएव, उक्त विधि से किया हुआ आहार अपने अभीष्ट की सिद्धि करने में सम्पूर्णतया सहायता करेगा। इसलिये मुनि को उक्त विधि से विश्रान्ति लेकर ही आहार करना चाहिए।

तथा जो सूत्र में 'जिण संथवं -'जिन संस्तव' का पाठ करना लिखा है, उस का अर्थ परम्परासे 'लोगस्स उज्जोयगरे' करते चले आये हैं। परन्तु जिन गाथाओं में भी भगवान की स्तुति हो, उसी का नाम जिन संस्तव है। अतः एव आहार करने से पहले 'जिन संस्तव' वा 'स्वाध्याय' अवश्यमेव करना चाहिए। जिससे स्वभाविकता से ही आहार करने में विलम्ब होजाए।

साहवो तो चिअत्तेण , निमंतिज्ज जहक्कम ।
जइ तत्थ केइ इच्छिज्जा , तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥ ९५ ॥

साधुस्ततो मन प्रीत्या , निमन्त्रयेत् यथाक्रमम् ।
यदि तत्र केचन इच्छेयु , तै सार्धं तु भुञ्जीत ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थ—(तओ) तत्पश्चात् (साहवो) साधुओं को (चिअत्तेणं) प्रीतिभाव से (जहक्कमं) यथाक्रम (निमंतिज्ज) निमन्त्रणा करे । फिर (जइ) यदि (तत्थ) उन निमन्त्रित साधुओं में से (केइ) कोई साधु (इच्छिज्जा) भोजन करना चाहें तो (तेहिंसद्धिं) उनके साथ भोजन करे ॥ ९५ ॥

मूलार्थ—गुर्वाज्ञा मिलने पर साथ के साधुओं को प्रीति पूर्वक अनुक्रमण से निमन्त्रणा करे । यदि निमन्त्रणा मानकर कोई प्रेमी साधु भोजन करना चाहें तो प्रसन्नता पूर्वक उनके साथ भोजन करे ॥ ९५ ॥

भाष्य—आचार्य श्री जी की आज्ञा मिलने पर अपने अन्य साथी साधुओं को प्रीति भाव से स्वयं यथाक्रम विधि से अपने लाये हुये आहार के लिए आमंत्रण करे । 'यथा विधि' उसका नाम है।

भाष्य—विश्राम लेता हुआ साधु, निर्जरा रूप महान लाभ के लिये तथा परस्पर के हित-प्रेम के लिये वा कल्याण के लिये अपने हृदय में विचार करे कि- यदि ये संगी साधु मुझ सेवक पर कुछ अनुग्रह करें तो मैं इन को यह लाया हुआ सब आहार दे दूँ। ऐसा करने से मैं इन कृपा सिन्धु साधुओं द्वारा संसार समुद्र से अनायासही तर जाऊँगा।

अस्तु-ऐसा विचार करके प्रथम तो आचार्य श्री जी को आमन्त्रण करे। यदि वे स्वयं ग्रहण न करें तो फिर उनसे कहे कि भगवन्! आप नहीं लेते तो कृपया अन्य मुनिवरों को देदीजिए। यदि आचार्य कहें कि तुम स्वयं आमंत्रणा करो तो फिर ('स्वयं आमन्त्रणा करे' ।यह अग्रिमसूत्रों में कहा जाएगा है)।

इस कथन का यह भाव है कि- साधुओं को आहार पानी परस्पर आदान प्रदान करके प्रेम पूर्वक ही करना चाहिए। इस प्रकार परस्पर दान करने के सूत्र कारने दो फल प्रति पादन किये हैं। एक तो निर्जरा और दूसरे परस्पर प्रेम भाव उत्पादन करना तथा सहानुभूति दिखलाना। अतः एव अन्य साधुओं को आहार की आमंत्रणा सच्चे दिल से अपना कल्याण समझ करनी चाहिए यह नहीं कि-पोंही ऊपर के मन से कुछ कहा कुछ न कहा और झट आमन्त्रणा के फर्ज से हटके हुए ॥ ९४ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, आमन्त्रणा करने पर यदिकोई साधु आमंत्रणा स्वीकार करे तो फिर क्या करे ? यह कहते हैं—

साहवो ता चिअत्तेण , निमंतिज्ज जहक्कम ।
जइ तत्थ केइ इच्छिज्जा , तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥ ९५ ॥

साधुस्ततो मन प्रीत्या , निमन्त्रयेत् यथाक्रमम् ।
यदि तत्र केचन इच्छेयुः , तैः सार्धं तु भुञ्जीत ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थ—(तओ) तत्पश्चात् (साहवो) साधुओं को (चिअत्तेणं) प्रीतिभाव से (जहक्कम) यथाक्रम (निमंतिज्ज) निमन्त्रणा करे। फिर (जइ) यदि (तत्थ) उन निमन्त्रित साधुओं में से (केइ) कोई साधु (इच्छिज्जा) भोजन करना चाहें तो (तेहिंसद्धिं) उनके साथ भोजन करे ॥ ९५ ॥

मूलार्थ—गुर्वाज्ञा मिलने पर साथ के साधुओं को प्रीति पूर्वक अनुक्रमण से निमन्त्रणा करे। यदि निमन्त्रणा मानकर कोई प्रेमी साधु भोजन करना चाहें तो प्रसन्नता पूर्वक उनके साथ भोजन करे ॥ ९५ ॥

भाष्य—आचार्य श्री जी की आज्ञा मिलने पर अपने अन्य साथी साधुओं को प्रीति भाव से स्वयं यथाक्रम विधि से अपने लाये हुये आहार के लिए आमंत्रणा करे। 'यथा विधि' उसका नाम है?

भाष्य—विश्राम लेता हुआ साधु, निर्जरा रूप अक्षय लाभ के लिये तथा परस्पर के हित-प्रेम के लिये या कल्याण के लिये अपने हृदय में विचार करे कि यदि ये संगी साधु मुझ सेवक पर कुछ अनुग्रह करें तो मैं इन को यह लाया हुआ सब आहार दे दूं। ऐसा करने से मैं इन कृपा सिन्धु साधुओं द्वारा संसार समुद्र से अनायासही तरा जाऊँगा।

अस्तु-ऐसा विचार करके प्रथम तो आचार्य श्री जी को आमन्त्रणा करे। यदि वे स्वयं ग्रहण न करें तो फिर उनसे कहे कि भगवन्! आप नहीं लेते तो कृपया अन्य मुनिवरों को देदीजिए। यदि आचार्य कहें कि तुम स्वयं आमंत्रणा करो तो फिर ('स्वयं आमंत्रणा करे'। यह अभिमसूत्रों में कहा जाता है)।

इस कथन का यह भाव है कि- साधुओं को आहार पानी परस्पर आदान प्रदान करके प्रेम पूर्वक ही करना चाहिए। इस प्रकार परस्पर दान करने के मूल कारण दो फल प्रति पादन किये हैं। एक तो निर्जरा और दूसरे परस्पर प्रेम भाव उत्पादन करना तथा सहानुभूति दिखलाना। अतः एव अन्य साधुओं का आहार की आमंत्रणा सच्चे दिल से अपना कल्याण समझ करनी चाहिए यह नहीं कि-थोथी ऊपर के मन से कुछ कहा कुछ न कहा और झट आमंत्रणा के फर्ज से हलके हुए॥ ९४॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार; आमन्त्रणा करने पर यदिकोई साधु आमंत्रणा स्वीकार करे तो फिर क्या करे? यह कहते हैं–

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि कोई आमन्त्रणा स्वीकार न करे तो फिर क्या करे ? इस विषय में कहते हैं–

अह कोइ न इच्छिज्जा , तओ भुजिज्ज एक्कओ ।
आलोए भायणे साहू , जयं अप्परिसाडियं ॥ ९६ ॥

अथ को ऽपि नेच्छेत्, ततो भुञ्जीत एकक: ।
आलोके भाजने साधुः यतमपरिशातयन् ॥ ९६ ॥

अन्वयार्थ—(अह) यदि साग्रह निमन्त्रणा करने पर भी (कोइ) कोई साधु (नइच्छिज्जा) आहार लेने की इच्छा न करे (तओ) तत्पश्चात् (साहू) वह निमन्त्रणा करने वाला साधु (एक्कओ) स्वय अकेला ही (आलोए) प्रकाश युक्त (भायणे) पात्र में तथा (जयं) यत्न-पूर्वक (अप्परिसाडियं) हाथ तथा मुख से न गेरता हुआ (भुजिज्ज) शान्त भाव से भोजन करे ॥ ९६ ॥

मूलार्थ—यदि बार बार की साग्रह निमन्त्रणा पर भी कोई साधु भोजन करने के लिये तैयार

जैसे पहले सब से बड़े को आमंत्रणा करे, फिर उससे छोटे को। अस्तु, इस प्रकार निमंत्रणा करने पर यदि कोई साधु चाहे, तो उनके साथ बैठकर भोजन करले। क्योंकि जब धर्म बान्धव साथ बैठकर भोजन करना चाहे तो उसके साथही बैठकर भोजन करने में हीआत्मकल्याण है, प्रेमभाव की वृद्धि है, जैन धर्म की प्रशंसा है।

तथा सूत्र में जो 'केइ' बहुवचन सर्व नाम के साथ 'इच्छिज्जा' एक वचनान्त क्रिया पद दिया है। यह प्राकृत भाषा के कारण से है। प्राकृत भाषा में इस प्रकार के विपर्यय प्रायः बहुत अधिक होते हैं। इसी प्रकार 'साहवो' यह द्वितीयान्त पद भी प्राकृत भाषा के कारण से ही दिया है।

उक्त गाथा से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि—जब साधु भोजन करना चाहे तब साथी साधुओं को अवश्यमेव निमंत्रणा करे। बिना निमंत्रणा किये भोजन कदापि नहीं करना चाहिए। साधु होकर संविभागी न हुआ तो फिर क्या हुआ ? कुछ भी नहीं। साधु संघ में संविभाग दान मुख्य है†।

† नोट—संविभाग में-परस्पर बांटकर खाने में ही आत्म कल्याण है। जब प्रेम मूर्ति साधु ही कहलाए, तो फिर एकलखोरे पन के भाव कैसे ? साधु वही है जो संविभागी है। आगे चलकर इसी सूत्र के नवम अध्ययन में स्वयं सूत्रकारने कहा है कि— 'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो' जो असंविभागी है-बांटकर नहीं-खानेवाला है, वह चाहे कि मुझे मोक्ष मिले तो उसे कदापि मोक्ष नहीं मिल सकती। मोक्ष संविभागी को ही मिलती है। (जो जिन कल्पी मुनि असंख्यता की दृष्टि से असंविभागी हैं उनके लिये यह कथन नहीं है।) अहा पारस्परिक प्रेम वृद्धि का कितना ऊँचा आदर्श-कथन है। एकलखोरे-भिक्षाभोजन मुनि ध्यानमें-रखलक।

तित्तग व कडुअ व कसायं , अविल व महुर लवण वा ।
एअलद्धमन्नत्थ पउत्त , महुघय व मुजिज्ज सजए ॥ ९७ ॥

तित्तकं वा कटुकं वा कषायं , अम्लं वा मधुरं लवणं वा ।
एतल्लब्ध मन्यार्थप्रयुक्तं , मधुघृतमिव भुञ्जीत सयत ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थ—(सजए) यत्नावान साधु (एअं) इस प्रकार के (लद्धं) आगमोक्त विधि से मिले हुए (अन्नत्थपउत्तं) अन्य के वास्ते वनाए हुए (तित्तगं) तिक्त (व) अथवा (कडुअ) कटुक (व) तथा (कसायं) कषाय (व) तथा (अंविल) अम्ल—खट्टा (वा) अथवा (महुरं) मधुर अथवा (लवण) क्षार आदि पदार्थों को (महुघयंव) मधु—घृत की तरह प्रसन्नता के साथ (भुंजिज्ज) भोगे अर्थात् खावे ॥ ९७ ॥

मूलार्थ—साधु वही भोजन करे, जो गृहस्थने अपने लिए बनाया हुआ हो और जो आगमोक्त विधि से लिया हुआ हो। चाहे फिर वह तिक्त हो-कटुहो कषायलाहो—खट्टाहो-मीठाहो- खाराहो— चाहे कैसाही हो, उसी को बड़ी प्रसन्नता के साथ मधु घृत के समान खावे ॥ ९७ ॥

भाष्य—साधु का भोजन कुछ घर का भोजन नहीं है। वहतो भिक्षा का भोजन है। भिक्षा में

न होतो फिर अकेला ही प्रकाशमय—खुले पात्र में, यत्ना पूर्वक इधर उधर परिसाटन न करता हुआ भोजन करे ॥ ९६ ॥

भाष्य—बारी बारी से सब साधुओं से विनती कर लेने पर भी यदि साधु उससे आहार लेने की इच्छा न करें, तब उस साधु को योग्य है कि वह राग और द्वेष के संकल्प-विकल्पों से रहित होकर अकेला ही प्रकाशमय पात्र में आहार करले। किन्तु, जब आहार करने लगे तब यत्नपूर्वक हाथ तथा मुख से इधर उधर न गेरता हुआ ही आहार करे। क्योंकि अयत्ना से किया हुआ आहार संयम विराधना का हेतु बनजाता है।

अतः सिद्ध हुआ कि—साधु मुख में जो ग्रास डाले वह प्रमाणका ही डाले। ऐसा न करे कि—कुछ तो ग्रास मुख में है तथा कुछ उसका आगानीचे गिर रहा है। तथा कुछ हाथ में है और कुछ नीचे गिर रहा है। इस प्रकार आहार करने में अयोग्यता पाई जाती है।

सूत्रकर्ता ने जो प्रकाशनीय पात्र में भोजन करना लिखा है, उसका कारण यह है कि प्रकाशनीय पात्र में ही सूक्ष्म त्रसजीव भली भाँति देखे जा सकते हैं—अन्य में नहीं। अतः साधु को सदा भोजन करने के लिये प्रकाश प्रधान पात्रही रखना चाहिए।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अच्छे-बुरे भोज्य पदार्थों के विषय में समभाव रखने के लिये कहते हैं—

तित्तग व कडुअ व कसायं , अविल व महुर लवण वा ।
एअलद्धमन्नत्थ पउत्त , महुघय व भुंजिज्ज संजए ॥ ९७ ॥

तिक्तकं वा कटुकं वा कषायं , अम्लं वा मधुरं लवणं वा ।
एतल्लब्ध मन्यार्थप्रयुक्तं , मधुघृतमिव भुञ्जीत संयत ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थ—(संजए) यत्नावान साधु (एअं) इस प्रकार के (लद्धं) आगमोक्त विधि से मिले हुए (अन्नत्थपउत्तं) अन्य के वास्ते बनाए हुए (तित्तगं) तिक्त (व) अथवा (कडुअ) कटुक (व) तथा (कसायं) कषाय (व) तथा (अंविल) अम्ल—खट्टा (वा) अथवा (महुरं) मधुर अथवा (लवणं) क्षार आदि पदार्थों को (महुघयंव) मधु—घृत की तरह प्रसन्नता के साथ (भुंजिज्ज) भोगे अर्थात् खावे ॥ ९७ ॥

मूलार्थ—साधु वही भोजन करे, जो गृहस्थने अपने लिए बनाया हुआ हो और जो आगमोक्त विधि से लिया हुआ हो । चाहे फिर वह तिक्त हो-कटुहो- कषायलाहो—खट्टाहो-मीठाहो- खाराहो—चाहे कैसाही हो, उसी को नकी प्रसन्नता के साथ मधु घृत के समान खावे ॥ ९७ ॥

भाष्य—साधु का भोजन कुछ घर का भोजन नहीं है । वहतो भिक्षा का भोजन है । भिक्षा मे

न होतो फिर अकेला ही प्रकाशमय—खुले पात्र में, यत्ना पूर्वक इधर उधर परिसाटन न करता हुआ भोजन करे ॥ ९६ ॥

भाष्य—बारी बारी से सब साधुओं से विनती कर लेने पर भी यदि साधु उससे आहार लेने की इच्छा न करें, तब उस साधु को योग्य है कि वह राग और द्वेष के संकल्प-विकल्पों से रहित होकर अकेला ही प्रकाशमय पात्र में आहार करले। किन्तु, जब आहार करने लगे तब यत्नपूर्वक हाथ तथा मुख से इधर उधर न गेरता हुआ ही आहार करे। क्योंकि अयत्ना से किया हुआ आहार संयम विराधना का हेतु बनजाता है।

यत्ना सिद्ध हुआ कि—साधु मुख में जो ग्रास डाले वह प्रमाणका ही डाले। ऐसा न करे कि—कुछ तो ग्रास मुख में है तथा कुछ उसका भागनीचे गिर रहा है। तथा कुछ हाथ में है और कुछ नीचे गिर रहा है। इस प्रकार आहार करने में अयोग्यता पाई जाती है।

सूत्रकर्ता ने जो प्रकाशनीय पात्र में भोजन करना लिखा है, उसका कारण यह है कि प्रकाशनीय पात्र में ही सूक्ष्म त्रसजीव भली भाँति देखे जा सकते हैं—अन्य में नहीं। अतः साधु को सदा भोजन करने के लिये प्रकाश प्रधान पात्रही रखना चाहिए।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अच्छे-बुरे भोज्य पदार्थों के विषय में समभाव रखने के लिये कहते हैं—

तित्तग व कडुअ व कसायं , अविलं व महुर लवण वा ।
एअलद्धमन्नत्थ पउत्त , महुघय व मुंजिज्ज सजए ॥ ९७ ॥

तिक्तकं वा कटुकं वा कषायं , अम्लं वा मधुरं लवणं वा ।
एतल्लब्ध मन्यार्थप्रयुक्तं , मधुघृतमिव भुञ्जीत संयत ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थ—(सजए) यत्नावान साधु (एअ) इस प्रकार के (लद्धं) आगमोक्त विधि से मिले हुए (अन्नत्थपउत्तं) अन्य के वास्ते बनाए हुए (तित्तगं) तिक्त (व) अथवा (कडुअ) कटुक (व) तथा (कसायं) कषाय (व) तथा (अंविलं) अम्ल—खट्टा (वा) अथवा (महुरं) मधुर अथवा (लवण) क्षार आदि पदार्थों को (महुघयव) मधु—घृत की तरह प्रसन्नता के साथ (भुजिज्ज) भोगे अर्थात् खावे ॥ ९७ ॥

मूलार्थ—साधु वही भोजन करे, जो गृहस्थने अपने लिए बनाया हुआ हो और जो आगमोक्त विधि से लिया हुआ हो। चाहे फिर वह तिक्त हो-कटुहो- कषायलाहो—खट्टाहो-मीठाहो- खाराहो—चाहे कैसाही हो, उसी को बड़ी प्रसन्नता के साथ मधु घृत के समान खावे ॥ ९७ ॥

भाष्य—साधु का भोजन कुछ घर का भोजन नहीं है। यहतो भिक्षा का भोजन है। भिक्षा में

सभी प्रकार के पदार्थ मिलते हैं। जैसे—तिक्त-एलुआ, बालुक आदि। कटुक-आर्द्रक तीमन आदि। कषाय- बल्ल आदि। अम्ल—तक्र सारु आदि। मधुर—क्षीर मधु आदि। लवण-क्षार बहुल पदार्थ। ये नाम गिना दिये गए हैं। इसी तरह के अन्य पदार्थ भी मिल जाते हैं।

सो इस प्रकार के भिक्षा में मिले हुए सभी पदार्थों का अक्षोपाङ्ग न्याय से-परमार्थ से मोक्ष के लिये साधक मान कर प्रसन्नता से इस प्रकार भोजन करे। जिस प्रकार संसारी लोग मधु और घृत का भोजन किया करते हैं।

साधु का भोजन शरीर सौन्दर्य के लिये नहीं होता बल्कि, आत्म सौन्दर्य के लिये होता है। आत्म सौन्दर्य तभी होसकता है जबकि अच्छे बुरे पर एकसी प्रसन्नता हो-नाक भौंह सिकोड़ना न हो। साधु क लिये तो भोजन का अच्छा बुरापन आगमोक्त विधि से लेना न लेना है। जो भोजन आगमोक्त विधि से लिया जाता है, वह अच्छा है और जो आगमोक्त विधि से नहीं लिया जाता है वह बुरा है।

ऊपर के विस्तृत कथन का सारांश इतना ही है कि—साधु को साधु वृत्ति के अनुसार चाहे तिक्त आदि किसी भी प्रकार का आहार मिले, साधु उसी को मधु-घृत की तरह सुन्दर जानकर ही भोजन करे। किन्तु, उस आहार की निन्दादि कदापि न करे। और मोही बनके रसका आस्वादन करे ॥ ९७ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, युग्मगाथा द्वारा फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हैं—

अरस विरस वावि , सूइय वा असूइय ।
उल्ल वा जइ वा सुक्क , मथु कुम्मास भोयण ॥ ९८ ॥
उप्पण्ण नाइ हिलिज्जा , अप्प वा बहु फासुअ ।
मुहालद्ध मुहाजीवी , भुंजिज्जा दोष वज्जिअ ॥ ९९ ॥ [युग्मम्]

अरसं विरसं वाऽपि , सूचित वा असूचितम् ।
आर्द्रं वा यदि वा शुष्कं , मन्थु कुल्माष भोजनम् ॥ ९८ ॥
उत्पन्नं नातिहीलयेत् , अल्पं वा बहुप्रासुकम् ।
मुधालब्धं मुधाजीवी , भुञ्जीत दोष–वर्जितम् ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थ—(उप्पण्ण) विधिसे प्राप्त किया हुवा (अरस) रस रहित आहार (वावि) अथवा (विरसं) विरस आहार शीत अन्नादि (वा) अथवा (सूइयं) व्यञ्जनादि से युक्त आहार अथवा (असूइयं) व्यञ्जनादि से रहित आहार (वा) अथवा (उल्लं) आर्द्रतर आहार (वा) अथवा (सुक्क) शुष्क आहार अथवा (मंथु) बदरी फल के चून का आहार अथवा

(कुम्मास मोयण) उडदके बाकलों का आहार अथवा (अप्पं) थोडा सरस आहार (वा)
अथवा (बहु) घणा—नीरस आहार, आदि आदि कैसा ही क्यों न निन्दित आहार हो साधु उसकी
(नाइ हिलिज्जा) निन्दा—बुराई न करे बल्कि (मुहाजीवी) जाति कुल आदि न बताकर आहार
लेने वाला-अनिदान जीवी साधु (मुहालद्धं) मंत्र तंत्रादि दुष्क्रियाओं के बिना किये हुए ही
मिले हुए (फासुअं) प्रासुक आहार को चाहे फिर वह कैसा ही हो (दोष वज्जिअं) संयोजनादि
दोषों को छोडकर (भुंजिज्जा) प्रसन्नता से भोगे ॥ ९८ ९९ ॥

मूलार्थ—आत्मार्थी मुधा जीवी साधु-शास्त्रोक्त विधि से प्राप्त-अरस, विरस, सूचित, असूचित,
आर्द्र, शुष्क आदि किसी भी प्रकार के निकृष्ट भोजन की, घृणा से निन्दा न करे। यदि थोडा
आहार मिले तो यों न कहे कि-यह तो बहुत थोडा आहार है। इससे मेरी पेट पूर्ति कैसे हो सकती
है ? यदि असार प्राय अधिक आहार मिलेतो यों न कहे कि- कितना ढेरका ढेर असार आहार
मिला है ? ऐसे असार आहार को मैं कैसे खाऊँ ? अस्तु-मुधा जीवी साधु को तो जो आहार मिले
वह मुधालब्ध (निःस्वार्थ वृत्ति से प्राप्त) और प्रासुक होना चाहिए, उसे ही संयोजनादि दोषों
को त्यागकर प्रसन्नता पूर्वक भोगे ॥ ९८ ९९ ॥

भाष्य—आहार के लिये गये हुए साधु को भिक्षा में कई प्रकार के पदार्थ मिलते हैं। जैसे-अरस आहार—हिंग्वादि से असंस्कृत। विरस आहार—बहुत पुराने ओदन आदि एवं शीत पदार्थ। सूचित† आहार—व्यञ्जनादि से युक्त अर्थात् मसालेदार पदार्थ। असूचित आहार—व्यञ्जनादि से रहित, बिना मसाले का। आर्द्र आहार-प्रचुर व्यञ्जन वाला तर पदार्थ। शुष्क आहार—स्तोक व्यञ्जन वाला-रूखा सूखा पदार्थ। मन्थु—बेरों का चून—बोरकूट। कुल्माष -सिद्धमाष, यवमाष-उड़दों के बाकले आदि आदि।

अस्तु—उपर्युक्त शुद्ध और शास्त्रोक्त विधि से मिले हुए पदार्थों की साधु कदापि निन्दा न करे। साधु वृत्ति के अनुसार साधु को तो जो आहार मिलता है, वही अमृत के तुल्य है। उस पर अच्छे बुरे का भाव लाकर राग द्वेष आदि नहीं करना चाहिए।

बहुत सी दफा ऐसा भी होजाता है कि—बहुत ही थोड़ा आहार मिलता है तो-यह न विचार करे कि—क्या मिला है ! कुछ नहीं मिला। भला देने वाले को देते वक्त लज्जा भी न आई। यह तो दाँतों के लग जायगा-पेट कैसे भरेगा ? देह रक्षा कैसे होगी ? बाज़ मौके नीरस पदार्थ बहुत अधिक मिल जाते हैं। तब यह न सोचे कि—देखो भाग फूट गये। कैसा आहार मिला है ! देखते ही उल्टी आती है। थोड़ा भी तो नहीं मिला, पूरा पात्र ही भरगया। अब इतना आहार कैसे खाऊँ !

---

† कोई कोई सूचित और असूचित शब्दों का क्रमशः यह भी अर्थ करते हैं कि—कह कर दिया हुआ आहार और बिना कह कर दिया हुआ आहार। यहाँ पर दाता शब्द का अध्याहार कर लेना चाहिए।

कोई-कोई आचार्य 'अप्पं वा बहु फासुअं' पदकी व्याख्या 'अप्प—वा—बहुफासुअं' पद च्छेद करके करते हैं। उनका यह आशय है कि—जो साधु मुधाजीवी है, उसको थोड़ा विरस आहार परन्तु सर्वथा शुद्ध—मुधालब्ध मिला है तो-साधु उसकी निन्दा न करे, अपितु यह भावना भावेकि—यह गृहस्थलोग मेरे को जो कुछ भी थोड़ा यह देते हैं वही बहुत ठीक है। मैं तो अनुपकारी हूँ। अनुपकारी को क्या इतना आहार देना थोड़ा है? नहीं बहुत ज्यादह है। अरे,अनुपकारी को तो कुछ भी नहीं मिलना चाहिए।

सूत्रगत मुधाजीवी' और 'मुधालब्ध शब्दों के अर्थों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। क्यों कि-शब्द भण्डार में साधु के लिये ये दो शब्द बड़े ही मारके के हैं—

'मुधाजीवी' शब्द का अर्थ है- सर्वथा निदान रहित पवित्र जीवन व्यतीत करने वाला तथा अपनी जाति कुल आदि जितला कर आहार न लेने वाला आदर्श साधु। वास्तव में ऐसे निःस्पृही साधुही दुनियाँ में आकर कुछ नफा कमा लेजाते हैं। आदर्श साधुओं की जीवन नौका जाति आदि किसी के भरोसे पर नहीं चलती। उन्हें तो अपने आपे पर भरोसा है।

'मुधालब्ध' शब्द का अर्थ है—बिना किसी स्वार्थ के मिला हुआ पवित्र आहार। ऐसे शुद्ध आहार को ही वस्तुतः आहार करना चाहिए। मन्त्र, यन्त्र, ज्योतिष, वैद्यक या अन्य किसी काम काज आदि के बदले लोभ से जो गृहस्थ आहार देते हैं, उस आहार का भोजन करना तो मानों पाप का भोजन करना है। अस्तु।

सूत्रकार के कथन का संक्षिप्त सार यह है कि, साधु मुधाजीवी है। अतः उसका आहार मुधा लब्ध प्रासुक होना चाहिए। फिर चाहे वह आहार सरस हो-विरस हो-थोड़ा हो-बहुत हो-कैसाही हो, यही अमृत समझ कर संयोजनादि दोषों का परित्याग कर प्रसन्न चित्त से खावे ॥ ९८ ९९ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मुधादायी और मुधाजीवी की दुर्लभता के विषय में कहते हैं—

दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दोवि गच्छंति सुग्गइ ॥ १०० ॥ त्तिबेमि।

दुर्लभास्तु मुधादायिन, मुधाजीविनोऽपि दुर्लभा।
मुधादायी मुधाजीवी, द्वावपि गच्छान्ति सुगतिम् ॥ १०० ॥ [इति ब्रवीमि]

अन्वयार्थ—(मुहादाई) निःस्वार्थ बुद्धि से देने वाले दातार, ससार में (उ) निश्चय ही (दुल्लहा) दुर्लभ हैं तथा (मुहाजीवीवि) निःस्वार्थ बुद्धि से लेने वाले साधु भी (दुल्लहा) दुर्लभ हैं। अतः (मुहादाई) मुधादायी और (मुहाजीवी) मुधाजीवी (दोवि) दोनों ही (सुग्गइं) सुगति को (गच्छंति) जाते हैं—प्राप्त करते हैं ॥ १०० ॥

(त्तिबेमि) इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—इस संसार में, निःस्वार्थ बुद्धि से देने वाले दातार और निःस्वार्थ बुद्धि से लेने

कोई-कोई आचार्य 'अप्पं वा बहु फासुअं' पद की व्याख्या 'अप्पं—वा—बहुफासुअं' पद च्छेद करके करते हैं। उनका यह आशय है कि—जो साधु मुधाजीवी है, उसको थोड़ा विरस आहार परन्तु सर्वथा शुद्ध—मुधालब्ध मिला है तो-साधु उसकी निन्दा न करे, अपितु यह भावना भावेकि—यह गृहस्थलोग मेरे को जो कुछ भी थोड़ा बहु देते हैं वही बहुत ठीक है। मैं तो अनुपकारी हूं। अनुपकारी को क्या इतना आहार देना थोड़ा है? नहीं बहुत ज्यादह है। अरे, अनुपकारी को तो कुछ भी नहीं मिलना चाहिए।

सूत्रगत 'मुधाजीवी' और 'मुधालब्ध' शब्दों के अर्थों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। क्यों कि-शास्त्र भण्डार में साधु के लिये ये दो शब्द बड़े ही मारके के हैं—

'मुधाजीवी' शब्द का अर्थ है सर्वथा निदान रहित पवित्र जीवन व्यतीत करने वाला तथा अपनी जाति कुल आदि बतला कर आहार न लेने वाला आदर्श साधु। वास्तव में ऐसे निःस्पृही साधु ही दुनियां में आकर कुछ नफा कमा लेजाते हैं। आदर्श साधुओं की जीवन नौका जाति आदि किसी के भरोसे पर नहीं चलती। उन्हें तो अपने आपे पर भरोसा है।

'मुधालब्ध' शब्द का अर्थ है—बिना किसी स्वार्थ के मिला हुआ पवित्र आहार। ऐसे शुद्ध आहार को ही वस्तुतः व्यवहार करना चाहिए। मंत्र, यंत्र, ज्योतिष, वैद्यक या अन्य किसी काम काज आदि के गर्द लोभ से जो गृहस्थ आहार देते हैं, उस आहार का भोजन करना तो मानों पाप का भोजन करना है। अस्तु।

शास्त्रीय परिभाषा में ऐसे देने वाले दातार को मुधादायी और ऐसे लेने वाले साधु को मुधाजीवी कहते हैं। इन मुधादायी और मुधाजीवी के वास्तविक तत्त्व का सरल विवेचन पाठकों के हितार्थ दृष्टान्त द्वारा किया जाता है—

मुधालब्ध का दृष्टान्त—

एक कोई परिव्राजक सन्यासी फिरता घूमता किसी भागवत के यहाँ पहुँचा। बात चीत होनेपर कहने लगा कि- भक्त! चौमासा का समय नजदीक है। मैं किसी योग्य स्थान पर चौमासा करने की तलाश में हूँ। यदि तुम आज्ञा दो तो तुम्हारा घर मुझे पसंद है, मैं यहीं चौमासा करलूं। समझ लो तुम मेरा निर्वाह कर सकते हो?

भागवत ने कहा कि—भगवन! अच्छी बात है। खुशी से चौमासा करें। यह आपका ही घर है। मुझे यही प्रसन्नता है कि-आप जैसे त्यागियों का मेरे घर पर ठहरना होता है। परन्तु-महाराज! ठहरने के विषय में एक बात है--उसे आप मंजूर करेंतो आपका भी और मेरा भी दोनों ही का काम बने नहीं तो नहीं। वह बात यह है कि-आप मेरे यहाँ आनन्द से ठहरे रहें, पर मेरे घरका कोई भी काम आप न करें। चाहे मेरा कैसा ही जरूरी काम क्यों न बिगड़ता-संवरता हो पर आपका उसमें किसी भी अंश में हस्तक्षेप करना ठीक न होगा? आप निःस्पृही भाव से रहें—मेरे पर किसी प्रकार की ममता न करें। यह मैंने ठहरने ठहराने के विषय में जो कुछ बात थी, बतलादी। अब आप देख लें कैसा विचार है?

वाले साधु—दोनों ही दुर्लभ हैं। अतः ये दोनों ही सत्पुरुष उभय—सद्गति प्राप्त करते हैं ॥ १००॥

भाष्य—इस गाथा में मुधादायी और मुधाजीवी की दुर्लभता का तथा उनके फलका दिग्दर्शन कराया है—

यों तो यह संसार है। इस में दान देने वालों की और दान लेने वालों की कुछ कमी नहीं है। यहाँ पर जहाँ देखो वहाँ ही देने वाले एवं लेने वाले-दोनों ही व्यक्ति बहुत अधिक संख्या में मिलते हैं। परन्तु-निःस्वार्थ बुद्धि से देने वालों की और निःस्वार्थ बुद्धि से लेने वालों की ही बड़ी भारी कमी है। ऐसे व्यक्ति संसार में कहीं ढूंढे हुए ही मिलते हैं।

आशा बड़ी पापिनी है। यह दूर दूर तक पहुँची हुई है। धार्मिक आत्मोन्नति के कार्य भी इससे अछूते नहीं बच सके हैं। दान देना और दान लेना कितना पवित्र कार्य है। पर खेद है कि-इस पर भी किसी न किसी सांसारिक आशा का अपवित्र दाग पड़ ही जाता है। धन्य हैं, वे देने वाले और लेने वाले, जो इस आशा के दाग से अलग हैं। जिन्हें किसी प्रकार की सांसारिक आशा नहीं है। अस्तु- येही दोनों सद्गति प्राप्त करते हैं—अन्य नहीं।

वस्तुतः वही देने में देने वाले गृहस्थ हैं जो बिना किसी आशा के निःस्वार्थ भाव से देते हैं। इसी प्रकार लेने में लेने वाले भी वही भावितात्मा साधु हैं जो निःस्वार्थ भावसे केवल संयम के निर्वाह के लिये ही लेते हैं। इन दानों का संमेलन, एक महा संमेलन है। इस संमेलन में वह अजब गजब की आत्म क्रान्ति होती है-जो मुमुक्षु सज्जनों का अन्तिम ध्येय बिन्दु है।

इस दृष्टान्त के देने का यह मतलब है कि–अयि दानवीर गृहस्थो ! इस आदर्श पर चलो । जो दान करो वह बिना किसी प्रतिफल की आशा के करो । इसी में तुम्हारा वास्तविक कल्याण है । शास्त्रकारों ने इसी दान का फल अनंत गुणा बतलाया है ।

मुधाजीवी का दृष्टान्त—

एकराजा बड़ा प्रजाप्रिय एवं धर्मात्मा राजा था । एकदिन उसने विचार किया कि—यों तो सभी धर्मपाल अपने अपने धर्म की प्रशंसा करते हैं, और अपने-अपने धर्म को ही अच्छा मोक्षफल प्रदाता बताते हैं । परन्तु—परीक्षा करके देखना चाहिए कि वस्तुतः कौन सा धर्म अच्छा है ? धर्म के प्रवर्तक गुरु होते हैं । गुरु के अच्छे बुरे पन परही धर्म का अच्छा-बुरापन है । अतः धर्म की परीक्षा के लिये गुरु की परीक्षा करनी चाहिए कि धर्म गुरु किस प्रकारका भोजन करते हैं । सच्चा गुरु वही है जो बिना किसी आशा अभिलाषा के निःस्वार्थ भाव से दिया हुआ—जैसा मिला वैसा ही आहार बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण करता है । उसीका बतलाया हुआ धर्म श्रेष्ठ होता है ।

यह विचार करके राजाने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि-मेरे देशमें जितने भी भिक्षुक हैं-सभी को एकत्रित करो और कहोकि राजा सब भिक्षुओं को मोदक (लड्डू) वितीर्ण करेगा । राजाज्ञा होते ही सेवक सभी भिक्षुओं को बुलालाए । जिनमें कार्पटिक जटा धारी, जोगी, सन्यासी, श्रमण, ब्राह्मण, निर्ग्रन्थ सभी शामिल थे । नियत समय पर राजा ने आकर पूछा कि- हे भिक्षुओ ! कृपया बतलाओ, तुम सब अपना जीवन-निर्वाह किस किस तरह करते हो ?

उपस्थित भिक्षुओं में से एकने कहा–मैं मुख से निर्वाह करता हूँ । दूसरे ने कहा मैं पैरों से

संन्यासी ने कहा ठीक है-ऐसाही करूँगा। भला मैं संन्यासी तुम्हारे कामों में व्यर्थ का हस्त-क्षेप करके, अपना सन्यासीपन क्यों खोने लगा ? मैं कोई पगला हूं ? तुम निश्चय रक्खो तुम्हारे कथन के विरुद्ध कोई कार्य नहीं होगा।

संन्यासी ठहर गया। भागवत भी सन्यासी की अशन-वसन आदि से खूब ही सेवा भक्ति करने लगा। आनंद से चौमास का समय बीतने लगा। परन्तु एक समय की बात है। रात्रि के समय चोरों ने आकर उस भागवत का घोड़ा चुरा लिया और अधिक प्रभात जानकर बाहर किसी तालाब पर वृक्ष के घोड़ा बाँध दिया। संन्यासी जी उसी तालाब पर स्नान करने आया करते थे। सो उस दिन वे बहुत सबेरे उठ खड़े हुए और झट सीधे तालाब पर स्नान करने चले गए। वहाँ घोड़ा बँधा रहा था। सन्यासी जी चोरों की करतूत को ताड़ गये। सन्यासी जीने प्रतिज्ञा को याद कर हृदय को बहुत मसोसा पर उनसे रहा नहीं गया। झटपट उल्टे पैरों भागवत के पास आये और प्रतिज्ञा भङ्ग से अपने मनों साफ बचाते हुए कहने लगे कि-अहो, मैं तो तालाब पर वस्त्र भूल आया। क्या करूँ ? बड़ी भूल हुई। उस वस्त्र के बिना तो काम नहीं चलेगा। भागवत सेठ ने वस्त्र लाने के लिये नौकर भेजा। नोकर ने आकर सेठ से घोड़े के विषय में कहा। सेठ सब बात समझ गया। उसने संन्यासी जी को यह कहते हुए विदा कराई कि—महाराज ! आप अपनी प्रतिज्ञा भंग कर चुके हैं—सन्यासी के पद से नोकर के पद पर आ गिरे हैं। अब मेरे से आपकी सेवा न हो सकेगी। ऐसी सेवा का—ऐसे दान का फल बहुत ही स्वल्प होता है। अस्तु-ऐसे महान कार्यों का फल स्वल्प मिले, यह मुझे पसंद नहीं। बिचारे संन्यासीजी अपना बचना—बोरिया उठा चलते बने।

इस दृष्टान्त के देने का यह मतलब है कि-अयि दानवीर गृहस्थो ! इस आदर्श पर चलो । आ दान करो वह विना किसी प्रतिफल की आशा के करो । इसी में तुम्हारा वास्तविक कल्याण है । शास्त्रकारों ने इसी दान का फल अनंत गुणा बतलाया है ।

मुधाजीवी का दृष्टान्त—

एकराजा बड़ा प्रजाप्रिय एवं धर्मात्मा राजा था । एकदिन उसने विचार किया कि—योंतो सभी धर्मपाल अपने अपने धर्म की प्रशंसा करते हैं; और अपने-अपने धर्म को ही अच्छा मोक्षफल प्रदाता बताते हैं । परन्तु—परीक्षा करके देखना चाहिए कि वस्तुतः कौन सा धर्म अच्छा है ? धर्म के प्रवर्तक गुरु होते हैं । गुरु के अच्छे बुरे पन परही धर्म का अच्छा-बुरापन है । अतः धर्म की परीक्षा के लिये गुरु की परीक्षा करना चाहिए कि धर्म गुरु किस प्रकारका भोजन करते हैं । सच्चा गुरु वही है जो विना किसी आशा अभिलाषा के निःस्वार्थ भाव से दिया हुआ—जैसा मिला वैसा ही आहार बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण करता है । उसीका बतलाया हुआ धर्म श्रेष्ठ होता है ।

यह विचार करके राजाने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि-मेरे देशमें जितने भी भिक्षुक हैं-सभी को एकत्रित करो और कहोकि-राजा सब भिक्षुओं को मोदक (लड्डू) वितीर्ण करेगा । राजाज्ञा होते ही सेवक सभी भिक्षुओं को बुलालाए । जिनमें कार्पटिक जटा धारी, जोगी, सन्यासी, श्रमण, ब्राह्मण, निर्ग्रन्थ सभी शामिल थे । नियत समय पर राजा ने आकर पूछा कि-हे भिक्षुओ ! कृपया बतलाओ, तुम सब अपना जीवन-निर्वाह किस किस तरह करते हो ?

उपस्थित भिक्षुओं में से एकने कहा-मैं मुख से निर्वाह करता हूं । दूसरे ने कहा-मैं पैरों से

निर्वाह करता हूँ। तीसरे ने कहा-मैं हाथों से निर्वाह करता हूँ। चौथे ने कहा-मैं लोकानुग्रहसे निर्वाह करता हूँ। पाँचवे ने कहा कि—मेरा क्या निर्वाह ! मैं तो मुधाजीवी हूँ।

राजा ने फिर कहा-आप लोगों ने क्या उत्तर दिया—मैं नहीं समझ सका। कृपया इस का स्पष्टीकरण होना चाहिए। उत्तर दाताओं ने यथा क्रम कहना प्रारंभ किया—

प्रथम-महाराज ! मैं भिक्षुक तो होगया ! पर करूँ क्या पेट वश में नहीं होता। इस पेट की पूर्ति के लिये मैं लोगों के संदेशे पहुँचाया करता हूँ। अतः मैंने कहा कि—मैं मुख से निर्वाह करता हूँ। मेरे धर्म में क्षुधा निवृत्ति के लिये वैसे काम करना निन्दित नहीं समझा जाता।

द्वितीय—राजन् ! मैं साधु हूं, पत्रवाहक का काम करता हूँ। गृहस्थ लोग—जहाँ भेजना होता है वहाँ पत्र देकर मुझे भेजदेते हैं, और उपयुक्त परिश्रम का द्रव्य देदेते हैं। जिससे मैं अपनी आवश्यकताएं पूरी करता हूं। अतः मैंने कहा कि—मैं पैरों से निर्वाह करता हूं।

तृतीय-नरेश ! मैं लेखक हूं। मैं अपनी तमाम आवश्यकताएं, लेखन क्रिया द्वारा पूरी करता हूं। अतः मैंने कहा कि मैं अपना निर्वाह हाथों से करता हूँ।

चतुर्थ-नरेन्द्र ! मैं परिव्राजक हूँ। मेरा कोई खास धंधा नहीं है—जिससे मेरा निर्वाह हो। मैं तो अपनी आवश्यकताएं लोगों के अनुग्रह से पूरी करता हूँ। अतः येन केन प्रकारेण लोगों को खुश रखना मेरा काम है—इसीसे मेरा निर्वाह है।

पंचम—महाराज ! मेरा निर्वाह क्या पूछते हो ? मैं तो संसार से सर्वथा विरक्त जैन निर्ग्रन्थ हूं। मैं अपने निर्वाह के लिये किसी प्रकार की सांसारिक क्रिया नहीं करता। केवल संयम क्रिया पालन

के लिये गृहस्थों द्वारा निःस्वार्थ बुद्धि से दिया हुआ आहार ग्रहण करता हूं। मैं सर्वथा स्वतंत्र हूँ। मुझे आहार आदि के निर्वाह के लिये किसी की आजीजी नहीं करनी होती। अतः मैंने कहा कि-मैं मुधाजीवी हूं।

अस्तु—राजाने सबकी बातें सुनकर विचार किया कि—वास्तव में सच्चा साधु यह मुधाजीवी ही है। अतः इसीसे धर्मोपदेश सुनना चाहिए। राजाने उपदेश सुना। सच्चे वैरागी का उपदेश असर करता ही है। राजा प्रतिबोध पाकर उन्हीं निर्ग्रन्थ के पास दीक्षित होगया और जप तप क्रियाएँ करके समय पर मुक्ति सुख का अधिकारी बना।

इस दृष्टान्त का यह मतलब है कि -साधुओं! संसार त्याग कर पराधीनता से मुक्त होकर साधु बने हो—फिर किस लिये गृहस्थों की गुलामी करते हो। पेट के लिये जाति पाँति न बतलाओ-किसी की आजीजी न करो। जो निःस्वार्थ भाव से दे, उसीसे ग्रहण करो—चाहे दे वह कैसा ही। अच्छे बुरे की परवा न करो।

उद्देश-समाप्ति के इस महान सूत्रका हृदयाङ्कित करने लायक—सर्व साधारण की समझ में आने लायक संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि—गृहस्थ जो दान करे वह बिना किसी आशा के ही करे। इसी प्रकार साधु भी गृहस्थों के यहां से जो भिक्षा लावे-वह बिना किसी आशा पर ही लावे। दोनों में निःस्वार्थता कूट—कूट कर भरी हुई होनी चाहिए। इसी में दोनों का कल्याण है। दोनों के कल्याण से संसार का कल्याण है॥ १०० ॥

निर्वाह करता हूँ। तीसरे ने कहा-मैं हाथों से निर्वाह करता हूँ। चौथे ने कहा-मैं लोकानुग्रहसे निर्वाह करता हूँ। पाँचवे ने कहा कि—मेरा क्या निर्वाह ! मैं तो सुधाजीवी हूँ।

राजा ने फिर कहा-आप लोगों ने क्या उत्तर दिया-मैं नहीं समझ सका।-कृपया इस का स्पष्टीकरण होना चाहिए। उत्तर दाताओं ने यथा क्रम कहना प्रारंभ किया—

प्रथम-महाराज ! मैं भिक्षुक तो होगया ! पर करूँ क्या पेट वश में नहीं होता। इस पेट की पूर्ति के लिये मैं लोगों के संदेशे पहुचाया करता हूँ। अतः मैंने कहा कि—मैं मुख से निर्वाह करता हूँ। मेरे धर्म में क्षुधा निवृत्ति के लिये ऐसे काम करना निन्दित नहीं समझा जाता।

द्वितीय—राजन् ! मैं साधु हूँ, पत्रवाहक का काम करता हूँ। गृहस्थ लोग—जहाँ भेजना होता है, वहाँ पत्र देकर मुझे भेजदेते हैं, और उपयुक्त परिश्रम का द्रव्य देदेते हैं। जिससे मैं अपनी आवश्यकताएं पूरी करता हूँ। अतः मैंने कहा कि—मैं पैरों से निर्वाह करता हूँ।

तृतीय—नरेश ! मैं लेखक हूँ। मैं अपनी तमाम आवश्यकताएं, लेखन क्रिया द्वारा पूरी करता हूँ। अतः मैंने कहा कि मैं अपना निर्वाह हाथों से करता हूँ।

चतुर्थ—नरेन्द्र ! मैं परिव्राजक हूँ। मेरा कोई खास धंधा नहीं है—जिससे मेरा निर्वाह हो। मैं तो अपनी आवश्यकताएं लोगों के अनुग्रह से पूरी करता हूँ। अतः येन केन प्रकारेण लोगों को खुश रखना मेरा काम है—इसीसे मेरा निर्वाह है।

पञ्चम—अन्नदाता ! मेरा निर्वाह क्या पूछते हो ? मैं तो संसार से सर्वथा विरक्त जैन निर्ग्रन्थ हूँ। मैं अपने निर्वाह के लिये किसी प्रकार की सांसारिक क्रिया नहीं करता। केवल संयम क्रिया पालन

अथ पिण्डैषणाध्ययने द्वितीय उद्देशः

उत्थानिका—प्रथम उद्देश में जो उपयोगी विषय छोड़ दिया है, वह अब इस द्वितीय उद्देश में बतलाया जाता है—अब सूत्रकार, जिस पात्र में आहार करे, उस पात्र को लेप मात्र पर्यंत पोंछलेने के विषय में कहते हैं—

पडिग्गहं संलिहित्ताणं, लेवमायाए संजए ।
दुगंधं वा सुगंधं वा, सव्वं भुंजे न छड्डए ॥ १ ॥

प्रतिग्रहं संलिख्य, लेपमर्यादया संयतः ।
दुर्गन्धि वा सुगन्धि वा, सर्वं भुञ्जीत नोज्झेत् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(संजए) यत्नावान् साधु (पडिग्गहं) पात्र को (लेवमायाए) लेप मात्र पर्यन्त (संलिहित्ता) अंगुली से पूँछ कर (दुगंधं) दुर्गंधित (वा) अथवा (सुगंधं) सुगंधित पदार्थ—जो हो—(सव्वं) सभी को (भुंजे) भोगे, परन्तु (न छड्डए) किंचिन्मात्र भी न छोड़े ('ण' वाक्यालङ्कार अर्थ में और 'वा' समुच्चय अर्थ में है) ॥ १ ॥

" श्री सुधर्मा स्वामी जी जम्बूस्वामी जी से कहते हैं कि—हे वत्स ! श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी के मुखारविन्द से मैंने जैसा अर्थ इस ' पिण्डैषणा ' अध्ययन के प्रथम उद्देशका सुना है, वैसा ही मैंने तुमसे कहा है , अपनी बुद्धि से कुछभी नहीं कहा । "

इय पिंडेसणाय पढमो उद्देसो सम्मत्तो ।

इति पिण्डैषणाध्ययने प्रथम उद्देशः समाप्तः ।

इति श्री दशवैकालिक सूत्र के पिण्डैषणा नामक पंचम अध्ययनके प्रथम उद्देश की— आत्मज्ञानप्रकाशिका नामक हिन्दी भाषाटीका समाप्त हुई ।

प्रदर्शन होता है। साधु की तरफ से लोगों के मनों में घृणा के भाव पैदा होने लगजाते हैं। क्यों न पैदा हों, यह है भी तो एक गन्दा पन की बात।

सूत्र में जो भोजन के विशेषण रूप में 'गन्ध' शब्द आया है वह उप लक्षण है। अत: गन्ध से गन्ध के सहचारी जो रूप रस आदि हैं, उनका भी ग्रहण करलेना चाहिए ॥ १ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, विशेष विधि के विषय में कहते हैं—

सेज्जा निसीहियाए, समावन्नो अ गोयरे।
अयावयट्ठा भुच्चाण, जइ तेण न संथरे ॥ २ ॥

शय्यानैषेधिक्याम्, समापन्नो वा गोचरे।
अयावदर्थं भुक्त्वा, यदि तेन न संस्तरेत् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(सेज्जा) उपाश्रय में अथवा (निसीहियाए) स्वाध्याय करने की भूमि में बैठा हुआ साधु (गोयरे) गोचरी के लिये (समावन्नो) गया हुआ (आहार लाया परन्तु) (अयावयट्ठा) अपर्याप्त आहार (भुच्चाण) भोगकर (जइ) यदि (तेणं) उस आहार से (न संथरे) निर्वाह न होसके तो फिर—('आहार के लिये जावे' यह अग्रिम सूत्र में कहते हैं) ॥ २ ॥

मूलार्थ—उपाश्रय में अथवा स्वाध्याय करने के स्थान में बैठा हुआ गोचर प्राप्त साधु, अपर्याप्त

मूलार्थ—साधु जब आहार कर चुके, तब पात्र को खूब पूँछ—पोंछ कर साफ कर के रक्खे, लेप मात्र भी पात्र के न लगा रहने दे। दुर्गन्धित—सुगन्धित (अच्छा बुरा) कैसा ही पदार्थ हो, सब का सब लेप मात्र पर्यंत खाले—छोड़े नहीं। यह नहीं कि-जो अच्छा पदार्थ हो, उसे तो खूब अच्छी तरह उँगली से पूँछ कर—रगड़कर खाले, और जो खराब पदार्थ हो, उसे योंही सिरपची से आधा—पड़धा खा-पी कर फेंकता बने ॥ १ ॥

भाष्य—इस प्रारम्भिक गाथा में यह वर्णन है कि-जब मुनि आहार करके निवृत्त हो-तब जिस पात्र में भोजन किया है, उस पात्र को अंगुली से खूब अच्छी तरह पूंछकर-साफ करके निर्लेप करदे। किंचित् मात्र भी भक्तादि का लेप, पात्र के लगा हुआ बाकी न छोड़े।

इसी बात पर अत्यधिक ज़ोर देते हुए सूत्रकारने सूत्र के उत्तर भागों में फिर यही बात दूसरे शब्दों में कही है कि चाहे दुर्गन्ध वाला खराब पदार्थ हो-चाहे सुगन्ध वाला अच्छा पदार्थ हो साधु लेप मात्र भी पात्र के लगा न रहने दे। जो आहार लाया है—सब का सब खालेवे, कुछ भी नहीं छोड़े। कारण कि-पात्र के लेप की बात वैसे देखने में तो बहुत साधारण सी दिखती है, पर है वास्तव में यह बहुत ही बड़ी बात। कभी ऐसा समय आ जाता है कि—यही छोटी सी बात फिर संचित संयम की घातक होजाती है।

दूसरे यह भी बात है कि-इस प्रकार भोजन पात्रों के सने रहने से साधु की अयोग्यता का

तओ कारणमुप्पण्णे , भत्तपाण गवेसए ।
विहिणा पुव्वउत्तेण , इमेण उत्तरेण य ॥ ३ ॥

तत कारणमुत्पन्ने , भक्तपान गवेषयेत् ।
विधिना पूर्वोक्तेन , अनेन उत्तरेण च ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(तओ) तदनन्तर (कारणं) आहार के कारण (उप्पण्णे) उत्पन्न होने पर (पुव्वउत्तेण) पूर्वोक्त (य) और (इमेण) इस वक्ष्यमाण (उत्तरेण) उत्तर (विहिणा) विधि से (भत्तपाण) अन्न पानी की (गवेसए) गवेषणा करे ॥ ३ ॥

मूलार्थ—पूर्वसूत्रोक्त अल्पाहार से क्षुधा निवृत्ति न होने के कारण—यदि फिर आहार की आवश्यकता पड़े, तो साधु पूर्वोक्त विधि से तथा वक्ष्यमाण उत्तर विधि से दुबारा आहार पानी की गवेषणा करे अर्थात् दुबारा गोचरी के लिये जावे ॥ ३ ॥

भाष्य—पूर्वसूत्र के कथनानुसार जब क्षुधा आदि वेदनाएँ अत्यधिक प्रबल हो उठें तथा रोग आदि के कारण वश अपर्याप्त आहार से अच्छी तरह निर्वाह न हो सके तो साधु फिर दूसरी दफा भिक्षा लाने में किसी प्रकार की लज्जा न करे। बस उसी समय गुरु श्री से आज्ञा ले, अपने योग्य भिक्षा लियावे।

आहार भोग कर यदि उस आहार से न सरे तो फिर-(आगे का विषय अगले सूत्र में देखो) ॥२॥

भाष्य—कोई भावितात्मा साधु, उपाश्रय में या स्वाध्याय भूमिका में शान्त चित्त से धार्मिक क्रियाएं करता हुआ बैठा है। इसी समय गोचरी का समय आया जानकर गोचरी के लिये गया और अपने मनों ठीक प्रमाणोपेत आहार लाया। गुर्वाज्ञा मिलने पर उन्हीं पूर्व स्थानों में भोजन करने लगा, परन्तु-आहार जितना चाहिए था, उतना न मिलने के कारण भले प्रकार उदरपूर्ति न हुई। अतः यदि अपर्याप्त आहार से अच्छी तरह निर्वाह न हो सकेतो फिर साधु दुबारा विधि पूर्वक आहार लेने के लिये जा सकता है। यह आने का कथन अग्रिम सूत्र में सूत्रकार स्वयं करेंगे।

सूत्र कर्ताने जो 'अयावयट्ठं' पद पढ़ा है। उसका व्युत्पत्ति सिद्ध स्पष्ट अर्थ यह है कि "न यावदर्थं अयावदर्थम्—अर्थात् भूख मिटाने के लिये जितना आहार उपयुक्त होना चाहिए, उतने आहार का न मिलना।"

बात यह है कि साधु को थोड़ा भी आहार मिले तो कोई हर्ज़ नहीं। भले ही भूख रहो साधु थोड़ा ही खाकर अपना निर्वाह चला लेते हैं। परन्तु-कभी ऐसा अवसर होता है कि भूख असह्य होजाती है। कितना ही क्यों न हृदय को दाबाजाय, थमा नहीं जाता। ऐसी अवस्था प्रायः रोगियों तपस्वियों तथा नव दीक्षितों की होती है। अस्तु शास्त्रकार ने इसी आकस्मिक बात को लेकर-इस सूत्र में प्रश्न उठाकर अग्रिम सूत्र में दुबारा भिक्षा की आज्ञा देकर समाधान किया है॥ २॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, दुबारा गोचरी करने की आज्ञा देते हैं—

तओ कारणमुप्पण्णे , भत्तपाण गवेसए ।
विहिणा पुव्वउत्तेण , इमेण उत्तरेण य ॥ ३ ॥

ततः कारणमुत्पन्ने , भक्तपान गवेषयत् ।
विधिना पूर्वोक्तेन , अनेन उत्तरेण च ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(तओ) तदनन्तर (कारणं) आहार के कारण (उप्पण्णे) उत्पन्न होने पर (पुव्वउत्तेण) पूर्वोक्त (य) और (इमेण) इस वक्ष्यमाण (उत्तरेण) उत्तर (विहिणा)विधि से (भत्तपाण) अन्न पानी की (गवेसए)गवेषणा करे ॥ ३ ॥

मूलार्थ—पूर्वसूत्रोक्त अल्पाहार से क्षुधा निवृत्ति न होने के कारण—यदि फिर आहार की आवश्यकता पड़े, तो साधु पूर्वोक्त विधि से तथा वक्ष्यमाण उत्तर विधि से दुबारा आहार पानी की गवेषणा करे अर्थात् दुबारा गोचरी के लिये जावे ॥ ३ ॥

भाष्य—पूर्वसूत्र के कथनानुसार जब क्षुधा आदि वेदनाएँ अत्यधिक प्रबल हो उठें तथा रोग आदि के कारण वश अपर्याप्त आहार से अच्छी तरह निर्वाह न होसके तो साधु फिर दूसरी दफा भिक्षा लाने में किसी प्रकार की लज्जा न करे। बस उसी समय गुरु श्री से आज्ञा ले, अपने योग्य भिक्षा लियावे।

परन्तु—एक बात यह अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि-भिक्षा लावे विधि से। यह नहीं कि कड़ाके की भूख लग रही है, सो अब कहाँ जाते आते, फिरते फिरेंगे—चलो बिना देखे भाले ही किसी एक घर से ही पात्र पूर्ण करलें। कैसी ही क्यों न भूख प्यास हो—कैसी ही क्यों न आपत्ति हो साधु को अपने विधि—विधान से अपनी मुख नहीं मोड़ना चाहिए। पूर्वोक्त विधि द्वारा भिक्षा ग्रहण करने से ही एषणा समिति की सम्यक्तया आराधना हो सकेगी—समिति आराधनासे ही आत्माराधना है।

नित्य प्रति आहार करने वाले भिक्षुओं के लिये सूत्रकार ने एक बार ही भिक्षा लाने की आज्ञा दी है। किन्तु यह उसका अपवाद सूत्र है। अर्थात् विशेष कारण के उपस्थित हो जाने पर दुबारा भी भिक्षा लाई जा सकती है।

यद्यपि क्षुधा वेदना आदि अनेक कारण सूत्र कर्त्ता ने वर्णन किये हैं, तथापि उस समय जो मुख्य कारण उपस्थित होजाय उसी की गणना करनी चाहिए।

सूत्र का संक्षिप्त सार यह है कि यद्यपि एक बार भिक्षा लेआने के बाद दूसरी बार भिक्षा लाना अच्छा है। ऐसा मुख्य मार्ग ठीक नहीं। फिर भी कारण बड़े बलवान होते हैं अतः अपवाद विधि से दुबारा गोचरी करने में कोई हर्ज नहीं ॥ ३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यह बतलाते हैं कि- भिक्षा के लिये किस समय जाना ठीक है—

कालेण निक्खमे भिक्खू , कालेण य पडिक्कमे ।

अकालं च विवज्जित्ता , काले कालं समायरे ॥ ४ ॥

कालेन निष्क्रामेद् भिक्षु , कालेन च प्रति क्रामेत् ।
अकालं च विवर्जयित्वा , काले कालं समाचरेत् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(भिक्खू) साधु (कालेण) जिस गाँव में जो भिक्षा का समय हो उसी समय में (निक्खमे) भिक्षा के लिये जावे (य) फिर (कालेण) स्वाध्याय आदि के समय (पडिक्कमे) वापिस लौट आवे (च) और (अकालं) अकाल को (विवज्जित्ता) छोड़कर (काले) काल के समय (कालं) काल योग्य कार्यक्रम (समायरे) समाचरण करे ॥ ४ ॥

मूलार्थ—जिस ग्राम में जो भिक्षा का समय हो, उसी समय में साधु को भिक्षा के लिये गाँव में जाना चाहिए, और स्वाध्याय आदि का समय होते ही वापिस लौट आना चाहिए। साधु-अकाल को छोड़कर काल के काल ही यथायोग्य भिक्षादि क्रियाओं में प्रवृत्ति करे ॥ ४ ॥

भाष्य—जब साधु भिक्षाचरी जाने के लिए तैयार हो तब उस को उचित है कि वह सब से पहले इस बात का ज्ञान प्राप्त करे कि गाँव में आम तौर से भोजन का एवं साधुओं की भिक्षा का समय कब होता है? अस्तु-ठीक-ठीक पता चल जाने पर काल के अनुसार भिक्षा चरी के लिये गाँव में जाए और जब यह जाने कि अब गोचरी का समय नहीं रहा है-स्वाध्याय आदि का समय आगया है तो वह उसी समय वापिस स्थानपर लौट आवे। ताकि-स्वाध्याय आदि आवश्यक क्रियाओं में किसी प्रकार का विघ्न न पड़े।

संक्षिप्त शब्दों में कहने का सार यह है कि साधु क्रिया-वादी है। उस के तमाम दिन रात नियत क्रियाओं के करने में ही आते हैं। अस्तु-साधु जो समय जिस क्रिया का हो उस समय उसी क्रिया को करे-दूसरी को नहीं। क्रियाओं के क्रम में फेर फार करने से बड़ी भारी गड़-बड़ी पड़ जाती है। वह मनुष्य ही नहीं जो समय का पाबन्द नहीं है।

टीकाकार श्री 'हरिभद्र सूरि' भी इसी क्रिया की पाबन्दी के लिये स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि-"भिक्षावेलायां भिक्षां समाचरेत्, स्वाध्यायादि वेलायां स्वाध्यायादीनिति-भिक्षा के समय भिक्षा के लिये जावे और स्वाध्याय आदि के समय स्वाध्याय आदि करे।" इसी कारण से सूत्रकर्ता ने काल को कारण भूत मान कर 'कालेण' पद तृतीयान्त पद दिया है ॥४॥

उत्थानिका—अब, अकाल में भिक्षा के लिये जाने से क्या दोष है ? यह कहा जाता है—

अकाले चरसी (सि) भिक्खू , कालं न पडिलेहसि ।
अप्पाणं च किलामेसि , संनिवेसं च गरिहसि ॥ ५ ॥

अकाले चरसि भिक्षो ! कालं न प्रत्युपेक्षसे ।
आत्मानं च क्लामयसि , संनिवेशं च गर्हसि ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(भिक्खू) हे मुने! तू (अकाले) अकाल में (चरसी) गोचरी के लिये जाता

है, किन्तु (काल) भिक्षा के काल को (न पडिलेहसि) नहीं देखता है। अतः (अप्पाणं) अपने आत्मा को (किलामेसि) पीड़ा देता है (च) और भगवान की आज्ञा भङ्ग करके, दैन्य वृत्ति से (संनिवेस) ग्राम की भी (गरिहसि) निन्दा करता है ॥ ५ ॥

मूलार्थ—हे मुने! तुम पहले तो अकाल में भिक्षा के लिये जाते हो—भिक्षा काल को भले प्रकार देखते नहीं हो। और जब भिक्षा नहीं मिलती है, तब यों अपने-आप को दुःखित करते हो, भगवदाज्ञा भगकर के व्यर्थ ही गांव की निन्दा करते हो ॥ ५ ॥

भाष्य—एक मुनि भिक्षा कालको अतिक्रम करके भिक्षार्थ गाँव में गये। वे अवसर भिक्षा कहाँ मिलनी थी, बस मनही मन गुन-गुनाते लौट आये। म्लानमुख देखकर किसी अन्य मुनि ने पूछा कि-"क्यों मुने! क्या बात है? भिक्षा मिली कि नहीं? उत्तर मिला, अरे यहाँ कहाँ भिक्षा धरी है? यह गाँव थोड़ा ही है जो यहाँ भिक्षा मिले। यह तो स्थण्डिल है, सुन सान जंगल है"। पृच्छक मुनि ने कहा—महात्मन! ऐसा न कहो। पहले तो तुम प्रमाद से या लोभ से भिक्षा काल को लाँघ देते हो। देखते तक नहीं कि यह भिक्षा का समय है या नहीं। बतलाओ ये वक्त भिक्षा कैसे मिल सकती है? भिक्षा तो भिक्षा के समय पर ही मिला करती है। बंधु! अब अकाल में भिक्षार्थ जाने से क्यों तो तुम अपने—आपको, अत्यन्त भ्रमण से या क्षुधा आदि की पीड़ा से, क्लेशित करते हो। और क्यों भगवदाज्ञा लोपकर दैन्य भाव से, विचारे निर्दोष गाँवकी निन्दा करते हो? इसमें गाँवका क्या दोष है? जो दोष

संक्षिप्त शब्दों में कहने का सार यह है कि साधु क्रिया-पात्री है। उस के तमाम दिन रात नियत क्रियाओं के करने में ही आते हैं। अस्तु-साधु जो समय जिस क्रिया का हो उस समय उसी क्रिया को करे-दूसरी को नहीं। क्रियाओं के क्रम में फेर फार करने से बड़ी भारी गड़ी-बड़ी पड़ जाती है। वह मनुष्य ही नहीं जो समय का पाबंद नहीं है।

टीकाकार श्री 'हरिभद्र सूरि' भी इसी क्रिया की पाबंदी के लिये स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि-"भिक्षावेलायां भिक्षां समाचरेत्, स्वाध्यादि वेलायां स्वाध्यायादीनिति भिक्षा के समय भिक्षा के लिये जावे और स्वाध्याय आदि के समय स्वाध्याय आदि करे।" इसी कारण से सूत्रकर्ता ने काल को कारण भूत मान कर 'कालेण' यह तृतीयान्त पद दिया है ॥४॥

उत्थानिका—अब, अकाल में भिक्षा के लिये जाने से क्या दोष है ? यह कहा जाता है—

अकाले चरसी (सि) भिक्खू , काल न पडिलेहसि ।
अप्पाण च किलामेसि , संनिवेस च गरिहसि ॥ ५ ॥

अकाले चरसि भिक्षो ! कालं न प्रत्युपेक्षसे ।
आत्मानं च क्लामयसि , सन्निवेशं च गर्हसि ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(भिक्खू) हे मुने! तू (अकाले) अकाल में (चरसी) गोचरी के लिये जाता

है, किन्तु (काल) भिक्षा के काल को (न पडिलेहसि) नहीं देखता है। अत (अप्पाण) अपने आत्मा को (किलामेसि) पीड़ा देता है (च) और भगवान की आज्ञा भङ्ग करके, दैन्य वृत्ति से (सन्निवेस) ग्राम की भी (गरिहसि) निन्दा करता है ॥ ५ ॥

मूलार्थ—हे मुने! तुम पहले तो अकाल में भिक्षा के लिये जाते हो—भिक्षा काल को भले प्रकार देखते नहीं हो। और जब भिक्षा नहीं मिलती है, तब यों अपने-आप को दुःखित करते हो, भगवदाज्ञा भंगकर के व्यर्थ ही गाँव की निन्दा करते हो ॥ ५ ॥

भाष्य—एक मुनि भिक्षा कालको अतिक्रम करके भिक्षार्थ गाँव में गये। वे अवसर भिक्षा कहाँ मिलनी थी, बस मनही मन गुन-गुनाते लौट आये। म्लानमुख देखकर किसी अन्य मुनि ने पूछा कि-"क्यों मुने! क्या बात है? भिक्षा मिली कि नहीं? उत्तर मिला, अरे यहाँ कहाँ भिक्षा धरी है? यह गाँव थोड़ा ही है जो यहाँ भिक्षा मिले। यह तो स्थण्डिल है, सुन सान जंगल है"। पृच्छक मुनि ने कहा—महात्मन्! ऐसा न करो। पहले तो तुम प्रमाद से या लोभ से भिक्षा काल को लाँघ देते हो। देखते तक नहीं कि यह भिक्षा का समय है या नहीं। बतलाओ वे वक्त भिक्षा कैसे मिल सकती है? भिक्षा तो भिक्षा के समय पर ही मिला करती है। बंधु! अब अकाल में भिक्षार्थ आने से क्यों तो तुम अपने-आपको, अत्यन्त भ्रमण से या क्षुधा आदि की पीड़ा से, क्लेशित करते हो। और क्यों भगवदाज्ञा लोपकर दैन्य भाव से, विचारे निर्दोष गाँवकी निन्दा करते हो? इसमें गाँवका क्या दोष है? जो दोष

यह सब तुम्हारे मत्थल में आने का है। अपने आपको देखो—व्यर्थ दूसरों को दोष मत दो।

मतलब यह है कि—अकाल में गोचरी आदि क्रिया करने से जो हैं सो, दोष ही दोष हैं—गुण एकमी नहीं है। समय का विचार न करने वाले महानुभावों को गुण कैसे मिल सकते हैं। यदि ऐसे विवेक शून्य मनुष्य ही सद्गुणी—सुखी कहलाय तो फिर दुखी कौन कहलायगा?

बहुत से अर्थकार इस सूत्रका "मत्थ अकाल में भिक्षा के लिये आयगा तो अपने आपको दुखी करेगा और गाँव की निन्दा करेगा" इस प्रकार भविष्यत्काल परक करते हैं—यानी भविष्यत्काल की क्रिया का प्रयोग करते हैं। परन्तु सूत्र में 'चरसि' आदि क्रिया पद सब वर्तमान लट् लकार के मध्यम रूप के ही हैं भविष्यत्काल का कोई भी प्रत्यय नहीं है। अतः उनका यह अर्थ उपयुक्त नहीं जँचता। समान कालका ही अर्थ ठीक है।

इस विषय को जो यह दृष्टान्त का रूपक दिया है, यह बाल बुद्धि शिष्यों के सद्य परिज्ञान के लिए दिया है। दृष्टान्त की शैली अतीव उत्तम है, इसके द्वारा गहन से गहन विषय भी बड़ी सरलता से समझाये जा सकते हैं।

उत्थानिका— अब सूत्रकार, यदि भिक्षोचित समय पर जाने पर भी भिक्षा न मिले, तो फिर क्या करना चाहिए? इस विषय में कहते हैं —

सइ काले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारिअं।
अलाभुत्ति न सोइज्जा, तवुत्ति अहिआसए ॥ ६ ॥

सति काले चरेद्भिक्षु , कुर्यात् पुरुष कारम् ।
अलाभेऽपि न शोचयेत् , तप इत्यधिसहेत ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(भिक्खू) हे मुने! (काले) भिक्षा योग्य काल के (सइ) होने पर (चरे) भिक्षा के लिये जावे (पुरिसकारिअ) पुरुषाकार पराक्रम (कुज्जा) करे, यदि (अलाभुत्ति) लाभ नहीं हो तो फिर (नसोइज्जा) शोक न करे किन्तु (तवुत्ति) कोई बात नहीं-यह अनशन आदि तप ही होगया है—ऐसा विचार कर क्षुधा आदि परीषह को (अहिआसए) सहन करे ॥ ६ ॥

मूलार्थ—गुरु कहते हैं कि-हे मुने! भिक्षुक, भिक्षा का काल होने पर-अथवा स्मृति काल होने पर-ही भिक्षा के लिये जावे और एतदर्थ यथोचित पुरुषार्थ करे। यदि भिक्षा न मिले तो शोक न करे, किन्तु अनशन आदि तप ही होगया है—ऐसा विचार कर क्षुधा आदि परीषह को सहन करे ॥६॥

भाष्य—गुरु भी शिष्य को उपदेश करते हैं कि-हे शिष्य! अकाल चारी के दोषों को ठीक-ठीक जानकर साधु, भिक्षा का काल होने पर ही भिक्षा के लिये जावे, आलस्य न करे। साधु तो पुरुषार्थी होते हैं। उनकी समस्त क्रियाएं पुरुषार्थ युक्त ही होनी चाहिएं। जब तक भुजाओं में चलने फिरने की शक्ति बनी हुई है, तबतक वीर्याचार का उल्लंघन साधु को नहीं करना चाहिए-यानी साधु मारे आलस्य के अन्य साधुओं की भिक्षा पर पलोथा मार कर न बैठे।

अब प्रश्न यह उपस्थित हो जाता है कि—यदि पुरुषार्थ करने पर भी आहार लाभ न होवे तो, फिर क्या करना चाहिए? उत्तर में कहा जाता है कि—यदि आहार न मिले तो कोई बात नहीं। साधु को शोक नहीं करना चाहिए। क्यों कि-भिक्षा के लिये जाकर मुनि ने तो अपने वीर्याचार का सम्यक्तया आराधन कर लिया है। टीकाकार भी कहते हैं—तदर्थं च भिक्षाटनं नाहारार्थमेवातो न शोचयत्—'साधु वीर्याचार के लिये ही भिक्षाटन करता है केवल आहार के लिये ही नहीं।

अतः भिक्षा के न मिलने पर, मन में किसी प्रकार का खेद न करता हुआ साधु, यही शुभ विचार करे कि आज भिक्षा न मिली तो क्या हानि है? मुझे तो इस में भी लाभ ही है। क्या बात है चलो आज का तप ही सही। ऐसा शुभ अवसर कब-कब मिलता है? इत्यादि शुभ भावनाओं द्वारा क्षुधा आदि परीषहों को सहन करे।

तथा सूत्र के प्रारम्भ में ही जो 'सइकाले' पद आया है, उस का यह भी अर्थ किया जाता है कि-'स्मृति काले' जिस समय धर्म निष्ठ गृहस्थ, भोजन करते समय अतिथि-साधुओं के पधारने की भावना करते हैं वह समय। विवेकी गृहस्थ यह भावना भाया करते हैं कि अहा! यह कैसा मङ्गलकारी समय हो कि- यदि कोई अतिथि साधु इस समय पधारें और मुझ सेवक से यथोचित भोजन ग्रहण करें। क्यों कि वस्तुतः भोजन वही है जिसमें से अपनी इच्छा के अनुसार कुछ भोजन अतिथि देवता ग्रहण करलें।

इस अर्थ में टीका कार भी सम्मत हैं,वे कहते हैं कि- 'स्मृतिकाल एव भिक्षाकस्योऽभिधीयते। स्मर्यन्ते यत्र भिक्षुकाः स स्मृति काल स्तस्मिन् चरे भिक्षुः भिक्षार्थं यायात्।"

उत्थानिका—काल यत्ना के कथन के बाद अब सूत्रकार, क्षेत्र यत्ना के विषय में कहते हैं-

तहेवुच्चावया पाणा, भत्तट्ठाए समागया।
तं उज्जुअं न गच्छिज्जा, जयमेव परक्कमे॥ ७॥

तथैव उच्चावचा प्राणिनः, भक्तार्थं समागताः।
तदृजुकं न गच्छेत्, यतमेव पराक्रमेत्॥ ७॥

अन्वयार्थ—(तहेव) उसी प्रकार गोचरी के लिये जाते हुए साधु को, कहीं पर (भत्तट्ठाए) अन्न पानी के वास्ते (समागया) एकत्र हुए (उच्चावया पाणा) ऊँच और नीच प्राणी मिलजायँ तो साधु (तं उज्जुअं) उन प्राणियों के सम्मुख (न गच्छिज्जा) न जावे, किन्तु (जयमेव) यत्न पूर्वक (परक्कमे) गमन करे, जिससे उन जीवों को दुःख न पहुँचे॥ ७॥

मूलार्थ—इसी तरह गोचरी गये हुए साधु को, यदि कहीं पर भोजनार्थ एकत्र हुए ऊँच-नीच पशु पक्षी आदि प्राणी मिलजायँ, तो साधु उनके सम्मुख न जावे, किन्तु-बचकर यत्ना के साथ गमन करे॥ ७॥

भाष्य—काल यत्ना के कहे जाने के पश्चात् अब सूत्रकार, क्षेत्र यत्ना के विषय में कहते हैं जैसे कि–जब साधु भिक्षा के लिए जाए तब मार्ग में उस को यदि कहीं पर अन्न पानी के वास्ते एकट्ठे हुए उत्तम–हंस आदि, अधम–काक आदि, अच्छे–बुरे नाना प्रकार के जीव मिलें तो साधु का कर्त्तव्य है कि वह उनके सम्मुख न जावे यत्न पूर्वक बचकर निकल जावे।

कारण कि–साधु के डर से एकत्रित प्राणी उड़ जायेंगे। जिससे साधु को उनकी अन्तराय का दोष लगेगा। अन्य भी सहसा भागने-दौड़ने उड़ने आदि के कारण हिंसा आदिक दोषों की सम्भावना की जा सकेगी। अतएव अहिंसा की पूर्ण प्रतिज्ञा वाला साधु मार्ग में जीवों को किसी प्रकार का उद्वेग पैदा करता हुआ, भिक्षा के लिए जावे ॥ ७ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, गोचरी को गया हुआ साधु, कहीं पर न बैठे और धर्म कथा न कहे, इस विषय में कहते हैं–

गोअरग्ग पविट्ठो अ, न निसीइज्ज कत्थई।
कहं च न पबंधिज्जा, चिट्ठित्ताण व संजए ॥ ८ ॥

गोचराग्रप्रविष्टस्तु, न निषीदेत् क्वचित्।
कथां च न प्रबध्नीयात्, स्थित्वा वा संयतः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(गोअरग्गपविट्ठो अ) गोचरी में गया हुआ (संजए) साधु (कत्थई) कहीं पर भी (न निसीइज्ज) नहीं बैठे (वा) तथा वहाँ (चिट्ठित्ताण) बैठकर (कहं च) धर्म कथा का भी (न पबंधिज्जा) विशेष प्रबन्ध नहीं करे ॥ ८ ॥

मूलार्थ—गोचरी के लिये गया हुआ साधु—कहीं पर भी न बैठे और नाही वहाँ बैठकर, विशेष धर्मकथा करे ॥ ८ ॥

भाष्य—आहार के वास्ते गये हुए साधु का परम कर्तव्य है कि वह किसी गृहस्थ आदि के घर में जाकर न बैठे। इतना ही नहीं–किन्तु यदि कोई भावुक, धर्म कथा के लिये भी कहें, तोभी धर्म कथा का विस्तार पूर्वक प्रबन्ध न करे अर्थात् घरों में जाकर धर्म कथा आदि भी न करे। क्योंकि इस प्रकार करने से संयम के उपघात की और एषणा समिति की विराधना होने की संभावना है।

हाँ, यदि कोई गृहस्थ प्रश्न करले, तो उस प्रश्न का उत्तर संक्षेपसे खड़ा–खड़ा ही दे सकता है बैठकर नहीं। टीकाकारभी कहते हैं 'मननैक व्याकरणैक ज्ञाता नुज्ञामाह।' अर्थात्–एक प्रश्नोत्तर खड़े खड़े ही संक्षेपतासे कर सकता है–विस्तार पूर्वक नहीं।

सिद्धान्त यह निकला कि आहार के लिये गया हुआ साधु घरों में धर्म कथा का विस्तार पूर्वक प्रबन्ध न करे ॥ ८ ॥

उत्थानिका—क्षेत्र यत्ना के कथन के बाद, द्रव्य यत्ना के विषय में कहते हैं—

भाष्य—सूक्ष्म यत्ना के कहे जाने के पश्चात् अब सूत्रकार, शेष यत्ना के विषय में कहते हैं जैसे कि—जब साधु भिक्षा के लिये जाय,तब मार्ग में उस को यदि कहीं पर अन्न पानी के वास्ते एकट्ठे हुए उत्तम-हंस आदि, अधम-काक आदि, अच्छे-बुरे नाना प्रकार के जीव मिलें तो साधु का कर्तव्य है कि वह उनके सम्मुख न जावे यत्न पूर्वक बचकर निकल जावे।

कारण कि-साधु के डर से एकत्रित प्राणी उड़जायेंगे। जिससे साधु को उनकी अन्तराय का दोष लगेगा। अन्य भी सहसा भागने-दौड़ने उड़ने जाने के कारण हिंसा आदिक दोषों की संभावना की जासकेगी। अतएव अहिंसा की पूर्ण प्रतिज्ञा वाला साधु मार्ग में जीवों को किसी प्रकार का उद्वेग न पैदा करता हुआ, भिक्षा के लिये जावे ॥ ७ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, गोचरी को गया हुवा साधु, कहीं पर न बैठे और धर्म कथा न करे, इस विषय म कहते हैं—

गोअरग्ग पविट्ठो अ, न निसीइज्ज कत्थई।
कहं च न पबंधिज्जा, चिट्ठित्ताण व संजए ॥ ८ ॥

गोचराग्रप्रविष्टश्च, न निषीदेत् कुत्रचित्।
कथां च न प्रबध्नीयात्, स्थित्वा वा संयतः ॥ ८ ॥

परिघ (जो नगर द्वारादि से सम्बन्ध रखने वाला एक फलक होता है) तथा द्वार (शाखामय-यह प्रसिद्ध ही है) तथा कपाट (द्वार यंत्र—किवाड़) अपि शब्द से अन्य भित्ति आदि का ग्रहण किया जाता है।

क्यों नहीं खड़ा होवे? इसका यह समाधान है कि—इनको अवलंबन से और पड़ने पर पदार्थों के गिर जाने से असंयम होने की संभावना है। दूसरे-ऐसे करने से लघुता का दोष भी होता है अर्थात् धर्म की, शास्त्र की या उस मुनि की लघुता होती है। देखने वाले लोगों के मन में यह विचार होते हैं कि—देखो यह कैसा साधु है? कैसे असभ्यता से खड़ा है! इसका धर्म भी कैसा है! क्या इसके शास्त्रों में सभ्यता से उठने-बैठने-खड़ा होने की भी शिक्षा नहीं है। अरे जब यही मामूली बातें नहीं हैं, तो फिर क्या डले पत्थर होंगे आदि आदि।

सूत्र का संक्षिप्त मननीय सार यह है कि—साधु जब गोचरी के लिये घरों में जाय, तब वहाँ पर किसी प्रकार की असभ्यता का वर्ताव न करे ॥ ९ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, द्रव्य यत्ना के बाद भाव यत्ना का वर्णन करते हैं—

समण माहण वावि, किविण वा वणीमग।
उवसकमत भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व सजए ॥ १० ॥

अग्गलं फलिहं दारं , कवाडं वावि संजए ।
अवलंबिया न चिट्ठिज्जा , गोयरग्गगओ मुणी ॥ ९ ॥

अर्गलं परिघं द्वारं , कपाटं वाऽपि संयत ।
अवलम्ब्य न तिष्ठेत् , गोचराग्रगतो मुनिः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(गोयरग्गगओ) गोचरी के लिये गया हुआ (संजए) जीवा-जीव की पूर्ण यत्ना करने वाला (मुणी) मुनि (अग्गलं) अर्गला को (फलिहं) कपाट के ढाँकने वाले फलक को (दारं) द्वार को (वा) तथा (कवाडंवि) कपाट आदि को (अवलंबिया) अवलम्बनकर (न चिट्ठिज्जा) खड़ा न हो ॥ ९ ॥

मूलार्थ—पूर्ण यत्नावान साधु—गोचरी के लिये घरों में गया हुआ आगल को, परिघ को, द्वार को, अथवा कपाट आदि को अवलंबन कर खड़ा न होवे ॥ ९ ॥

भाष्य—क्षेत्र यत्ना के पश्चात् अब सूत्रकार द्रव्य यत्ना के विषय में कहते हैं—जब साधु घरों में आहार के लिए जावे, तब वह ये आगे कहे जाने वाले पदार्थों का अवलम्बन करके-सहारा लेकर खड़ा न होवे।

व पदार्थ ये हैं—अर्गल-आगल (जो मोखुर कपाटादि से सम्बन्ध रखने वाली होती है) तथा

परिघ (जो नगर द्वारादि से सम्बन्ध रखने वाला एक फलक होता है) तथा द्वार (शाखामय-यह प्रसिद्ध ही है) तथा कपाट (द्वार यंत्र—किवाड़) अपि शब्द से अन्य भित्ति आदि का ग्रहण किया जाता है।

क्यों नहीं खड़ा होवे? इसका यह समाधान है कि—एकतो अवलंबन से जोर पड़ने पर पदार्थों के गिर जाने से असंयम होने की सम्भावना है। दूसरे-ऐसे करने से लघुता का दोष भी होता है अर्थात् धर्म की, शास्त्र की या उस मुनि की लघुता होती है। देखने वाले लोगों के मन में यह विचार होते हैं कि—देखो यह कैसा साधु है? कैसे असभ्यता से खड़ा है? इसका धर्म भी कैसा है? क्या इसके शास्त्रों में सभ्यता से उठने-बैठने-खड़ा होने की भी शिक्षा नहीं है। अरे जब यही मामूली बातें नहीं हैं, तो फिर क्या ढले पत्थर होंगे आदि आदि।

सूत्र का संक्षिप्त मननीय सार यह है कि—साधु जब गोचरी के लिये घरों में जाय, तब वहाँ पर किसी प्रकार की असभ्यता का बर्ताव न करे॥ ९॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, द्रव्य यत्ना के बाद भाव यत्ना का वर्णन करते हैं—

समण माहण वावि, किविण वा वणीमग।

उवसकमत भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए॥ १०॥

तमइक्कमित्तु न पविसे, नवि चिट्ठे चक्खुगोअरे ।
एगंत मवक्कमित्ता , तत्थ चिट्ठिज्ज संजए ॥ ११ ॥ [युग्मम्]

श्रमणं ब्राह्मणं वाऽपि, कृपणं वा वनीपकम् ।
उपसंक्रामन्तं भक्तार्थं , पानार्थं वा संयतः ॥ १० ॥
तमतिक्रम्य न प्रविशेत् , नापि तिष्ठेत् चक्षुर्गोचरे ।
एकान्त मवक्रम्य , तत्र तिष्ठेत्संयतः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(भत्तट्ठाए) अन्न के वास्ते (व) एवं (पाणट्ठाए) पानी के वास्ते, गृहस्थ के द्वार पर (उवसंकमंतं) आते हुए—या गये हुए (समणं) श्रमण (वा वि) अथवा (माहणं) ब्राह्मण (किविणं) कृपण (वा) अथवा (वणीमगं) दरिद्र कोई हो—

(तं) उसको (अइक्कमित्तु) उल्लंघन करके (संजए) साधु (न पविसे) गृहस्थ के घर में प्रवेश न करे तथा (चक्खु गोयरे) गृहस्वामी की आखों के सामने (न चिट्ठे) खड़ा भी न हो; किन्तु (एगंत) एकान्त स्थान पर (अवक्कमित्ता) अवक्रमण करके—जाकर के (तत्थ) वहां (चिट्ठिज्ज)

खड़ा होजावे (वि) अपि शब्द से, जिस समय कोई दान आदि देता हो, उसके सामने भी खड़ा न होवे ॥ १०-११ ॥

मूलार्थ—अन्न तथा पानी के वास्ते, गृहस्थ के द्वारपर अपने बराबर से जाते हुए या पहले से पहुँचे हुए—श्रमण, ब्राह्मण, कृपण तथा दरिद्र पुरुषों को लाँघकर साधु गृहस्थ के घरमें प्रवेश न करे तथा गृहस्वामी की आँखों के सामने भी खड़ा न होवे, किन्तु एकान्त स्थान पर खड़ा होजावे ॥ १०-११ ॥

भाष्य—साधु भिक्षार्थ गाँव में किसी गृहस्थ के यहाँ गया है। परन्तु वहाँ क्या देखता है कि घर के आगे द्वारपर श्रमण—बौद्ध आदि भिक्षु, ब्राह्मण, कृपण (जो धनी होते हुए भी कृपणता के कारण भिक्षा माँगता है) तथा दरिद्र आदि पुरुषों में से कोई खड़ा है। तो साधु उसको लाँघकर गोचरी के लिए घर में न जावे। और नाँही दान देते हुए गृहस्थ के सामने तथा भिक्षुकों के सामने खड़ा होवे। तो क्या करे, एकान्त स्थान में जहाँ किसी की दृष्टि न पड़तीहो—वहाँ जाकर खड़ा हो जावे।

लाँघकर न जाने और सामने न खड़ा होने का सामान्य कारण यह है कि—ऐसा करने से उन भिक्षुक लोगों के हृदय में द्वेष उत्पन्न होता है—उनके हृदय को बड़ी भारी ठेस पहुँचती है। किसी के हृदय को किसी प्रकार की ठेस पहुचाना मुनि वृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल है।

यहाँ प्रश्न होता है कि—घर में जो याचकों के होने पर साधु को एकान्त स्थान में खड़ा होने

की आज्ञा दी है—तो क्या इसका मतलब यह है कि-साधु आहार लिये बिना वापिस लौटे ही नहीं। जब तक याचक खड़े रहें तब तक वहीं पर छुपा हुआ खड़ा रहे और याचकों के जाते ही आहार ग्रहण करे?

उत्तर में कहना है कि—यह बात नहीं है। साधु वापिस लौट सकता है। वस्तुतः छुपकर खड़े रहने की अपेक्षा लौट जाना ही अच्छा है। यहाँ एकान्त में खड़े होने की जो आज्ञा दी है-वह विशेष कारण को लेकर दी है। यानी रोगादि के कारण से किसी ऐसा आहार पानी आदि वस्तु की आवश्यकता हो—जो उस समय उसी घर में मिलती हो—तब यहाँ एकान्त में खड़ा हो सकता है।

सूत्र में जो 'श्रमण' शब्द आया है। उससे यहाँ निर्ग्रन्थ आदि के प्रतिरूप शाक्य आदि मुनियों का ग्रहण है।

सूत्रगत "माहणं वावि" वाक्य में जो अपि शब्द आया है। वह सूचित करता है कि-सूत्र में पढ़े हुए ही श्रमण आदि पुरुषों को लाँघने की मनाई नहीं है बल्कि किसी प्रकार का कोई भी याचक सभी को लाँघने की मनाई है॥ १०-११॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, स्वयं याचकों को लाँघकर जाने का दोष कहते हैं—

वणीमगस्स वा तस्स, दायगस्सुभयस्स वा।

अप्पत्तिअं सिया हुज्जा, लहुत्तं पवयणस्स वा॥ १२॥

वनीपकस्य वा तस्य, दातुरुभयोवा ।
अप्रीति स्यात् भवेत्, कघुत्वं प्रवचनस्य वा ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—ऐसा न करने से (सिया) कदाचित् (तस्स) उस (वणीमगस्स) याचक को (वा) अथवा (दायगस्स) दातार को (वा) अथवा (उभयस्स) दाता और याचक दोनों को (अप्पत्तिअं) अप्रीति (वा) और (पवयणस्स) भगवत्प्रवचन की (लहुतं) लघुता (हुज्जा) होगी ॥ १२ ॥

मूलार्थ—याचकों को लाँघकर जाने से एकतो याचकों को-दाता को तथा याचक और दाता दोनों को अप्रीति होगी और आहत प्रवचन की लघुता निन्दा होगी ॥ १२ ॥

भाष्य—यदि साधु भिक्षार्थ द्वारपर खड़े हुए याचक लोगों को लाँघकर भीतर घर में आयगा तब एकतो साधु की तरफ से याचक और दाता दोनों को अप्रीति होगी। वे अवश्य सोचेंगे कि देखो, यह कैसा मुलमरा साधु है ! कैसे ऊपर तल पड़ता हुआ भीतर घुसा हुआ चला आता है ! क्या गाँव में अकाल पड़ रहा है ! क्या इसे और कहीं भिक्षा नहीं मिलती ? जो आँख मींचे-देखे न भाले-पोंढी अन्धे की तरह भीतर घिकता है।

दूसरे प्रवचन की लघुता होगी। देखने वाले कहेंगे कि जो भाई ! ये कैन साधु देखलो। कैसे लम्प शिरोमणि हैं ! यों नहीं कि माँगने वाले खड़े हैं, कुछ थोड़ा बहुत संतोष रक्खें। क्या इनके शास्त्रों का यही कथन है कि चाहे कुछ भी होता रहे-पस अपनी पेट पूर्ति तो करही लेनी चाहिए।

तीसरे-याचकों के दान के अन्तराय होने का दोष लगता है। क्योंकि भीतर घरमें जाने से, दातार गृहस्थ तो, साधु को दान देने लगजावगा और वे बिचारे याचक, दानाभाव से खिन्न चित्त हुए-निराश हुए, बस झांकते ही रहजायगे ॥ १२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, फिर आगे क्या करे? इस विषय में कहते हैं—

पडिसेहिए व दिन्ने वा , तओ तम्मि नियत्तिए ।
उवसंकमिज्ज भत्तट्ठा , पाणट्ठा एव संजए ॥ १३ ॥

प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा , ततः तस्मिन् निवर्तिते ।
उपसंक्रामेद् भक्तार्थं , पानार्थं वा संयतः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(दिन्ने) दान देने पर (व) अथवा (पडिसेहिए) सर्वथा निषेध कर देने पर (तओ) उस द्वार आदि स्थान से (तम्मि) उन याचकों के (नियत्तिए) लौट जानेपर (संजए) साधु (भत्तट्ठा) अन्न के वास्ते (वा) तथा (पाणट्ठाए) पानी के वास्ते, भीतर घर में (उवसंकमिज्जा) चला जावे ॥ १३ ॥

मूलार्थ—गृहस्वामी के द्वारा दान देने तथा निषेध कर देने के बाद, जब वे याचक लोग उस स्थान से लौट जायँ, तब साधु आहार पानी आदि के लिये उक्त घर में प्रवेश करे ॥ १३ ॥

भाष्य—संसार में माँगने वाले याचकों की दो ही गतियाँ होती हैं। क्या तो उदार चेता दातार गृहस्थ उनको प्रेम पूर्वक यथोचित दान देकर विसर्जन कर देता है। क्या कोई अनुदार चेता महाशय झिड़क-झिड़का कर एक-दो खरी-खोटी सुना सुनाकर बिना दिये ही विचारों को चलते कर देता है।

सो उपर्युक्त दोनों गतियों द्वारा, जब पूर्वोक्त द्वारस्थित याचक द्वार पर से लौट जावें, तब भावितात्मा साधु यत्न, पूर्वक उस घर में प्रवेश करे और जिस अन्न-पानी आदि वस्तु की आवश्यकता हो, वह यदि साधु—योग्य—विधि से मिले तो ग्रहण करे—नहीं तो नहीं।

भाव यह है कि—साधु की जो भी क्रिया हो, वह द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की सर्वतो मुखी दृष्टि से पूर्ण तथा शास्त्र संमत—शुद्ध ही हो। मन माने पथपर चलकर साधु को कोई काम करना उचित नहीं है। जहाँ मनमानी नीति चल जाती है, वहाँ अपने और दूसरों के विनाश की आशङ्का सर्वथा निश्चित है। शास्त्रीय परतंत्रता ही वास्तविक स्वतंत्रता है ॥ १३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, पर पीड़ा का निषेध करते हुए, वनस्पति अधिकार के विषय में कहते हैं—

उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं, तं च संलुंचिया दए ॥ १४ ॥

तीसरे-याचकों के दान के अन्तराय होने का दोष लगता है। क्योंकि भीतर घरमें जाने से, दातार गृहस्थ तो, साधु को दान देने लगजायगा और वे बिचारे याचक, दानाभाव से खिन्न चित्त हुए-निराश हुए, बस झांकते ही रहजायगे ॥ १२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, फिर आगे क्या करे ? इस विषय में कहते हैं—

पडिसेहिए व दिन्ने वा , तओ तम्मि नियत्तिए ।
उवसकमिज्ज भत्तट्ठा , पाणट्ठा एव संजए ॥ १३ ॥

प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा , ततः तस्मिन् निवर्तिते ।
उपसंक्रामेद् भक्तार्थं , पानार्थं वा संयत ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(दिन्ने) दान देने पर (व) अथवा (पडिसेहिए) सर्वथा निषेध कर देने पर (तओ) उस घर आदि स्थान से (तम्मि) उन याचकों के (नियत्तिए) लौट जानेपर (संजए) साधु (भत्तट्ठा) अन्न के वास्ते (वा) तथा (पाणट्ठाए) पानी के वास्ते, भीतर घर में (उवसकमिज्ज) चला जावे ॥ १३ ॥

मूलार्थ—गृहस्वामी के द्वारा दान देने तथा निषेध कर देने के बाद, जब वे याचक लोग उस स्थान से लौट जायँ, तब साधु आहार पानी आदि के लिये उक्त घर में प्रवेश करे ॥ १३ ॥

चन्द्र विकाशी श्वेत कमल को, मगदन्तिका—मालती पुष्प को, तथा अन्य भी ऐसे ही सचित्त पुष्पों को छेदन—भेदन करके आहार पानी देतो—

यह आहार पानी साधुओं को अकल्पनीय होता है। अत देने वाली से स्पष्ट कहदेना चाहिए कि-यह आहार पानी मेरे अयोग्य है, सो मैं नहीं ले सकता हूँ॥ १४—१५॥

भाष्य—इस गाथा में यह वर्णन है कि-जब साधु भिक्षा के लिये गृहस्थ के घर में आवे, तब वहाँ देखे कि-कोई स्त्री, नीलोत्पल कमल आदि सूत्र पठित सचित्त पुष्पों को छेदन-भेदन कर रही है। सो यदि वह (उपयुक्त पदार्थों का छेदन करती हुई) स्त्री आहार पानी देने लगे तो साधु को वह आहार-पानी नहीं लेना चाहिए और उसे कहदेना चाहिए कि-यह आहार पानी मेरे अयोग्य है। अतः मैं नहीं ले सकता।

कारण कि-ये नीलोत्पल आदि सचित्त पदार्थ जीव सहित होते हैं। अतः तद्गत जीवों को पीड़ा होती है। साधु वृत्ति, यत्न प्रधान होती है, अतः हरहालत में साधु को यत्ना का ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार आहार लेने से अयत्ना की वृद्धि स्वतः सिद्ध होती है।

साधु धर्म की अहिंसा का सम्बन्ध कुछ मनुष्य पशु, पक्षी, आदि जगत के जीवों से ही नहीं है। उसका सम्बन्ध तो संसारिक लोगों की स्थूल दृष्टि में, नगण्य जँचने वाले वनस्पति जगत के जीवों से भी है। वह सम्बन्ध भी किसी भेद भाव से नहीं, एक रूपसे है। साधु की, संसार के सभी छोटे-बड़े जीवों के साथ परम मैत्री है। जो मरते दम तक अक्षुण्ण बनी रहती है॥ १४—१५॥

त भवे भत्तपाण तु, सजयाण अकप्पिअ ।
दिंतिअ पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिस ॥ १५ ॥ [युग्मम्]

उत्पल पद्मं वाऽपि, कुमुद वा मगदन्तिकाम् ।
अन्यद्वा पुष्प सचित्त, तच्च संलुच्य दद्यात् ॥ १४ ॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, सयतानामकल्पिकम् ।
ददती प्रत्याचक्षीत, नमे कल्पते तादृशम् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(उप्पलं) नीलोत्पल कमल अथवा (पउमं) पद्म कमल (वावि) अथवा (कुमुअ) चन्द्रविकाशी श्वेत कमल (वा) अथवा (अन्न) अन्य कोई (पुप्फ सचित्त) सचित्त पुष्प हो (त) उसको (सलुंचिया) छेदन कर (दए) आहार पानी देवे–

(तु) तो (तं) वह (भत्तपाण) अन्न पानी (सजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है, अतः साधु (दिंतिअ) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि- (तारिस) इस प्रकार का आहार (मे) मुझे (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ १४ १५ ॥

मूलार्थ—यदि कोई दान देने वाली स्त्री, उत्पल-नील कमल को, पदम-रक्त कमल को, कुमुद

अन्य कोई (पुप्फ सचित्तं) सचित्त पुष्प हो (त) उसको (संमद्दिया) समर्दन करके (दए) आहार पानी देवे–

(तु) तो (त) वह (भत्तपाण) अन्न पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअ) अकल्पनीय (भवे) होता है अत (दितिअ) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का अन्न पानी (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ १६–१७ ॥

मूलार्थ—यदि कोई स्त्री पूर्वोक्त नीलोत्पल आदि सचित्त पुष्पों को, समर्दन करके–दल मल करके–आहार पानी देवे, तो साधु को वह आहार पानी नहीं लेना चाहिए और कह देना चाहिए कि यह आहार मेरे को अकल्पनीय है, अत बहन ! मैं नहीं लेसकता ॥ १६–१७ ॥

भाष्य—पूर्व सूत्र में जिस प्रकार छेदन करने के विषय में कहागया है, उसी प्रकार इस सूत्र में संमर्दन करने के विषय में कहा है। अर्थात् पूर्वोक्त उत्पल, पद्म आदि सचित्त पुष्पों को संमर्दन करके यदि कोई स्त्री आहार-पानी बहराने लगे, तो साधु को वह खाद्य पदार्थ नहीं लेना चाहिए।

न लेने का कारण वही है–जो पूर्व सूत्र के भाष्य में कहा जाचुका है। अर्थात्–ऐसी अवस्था में आहार लेने से एकेन्द्रिय जीवों की विराधना होने के कारण, प्रथम अहिंसा महाव्रत दूषित हो जाता है ॥ १६–१७ ॥

उत्पानिका—अब सूत्रकार, पूर्वोक्त पदार्थों को मर्दन करती हुई स्त्री से, आहार लेने का निषेध करते हैं—

उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं, तं च संमद्दिया दए ॥ १६ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १७ ॥ [युग्मम्]

उत्पलं पद्मं वाऽपि, कुमुदं वा मगदन्तिकाम्।
अन्यद्वा पुष्पं सचित्तं, तं च संमृद्य दद्यात् ॥ १६ ॥
तद्भवेद् भक्तं पानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—यदि दातार स्त्री, (उप्पलं) नीलोत्पल कमल (वा) अथवा (पउमं) पद्म कमल (वा) अथवा (कुमुअं) चन्द्र विकाशी कमल अथवा (मगदंतिअं) मालती के पुष्प (वा) अथवा (अन्नं)

अन्य कोई (पुष्फ सचित्त) सचित्त पुष्प हो (तं) उसको (संमद्दिया) समर्दन करके (दए) आहार पानी देवे–

(तु) तो (तं) वह (भत्तपाण) अन्न पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है अत (दिंतिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का अन्न पानी (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ १६–१७ ॥

मूलार्थ—यदि कोई स्त्री पूर्वोक्त नीलोत्पल आदि सचित्त पुष्पों को, समर्दन करके–दल मल करके–आहार पानी देवे, तो साधु को वह आहार पानी नहीं लेना चाहिए और कह देना चाहिए कि यह आहार मेरे को अकल्पनीय है, अतः बहन ! मैं नहीं ले सकता ॥ १६–१७ ॥

भाष्य—पूर्व सूत्र में जिस प्रकार छेदन करने के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार इस सूत्र में संमर्दन करने के विषय में कहा है। अर्थात् पूर्वोक्त उत्पल, पद्म आदि सचित्त पुष्पों को समर्दन करके यदि कोई स्त्री आहार-पानी पहराने लगे, तो साधु को वह दातव्य पदार्थ नहीं लेना चाहिए।

न लेने का कारण वही है–जो पूर्व सूत्र के भाष्य में कहा जा चुका है। अर्थात्–ऐसी अवस्था में आहार लेने से एकेन्द्रिय जीवों की विराधना होने के कारण, प्रथम अहिंसा महाव्रत दूषित हो जाता है ॥ १६–१७ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, पूर्वोक्त पदार्थों को मर्दन करती हुई स्त्री से, आहार लेने का निषेध करते हैं—

उप्पल पउम वावि, कुमुअ वा मगदंतिअ।
अन्न वा पुप्फ सच्चित्त, त च समद्दिया दए ॥ १६ ॥
त भवे भत्तपाण तु, सजयाण अकप्पिअ।
दितिअ पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥ १७ ॥ [युग्मम्]

उत्पल पद्म वाऽपि, कुमुद वा मगदन्तिकाम्।
अन्यद्वा पुष्प सचित्त, त च संमृद्य दद्यात् ॥ १६ ॥
तद्भवे भक्त पान तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददती प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—यदि दातार स्त्री, (उप्पलं) नीलोत्पल कमल (वा) अथवा (पउमं) पद्म कमल (वा) अथवा (कुमुअं) चन्द्र विकासी कमल अथवा (मगदंतिअं) मालती के पुष्प (वा) अथवा (अन्नं)

(तु) तो (त) यह (भत्तपाण) आहार पानी (मजयाण) साधुओं को (अकप्पिअ) अकल्प-नीय (भवे) होता है, अत (तारिस) इस प्रकार का आहार (मे) मुझे (न कप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ १८—१९ ॥

मूलार्थ—यदि कोई स्त्री, सूत्रोक्त नीलोत्पल आदि सचित्त पदार्थों को संघट्टन करके आहार पानी देवे, तो साधु न ले और देने वाली से कह दे कि-यह आहार पानी साधु के अयोग्य है, अतः मैं नहीं ले सकता ॥ १८-१९ ॥

भाष्य—इस सूत्र में—पूर्वोक्त नीलोत्पल आदि सचित्त पुष्पों को संघट्टन करके कोई स्त्री आहार पानी देने लगे, तो साधु को लेने का निषेध किया है। कारण यही है कि-सचित्त पदार्थों के संघट्ट से जीवों की विराधना होती है—उससे प्रथम महाव्रत दूषित होजाता है।

यहाँ एक बात और है, वह यह कि—जिस प्रकार इन सूत्रों में वनस्पति का अधिकार कहा गया है, ठीक उसी प्रकार अप्काय आदि के विषय में भी जान लेना चाहिए। यानी जितने भी सचित्त पदार्थ कहे गये हैं—उन सभी के संघट्ट से आहार पानी लेने का निषेध है।

जैन साधु, वनस्पति के समान ही जल और अग्नि आदि के जीवों की रक्षा का भी महान् प्रयत्न करते हैं। जीव रक्षा के विषय में, जितनी ही अधिक सावधानी रक्खी जायगी, उतनी ही अधिक सुन्दरता से समितियों की समाराधना हो सकेगी।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, पूर्वोक्त पदार्थों को संघट्टन करती हुई स्त्री से, आहार लेने का निषेध करते हैं–

उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं, तं च संघट्टिया दए॥ १८॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥ १९॥ [युग्मम्]

उत्पलं पद्मं वाऽपि, कुमुदं वा मगदन्तिकाम्।
अन्यद्वा पुष्पं सचित्तं, तं च संघट्य दद्यात्॥ १८॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम्॥ १९॥

अन्वयार्थ—कोई स्त्री, (उप्पलं) उत्पल कमल (वा) अथवा (पउमं) पद्म कमल (वा) अथवा (कुमुअं) चन्द्र विकासी कमल तथा (मगदंतिअं) मालती पुष्प (वा) अथवा (अन्नं) अन्य कोई (पुप्फ सच्चित्तं) सचित्त पुष्प हो (तं) उसको (संघट्टिया) संघट्टित करके (दए) आहार पानी देवे–

(उप्पलनालिअं) नीलोत्पल कमल की नाल को अथवा (मुणालिअं) कमल के तन्तु को अथवा (सासवनालिअं) सरसों की नाल को अथवा (उच्छुखंड) इक्षुखण्ड को (साधु ग्रहण न करे)॥२०॥

मूलार्थ—कमल का कन्द, पलाश का कन्द, श्वेत कमल की नाल, नील कमल की नाल, कमल के तंतु, सरसों की नाल, और गन्ने की गनेरियाँ-ये सब सचित्त पदार्थ, साधु को अग्राह्य हैं ॥ २० ॥

भाष्य—इस गाथा में यह वर्णन है कि—शालूक-कमल कन्द, विराली का-पलाश कन्द कुमुद नाल विकासी कमल की नाल उत्पल नालिका—नील कमल की नाल मृणालिका—कमल के तंतु, सर्षपनालिका—सरसों की नाल इक्षुखण्ड—गन्ने की गनेरियाँ आदि वनस्पति, जो सचित्त हैं-अप्रासुक हैं, वे साधु को किसी भी अवस्था में लेने योग्य नहीं हैं।

कारणकि- वनस्पतियों में किसी में असंख्यात और किसी में अनन्त जीव होते हैं। अतः सचित्त वनस्पति साधुओं के लिये सर्वथा अभक्ष्य है।

साधु, जब साधु वृत्ति धारण करता है, तब प्रथम अहिंसा महाव्रत धारण करते हुए तीन करण और तीन योग से, त्रस-स्थावर सभी जीवों की सभी प्रकार की हिंसा का परित्याग करता है ॥ २० ॥

उत्थानिका—फिर इसी विषय में कहाजाता है—

यह 'उप्पलं पउमं वावि'-और 'तंमवे भत्तपाणंतु'-१८—१९ गाथा युग्म, वृत्तिकार ने-टीका
आपने अपनी टीका में छोड़ दिया है। परन्तु लिखित प्रतियों में प्रायः यह गाथा पाई जाती है अतः
यहाँ पर भी उद्धृत करदी गई है।

वस्तुतः गाथाओं के परस्पर के सम्बन्ध की दृष्टि से इस गाथा का होना आवश्यक भी प्रतीत
होता है। क्योंकि— संलुंचिया -'संलुच्य और'- संमद्दिया' 'समृद्य' शब्दों के साथ 'संघट्टिया'
'संघट्य' का होना अतीव उचित है। अन्यथा विषय अधूरा सा रह जाता है।

तथा 'संघट्टा' शब्द जो सर्वत्र सुप्रसिद्धि में आया हुआ है। वह इसी गाथा के आधार पर
जान पड़ता है। इससे भी इस गाथा की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है ॥ १८—१९ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, फिर वनस्पति के ही विषय में कहते हैं—

सालुअं वा विरालियं, कुमुअं उप्पल नालिअं।
मुणालिअं सासवनालिअं, उच्छुखंडं अनिव्वुडं ॥ २० ॥

शालूकं वा विरालिकां, कुमुदमुत्पलनालिकाम्।
मृणालिकां सर्षपनालिकां, इक्षुखण्डमनिर्वृतम् ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(अनिव्वुडं) जो शस्त्र से परिणत नहीं है ऐसे (सालुअं) कमल के कन्द को (वा)
अथवा (विरालिअं) पलाश के कन्द को अथवा (कुमुअं) चन्द्र विकाशी कमल की नाल को अथवा

उत्थानिका—फिर इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है—

तरुणिअं वा छिवाडिं , आमिअं भज्जिअं सइं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे , न मे कप्पइ तारिसं ॥ २२ ॥

तरुणिकां वा छिवाडिं , आमिकां भर्जितां सकृत् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत , न मे कल्पते तादृशम् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—साधु को यदि कोई (तरुणिअं) तरुण जिसमें अभीतक बीज ठीक-ठीक न पके हों- ऐसी (छिवाडिं) मुद्ग-मूँग आदि की फली (आमिअं) कच्ची (वा) अथवा (सइं) एक बार की (भज्जिअं) भुनी हुई-देने लगे तो साधु (दिंतिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कह दे कि (तारिसं) इस प्रकार का आहार (मे) मुझे (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ २२ ॥

मूलार्थ—यदि कोई भावुक स्त्री, जिसमें अभीतक अच्छी तरह दाने न पके हों, ऐसी मूँग चौला आदि की फलियाँ-सर्वथा कच्ची अथवा एक बार की भुनी हुई-देने लगे तो साधु देने वाली से कह दे कि, यह आहार मुझे लेना नहीं कल्पता है ॥ २२ ॥

भाष्य—इस गाथा में यह कथन है कि—जो मूंग आदि की फलियाँ सर्वथा कच्ची हों-या एक

तरुणग वा पवाल , रुक्खस्स तणगस्स वा ।
अन्नस्स वावि हरिअस्स, आमग परिवज्जए ॥ २१ ॥

तरुणकं वा प्रवालं , वृक्षस्य तृणकस्य वा ।
अन्यस्य वाऽपि हरितस्य, आमकं परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—विशुद्ध-संयम धारी साधु (रुक्खस्स) वृक्षका (वा) अथवा (तणगस्स) तृणका (वावि) अथवा (अन्नस्स) अन्य किसी दूसरी (हरिअस्स) हरितकाय वनस्पतिका (आमगं) कचा (तरुणगं वा पवालं) नवीन प्रवाल (परिवज्जए) छोड़दे—ग्रहण न करे ॥ २१ ॥

मूलार्थ—वृक्ष का तृण का तथा अन्य किसी दूसरी वनस्पति का, तरुण प्रवाल (नईकुंपल) यदि कचा है—शस्त्र परिणत नहीं है तो मुनि उसे त्याग दे ॥ २१ ॥

भाष्य—इस गाथा में वृक्ष आदि सभी वनस्पतियों के नवीन प्रवाल के यानी उगते हुए नवीन अंकुर के—यदि वह सचित्त है—लेने का निषेध किया है। न लेने का कारण यही है कि—प्रथम अहिंसा महाव्रत का भङ्ग होता है।

यद्यपि पूर्व सूत्रों में शालूक आदि कन्दों का वर्णन किया जाचुका था, तथापि इस स्थान पर पल्लव (नूतन कुम्पल) का अधिकार होने से उन सभी का ग्रहण यहाँ पर भी होजाता है ॥ २१ ॥

उत्थानिका—फिर इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है—

तरुणिअं वा छिवाडिं, आमिअं भज्जिअं सइं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे, नमे कप्पइ तारिसं ॥ २२ ॥

तरुणिकां वा छिवाडिं, आमिकां भर्जितां सकृत् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—साधु को यदि कोई (तरुणिअं) तरुण-जिसमें अभीतक बीज ठीक-ठीक न पके हों- ऐसी (छिवाडिं) मुग्र-मूँग आदि की फली (आमिअं) कची (वा) अथवा (सइं) एक बार की (भज्जिअं) भुनी हुई-देने लगे तो साधु (दिंतिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कह दे कि (तारिसं) इस प्रकार का आहार (मे) मुझे (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ २२ ॥

मूलार्थ—यदि कोई भावुक स्त्री, जिसमें अभीतक अच्छी तरह दाने न पके हों, ऐसी मूँग चौंग आदि की फलियों-सर्वथा कची अथवा एक वार की भुनी हुई-देने लगे तो साधु देने वाली से कह दे कि, यह आहार मुझे लेना नहीं कल्पता है ॥ २२ ॥

भाष्य—इस गाथा में यह कथन है कि—जो मूग आदि की फलियाँ सर्वथा कची हों-वा एक

बार की भुनी हुई हों, उन्हें यदि कोई देने लगे तो साधु उसी समय उस देने वाले से कहदेकि—यह आहार सर्वथा मत्स परिपक्व-प्रासुक न होने से मुनि वृत्ति के सर्वथा अयोग्य है। अतः मैं इसे किसी भी तरह नहीं ले सकता।

गाथा में का 'छिवाडि' शब्द देशी प्राकृत का विदित होता है। क्यों कि—इसका संस्कृत रूप वृत्तिकार एवं कोषकार दोनों ही ने नहीं लिखा है। "छिवाडिमितिमुद्गादि फलिम्" इतिवृत्तिः। छिवाडि—( ) फली—शाकनीविशेष इति अर्द्धमागधी गुजराती कोश।

छिवाडी शब्द समुच्चय फलियों का वाचक है। अतः इससे मूंगकी फली चौलों की फली, चनों की फली (बूट) आदि सभी फलियों का ग्रहण हो जाता है।

एक बार की सिकी हुई फलियों के लेने का निषेध इसलिये किया है कि-एकबार के अग्नि के संस्कार से पूर्णतया पक्वता नहीं आती-कुछ न कुछ अपक्वता बनीही रहती है। सो सन्देह युक्त मिश्र भावोपेत पदार्थ साधु को कदापि नहीं लेना चाहिये॥ २२॥

उत्थानिका—अब, अपक्व बदरीफल आदि के विषय में कहते हैं—

तहा कोलमणुस्सिन्नं, वेलुअं कासवनालिअं।
तिलपप्पडगं नीमं, आमगं परिवज्जए॥ २३॥

तथा कोलमनुस्विन्नं, वेणुकं काश्यपनालिकाम्।
तिलपर्पटकं नीमं, आमकं परिवर्जयेत्॥ २३॥

अन्वयार्थ—(तहा) इसी प्रकार साधु, (अणुस्सिन्नं) अग्नि आदि से अपक्व (आमगं) कच्चे (कोलं) बदरी फल-(वेलुअं) वंशकरेला तथा (कासवनालिअं) श्रीपर्णी वृक्ष के फल, (तिलपप्पडगं) तिलपपट—तिल पापड़ी (नीमं) नीम वृक्ष के फल भी (परिवज्जए) छोड़दे ॥ २३ ॥

मूलार्थ—इसी प्रकार साधु को—बदरी फल, वंश करेला, श्रीपर्णी फल, तिलपापड़ी, और नीम की नींबोली आदि, अग्नि आदि शस्त्र से अपरिणत—कच्चे नहीं लेने चाहिएँ ॥ २३ ॥

भाष्य—जो बेर आदि फल, अग्नि और पानी के योग से विकारान्तर को प्राप्त नहीं हुए हैं, वे साधु को सर्वथा त्याज्य हैं।

कारणकि- कोई पदार्थ केवल अग्नि द्वारा पकाया जाता है और कोई पदार्थ अग्नि और पानी दोनों द्वारा पकाया जाता है। सो जो सचित्त फल, यथार्थ 'वह्न्युदक योगेना नापादित विकारान्तरम्' 'अग्नि और उदक के योग से विकारान्तर को प्राप्त नहीं हुए हैं वे साधु के सर्वथा लेने योग्य नहीं हैं। साधु, सचित्त पदार्थ का सर्वथा त्यागी होता है।

हिन्दी भाषा में 'अस्विन्न' शब्द का स्पष्ट अर्थ होता है—बिना रँधा। पाठक महोदय! सूत्र के प्रत्येक शब्द का भाव, जो स्पष्ट से स्पष्ट और सरल से सरल हो, उसे अपनी मातृभाषा द्वारा स्वयं गम करें। बिना मातृभाषा में, स्पष्ट भाव न जाने-यदि कार्य में प्रवृत्ति की जायगी तो वह अर्थ के स्थान-में अनर्थ को ही करने वाली होगी ॥ २३ ॥

बार की भुनी हुई हों, उन्हें यदि कोई देने लगे तो साधु उसी समय उस देने वाले से कहदे कि—यह आहार सर्वथा सम्यक् परिपक्व-प्रासुक न होने से मुनि वृत्ति के सर्वथा अयोग्य है। अतः मैं इसे किसी भी तरह नहीं ले सकता।

गाथा में का 'छिवाडि' शब्द देशी प्राकृत का विदित होता है। क्यों कि—इसका संस्कृत रूप वृत्तिकार एवं कोषकार दोनों ही ने नहीं किया है। "छिवाडिमितिमुद्गादि फलिम्" इतिवृत्तिः। छिवाडि—( ) फली—सांड्नीशाक इति अर्द्धमागधी गुजराती कोष।

छिवाडी शब्द समुच्चय फलियों का वाचक है। अतः इससे मूंगकी फली चौलों की फली, चनों की फली (बूट) आदि सभी फलियों का ग्रहण हो जाता है।

एक बार की सिकी हुई फलियों के लेने का निषेध इसलिये किया है कि—एकबार के अग्नि के संस्कार से पूर्णतया पक्वता नहीं आती कुछ न कुछ अपक्वता बनीही रहती है। सो सन्देह युक्त-मिश्र भावापेक्ष पदार्थ साधु को कदापि नहीं लेना चाहिये॥ २२॥

उत्थानिका—अब, अपक्व बदरीफल आदि के विषय में कहते हैं—

तहा कोलमणुस्सिन्न वेलुअ कासवनालिअ।

— ॥ २३॥

सूत्र में जो तसानिवुंत्त शब्द है, उसका अर्थ मिश्रित जल है। सो मिश्रित जल से दो अभिप्राय हैं। एक तो यह है कि- उष्ण जल बहुत देर का होकर मर्यादा से बहिर्भूत होकर फिर शीत भावको प्राप्त होगया हो अर्थात् सचित्त हो गया हो। दूसरा यह कि- कच्चा जल गर्म होने के लिये अग्नि पर तो रख दिया है, परन्तु शीघ्रता या अन्य किसी कारण वश अग्नि का भली भाँति स्पर्श हुये बिना मंदोष्ण ही उतार लिया हो। मंदोष्ण जल न तो सर्वथा सचित्त ही होता है और न सर्वथा अचित्त ही।

यद्यपि आटा कितने काल के पश्चात् अचित्त हो जाता है- इस प्रकार का स्पष्ट विधान किसी सूत्र में नहीं वर्णन किया गया है। तथापि परंपरा से एक मुहूर्त के पश्चात् अचित्त होना माना जाता है।

जिस प्रकार तत्काल के पीसे हुए आटे के लेने का निषेध है, इसी प्रकार उसके स्पर्श से अन्य पदार्थ लेने का भी निषेध है।

धोवन जल और तप्त शीतल जल के विषय में यह बात है कि- इन के ग्राह्य और अग्राह्य का निर्णय ऋतु के अनुसार बुद्धि से विचार करके करना चाहिए। इसी प्रकार सत्तों की खल के विषय में भी जान लेना चाहिए।

यदि उपर्युक्त सत्तुलपिंड आदि पदार्थों में जरा भी अप्रासुकता की आशङ्का होजाय, तो साधु को ये पदार्थ कदापि ग्रहण करने उचित नहीं है। आशङ्का युक्त पदार्थों के लेने से आत्मा में दुर्बलता आती है। और दुर्बलता आते ही आत्मा उन्नति पथ से गिर कर, पतन की ओर अग्रसर होती चली जाती है॥ २४॥

उत्थानिका—फिर इसी सचित्त विषय पर कहा जाता है—

तहेव चाउलं पिट्ठं, वियडं वा तत्तनिव्वुडं ।
तिलपिट्ठपूइपिन्नागं, आमगं परिवज्जए ॥ २४ ॥

तथैव तान्दुलं पिष्टं, विकटं वा तप्तानिर्वृतम् ।
तिलपिष्टं पूतिपिण्याकं आमकं परिवर्जयेत् ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(तहेव) उसी प्रकार (चाउलं) चावलों का (पिट्ठं) आटा तथा (वियडं) शुद्धोदक—धोवन (वा) अथवा (तत्तनिव्वुडं) तप्तानिर्वृतजल—जो उष्ण जल मर्यादा से बाहिर होने के कारण ठंडा होकर फिर सचित्त होगया है—अथवा मिश्रित जल (तिलपिट्ठं) तिलोंका आटा तथा (पूइपिन्नागं) सरसों की खली—ये सब कच्चे पदार्थ साधु (परिवज्जए) सर्वथा छोड़दे ॥ २४ ॥

मूलार्थ—उसी प्रकार चावलोंका आटा, शुद्धोदक, मिश्रित जल, तिलों का आटा, सरसों की खल—ये सब यदि कच्चे हों तो साधु कदापि न ले ॥ २४ ॥

भाष्य—इस गाथा में यह वर्णन किया गया है कि- चावलों का आटा, धोवन का जल मिश्रित जल, तिलों का आटा और सरसों की खल-ये सब यदि सर्वथा अचित्त न हुए हों तो साधु इन को वर्जे अर्थात् इन को ग्रहण न करे।

यहाँ शास्त्रकारने फलों का वर्णन करते करते जो साथही 'मूलग' और 'मूलगत्तिअं' शब्दों का उल्लेख किया है। वह कन्द मूल अनंतकाय पदार्थों के गुरुत्व स्थापनार्थ है। कन्द मूल—अनंत जीयात्मक होते हैं। अत: प्रत्येक वनस्पति फल फूल आदि की अपेक्षा, साधारण वनस्पति—कन्द मूल के भोजन में अत्यधिक पाप है।

यद्यपि यहाँपर कच्चा और अशस्त्र–परिणत पाठ है। तथापि धार्मिक जनता को बहुत पाप समझ कर कन्द मूल का समस्त रूप से परित्याग करना ही श्रेयस्कर है। तथा श्रावक–वर्ग को तो, विशेषतया कन्द मूल के भक्षण का परित्याग करना चाहिए॥ २५ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सचित्त फलादि चूर्णों के विषय में कहते हैं—

तहेव फलमंथूणि, बीयमंथूणि जाणिया।
विहेलगं पियालं च, आमगं परिवज्जए ॥ २६ ॥

तथैव फलमन्थून्, बीजमन्थून् ज्ञात्वा।
विभीतकं प्रियालं च, आमकं परिवर्जयेत् ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(तहेव) उसी प्रकार (आमगं) कच्चा–सचित्त (फलमंथूणि) बेदरी फल आदि का चूर्ण (बीय मंथूणि) यव आदि का चूर्ण (विहेलगं) बिभीतक फल (च) तथा (पियालं) प्रियाल

कविट्ठ माउलिंग च, मूलग मूलगत्तिअ ।

आम असत्थपरिणय, मणसावि न पत्थए ॥ २५ ॥

कपित्थ मातुलिंगं च , मूलक मूलकर्तिकाम् ।

आमामशस्त्रपरिणतां , मनसा पि न प्रार्थयेत् ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(आमं) अपक्व तथा (असत्थपरिणयं) अशस्त्र परिणत (कविट्ठं) कोठ फलकी (माउलिंगं) मातुलिङ्ग फलकी (मूलगं) मूली की (च) और (मूलगत्तिअं) मूल—कर्तिका की (मणसावि) मन से भी (नपत्थए) इच्छा न करे ॥ २५॥

मूलार्थ—मोक्षाभिलाषी साधु, कच्चे और अग्नि आदि शस्त्र से अपरिणत बिजोरा, मूली और मूल कर्तिका की मन से भी इच्छा न करे ॥ २५ ॥

भाष्य इस गाथा में भी फलों का ही वर्णन किया गया है । जैसे कि—कपित्थ फल बीज पूरक फल मूलक—कन्द और मूल कर्तिका-मूल कन्द—यदि वे सब कच्चे हों—स्वकाय तथा परकाय शस्त्र से अपरिणत हों, भली भांति अचित्त नहीं हुए हों तो साधु इनके ग्रहण करने की मन से भी चाहना न करे ।

यहाँ शास्त्रकारने फलों का वर्णन करते करते जो साथही 'मूलग' और 'मूलगत्तिअं' शब्दों का उल्लेख किया है। वह कन्द मूल अनन्तकाय पदार्थों के गुरुत्व ख्यापनार्थ है। कन्द मूल—अनन्त जीवात्मक होते हैं। अतः प्रत्येक वनस्पति फल फूल आदि की अपेक्षा, साधारण वनस्पति—कन्द मूल के भोजन में अत्यधिक पाप है।

यद्यपि यहाँपर कच्चा और अशस्त्र-परिणत पाठ है। तथापि धार्मिक जनता को बहुत पाप समझ कर कन्द मूल का समस्त रूप से परित्याग करना ही श्रेयस्कर है। तथा श्रावक-वर्ग को तो, विशेषतया कन्द मूल के भक्षण का परित्याग करना चाहिए ॥ २५ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सचित्त फलादि चूर्णों के विषय में कहते हैं—

तहेव फलमंथूणि, बीयमंथूणि जाणिया।
विहेलगं पियालं च, आमगं परिवज्जए ॥ २६ ॥

तथैव फलमन्थून्, बीजमन्थून् ज्ञात्वा।
बिभीतकं प्रियालं च, आमकं परिवर्जयेत् ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(तहेव) उसी प्रकार (आमगं) कच्चा-सचित्त (फलमंथूणि) बेदरी फल आदि का चूर्ण (बीय मंथूणि) यव आदि का चूर्ण (विहेलगं) बिभीतक फल (च) तथा (पियालं) प्रियाल

का फल इन सब को शास्त्र-विधि से सम्यक्तया (आणिया) जानकर (परिवज्जए) वर्जदेवे ॥ २६ ॥

मूलार्थ—इसी तरह भावितात्मा मुनि, बेर आदि फलों के चूर्ण—और जौ आदि बीजों के चूर्ण—बिभीतक फल और प्रियाल फल आदि को 'शास्त्रोक्त विधि से कच्चे जानकर ग्रहण न करे ॥ २६ ॥

भाष्य—इस गाथा में चूर्णों के विषय में प्रतिपादन किया गया है। जैसे कि—बदरी फल का चूर्ण (आटा) यव आदि बीजों का चूर्ण, बिभीतक फल (बहेड़ा का फल,) और प्रियाल फल आदि जो सचित्त हैं अर्थात् कच्चे हैं, उन सब को मुनि छोड़दे यानी ग्रहण न करे।

सूत्रकारने नाम लेले कर, बार बार जो यह वनस्पति का सविस्तर वर्णन किया है। सो प्रथम अहिंसा महाव्रत की रक्षा पर अत्यधिक जोर देने के लिये किया है। ग्रन्थकार को जब किसी विषय पर अधिक जोर देना होता है, तब वह उस विषय को बार बार फेर फार करके कहा करता है। अतः साहित्यक सज्जन यहाँ पुनरुक्ति दोष की आशङ्का न करें।

सूत्र में जो 'फलमंथूणी' शब्द आया है, वृत्तिकार उसका अर्थ 'बदर चूर्णान्' लिख कर बेरों का चून ऐसा अर्थ करते हैं। परन्तु यह अर्थ कुछ उपयुक्त नहीं जचता। क्योंकि सूत्र में बिना किसी विशेषता के केवल 'फल' शब्द आया है—उससे सभी प्रकार के फलों का ग्रहण होता है—एक बेर का ही नहीं। हाँ, बेर का ग्रहण उदाहरण के लिये अवश्य उपयुक्त है।

—सूत्र का संक्षिप्त शब्दों में सार यह है कि —जितने भी सचित्त चूर्ण हैं, व साधु को अग्राह्य हैं ॥ २६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, ऊँच—नीच कुलों में समान भावसे भिक्षा लाने के विषय में कहते हैं—

समुआण चरे भिक्खु , कुलमुच्चावयं सया ।
नीयं कुलमइक्कम्म , ऊसढं नाभिधारए ॥ २७ ॥

समुदानं चरेद्भिक्षुः , कुलमुच्चावचं सदा ।
नीचं कुलमतिक्रम्य , उत्सृतं नाभिधारयेत् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—(भिक्खू) साधु (समुआणं) शुद्ध—भिक्षा का आश्रयण करके (सया) सदा (उच्चावयं) ऊँच और नीच कुलों में (चरे) आहार के लिये जावे, परन्तु (नीयंकुल) नीच कुल को (अइक्कम्म) उल्लंघन करके (ऊसढं) ऊँचे कुल में (नाभिधारए) नहीं जावे ॥ २७ ॥

मूलार्थ—शुद्ध भिक्षार्थी साधु, ऊँच और नीच कुलों में समान भाव से सदा आहार के लिये जावे । परन्तु—सरस अरस आहार के विचार से धन हीन—नीच कुलों को लाँघकर—छोड़कर, धन सपन्न—ऊँचे कुलों में कदापि न जावे ॥ ७ ॥

भाष्य—इस गाथा में सन्तोष वृत्ति और कुल के विषय में प्रतिपादन किया है कि—जो साधु शुद्ध भिक्षा का अभिलाषी है (समुदान शब्द से यहाँ शुद्ध-भाव-भिक्षा का ग्रहण है) उसका कर्तव्य है कि—वह मार्ग में आये हुए, सभी ऊँच नीच कुलों में, समान भाव से प्रवेश करे। यह नहीं कि अच्छे स्वादिष्ट भोजन के लिये नीच कुलों को छोड़ता हुआ ऊँच कुलों की तलाश में आगे ही आगे बढ़ता रहे।

यदि कोई जिह्वा लोलुप साधु सूत्र के इस उपर्युक्त कथन के विपरीत कार्य करेगा—अर्थात् हीन कुलों को छोड़कर, ऊँच कुलों में ही जायगा, तो इससे जिन शासन की लघुता होगी। देखने वाले लोग कहेंगे कि—साधु होकर ऊपर से मुंह बाँध लिया, क्या हुआ, भीतर से जिह्वा तो नहीं बाँधी। यह तो ताजा माल उड़ाने के लिये-चट करने के लिये-बेचारी उछल-कूद कर रही है। साधुओं के यहाँ पर भी धनवानों की ही कदर है, बिचारे गरीबों की तो साधुओं के यहाँ भी पूछ नहीं।

यद्यपि इस स्थल पर सूत्र में केवल ऊँच-नीच कुल का सामान्यतया विधान किया है, तथापि वृत्तिकारों के एवं परम्परा के मत से विभवापेक्षया अर्थात् धन की अपेक्षा से ऊँच एवं नीच कुल का वर्णन किया जाता है। भाव यह है कि-जो कुल धनाढ्य हैं, उनकी ऊँच संज्ञा है। और जो कुल धन-हीन दरिद्र हैं, उनकी नीच संज्ञा है।

वास्तव में यह तात्पर्यार्थ है भी ठीक। क्योंकि सूत्रकार का संकेत सरस-अरस आहार की तरफ है। सो सरस आहार, धनसंपन्न कुलों में मिलता है और अरस आहार, धनहीन कुलों में। ऊँच नीच कुल का सीधे सादे शब्दों में स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि—जिस कुल में विशेष—

मनोऽभिलषित सुस्वादुपदार्थों की प्राप्ति होती है उस कुल की ऊँच संज्ञा है और जिस कुल में प्रायः असार-दु स्वादु भोजन मिलता है, उस कुल की नीच संज्ञा है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अदीन वृत्ति से आहार की गवेषणा करने के विषय में कहते हैं—

अदीणो विचिमेसिज्जा , न विसीइज्ज पडिए ।
अमुच्छिओ मोयणमि ,मायण्णे एसणा रए ॥ २८ ॥

अदीनो वृत्तिमेषयेत् , नविषीदेत्पण्डित ।
अमूर्च्छितो भोजने , मात्राज्ञ एषणारतः ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(पडिए) पण्डित साधु (अदीणो) दीनता से सर्वथा रहित होकर (विचि) प्राण निर्वाहक वृत्ति की (एसिज्जा) गवेषणा करे—यदि आहार न मिले तो (नविसीइज्ज) विषाद भी न करे, और (मोयणमि) सरस भोजन के मिलजाने पर उसमें (अमुच्छिओ) अमूर्च्छित रहे-अन्तिम बात यह है—(मायण्णे) आहार की मात्रा का जानने वाला प्रवीण मुनि (एसणारए) जो आहार सर्वथा निर्दोष हो—उसी में रत रहे ॥ २८ ॥

मूलार्थ—विद्वान साधु वही है—जो दीनता से रहित होकर, प्राण निर्वाहक आहार वृत्ति की गवेषणा करता है- जो आहार न मिलने पर, कभी खिन्न नहीं होता है-और जो सरस भोजन मिल

आने पर उस में मूर्छित नहीं होता है। वह आहार की मात्रा का ठीक–ठीक जानने वाला मुनि,
उसी आहार में रत रहता है, जो आहार शास्त्रोक्त विधि से सर्वथा शुद्ध यानी निर्दोष होता है॥ २८॥

भाष्य—संयम पालन के लिये प्राणों की कितनी भारी आवश्यकता है। यह किसी से छुपी
हुई नहीं है। सब कोई विचारशीलसज्जन इस बात को भली भाँति सिद्धान्त रूपेण जानते हैं।
अस्तु-प्राणों की रक्षा किससे होती है? आहार से। अतः संयमी का कर्तव्य है कि-शुद्ध
संयम पालन के लिये, शुद्ध आहार की ही गवेषणा करे दूषित आहार की कदापि इच्छा न करे।
परन्तु-गवेषणा के साथ एक बात और है-वह यह कि-चित्त में किसी प्रकार के दीनता के भाव
न आवे। क्योंकि दीनता के आजाने से शुद्ध आहार की गवेषणा नहीं हो सकती। फिर जैसे तैसे
बस पेट भरने की ही पड़ जाती है।

यदि कभी दीनता रहित वृत्ति के अनुसार आहार पानी नहीं भी मिले, तो साधु को चित्त में
खेद नहीं करना चाहिए। क्योंकि-साधु को मिलजाय तो वाह-वाह और न मिलजाय तो वाह-वाह।
दोनों दशा में आनन्द ही आनन्द है-दुःख की तो बात ही नहीं, फिर न मिलने में रंज कैसा?

साधु को रस-लोलुपी भी नहीं होना चाहिए। साधुता इसी में है कि जैसा कुछ जैसा
आहार मिले, उसी में सन्तोष करे। यह नहीं कि-आहार में कभी स्वादिष्ट पदार्थ मिलजायँ तो बस
उसीपर मूर्छित होजाय-और डींकने लगजाय-एवं अपनी, दान की तथा दातार की तारीफ़ के पुल

पोंघने लग जाय। यह साधु कैसा, जो सरस नीरस क अपवित्र विचार का अपने पवित्र हृदय में स्थान देता है।

साधु को भाहार की मात्रा का जिससे अच्छी तरह क्षुधा निवृत्ति होसके-विचार विमर्श के साथ पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए। क्योंकि जो साधु आहार की मात्रा का नहीं जानने वाला है वह या तो इतना थोड़ा आहार लायेगा जिससे क्षुधा निवृत्ति न हो सके और या इतना अधिक आहार लायेगा जिसे भूख की सीमा से बाहर होने के कारण गेरना पड़े। आहार की मात्रा के न जानने वाले मुनि से उद्गम दोष, उत्पादन दोष तथा एषणा के दोषों से रहित शुद्ध आहार की शुद्ध गवेषणा भी नहीं हो सकती।

सूत्रकार का भाव यह है कि जो साधु इस सूत्रोक्त क्रिया का पालक है, वही आत्म साधक हो सकता है—अन्य नहीं। जब साधु के भाव आहार में समभाव-सम हो जाते हैं, तब साधु की वास्तविक गम्भीरता बढ़ जाती है। जिससे फिर वह अपने आत्म कार्य में पूर्ण रूपेण तल्लीन होजाता है। तल्लीनता ही वस्तुतः कार्य की संसाधिका है॥ २८॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, आहार न देने वाले गृहस्थ के प्रति साधु, क्या भावना रक्खे ? यह कहते हैं—

बहु परघरे अत्थि, विविह खाइम साइम।
न तत्थ पण्डिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो न वा॥ २९॥

वाला मुनि, आहार की मात्रा का ठीक–ठीक जानने
जाने पर उस में मूर्छित नहीं होता है। वह आहार शास्त्रोक्त विधि से सर्वथा शुद्ध यानी निर्दोष होता है॥ २८॥
उसी आहार में रत रहता है, जो आहार

भाष्य—संयम पालन के लिये प्राणों की कितनी भारी आवश्यकता है। यह किसी से छुपी हुई नहीं है। सब कोई विचारशीलसज्जन इस बात को भली भाँति सिद्धान्त रूपेण जानते हैं।
अस्तु-प्राणों की रक्षा किससे होती है? आहार से। अतः संयमी का कर्तव्य है कि-शुद्ध संयम पालन के लिये, शुद्ध आहार की ही गवेषणा करे दूषित आहार की कदापि इच्छा न करे।
परन्तु-गवेषणा के साथ एक बात और है-वह यह कि-चित्त में किसी प्रकार के दीनता के भाव न लावे। क्योंकि दीनता के आजाने से शुद्ध आहार की गवेषणा नहीं हो सकती। फिर जैसे तैसे बस पेट भरने की ही पड़ जाती है।

यदि कभी दीनता रहित वृत्ति के अनुसार आहार पानी नहीं भी मिले, तो साधु को चित्त में खेद नहीं करना चाहिए। क्योंकि-साधु को मिलजाय तो वाह–वाह और न मिलजाय तो वाह-वाह। दोनों दशा में आनन्द ही आनन्द है-दुःख की तो बात ही नहीं, फिर न मिलने में रंज कैसा?

साधु को रस–लोलुपी भी नहीं होना चाहिए। साधुता इसी में है कि अच्छा बुरा जैसा आहार मिले, उसी में सन्तोष करे। यह नहीं कि–आहार में कभी स्वादिष्ट पदार्थ मिलजायं तो एस उसीपर मूर्छित होजाय–और डींगने लगजाय-एवं अपनी, दान की तथा दातार की तारीफ के पुल

बहु परगृहेऽस्ति, विविध खाद्य स्वाद्यम् ।
न तत्र पण्डितः कुप्येत्, इच्छा दद्यात् परो न वा ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—(परघरे) गृहस्थ के घर में (बहुं) बहुत (विविहं) नाना प्रकार के (खाइम) खाद्य तथा (साइम) स्वाद्य पदार्थ (अत्थि) होते हैं, यदि गृहस्थ साधु को वे पदार्थ न देवे तो (पंडिओ) विद्वान साधु (तत्थ) उस गृहस्थ पर (न कुप्पे) क्रोध नहीं करे, परन्तु—यह विचार करे कि- (परो) यह पर-गृहस्थ है इसकी (इच्छा) इच्छा हो तो (दिज्जा) देवे (वा) अथवा इच्छा न होतो (न) नहीं देवे मुझे इससे क्या ? ॥ २९ ॥

मूलार्थ—गृहस्थ के घर में, नाना प्रकार के खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ तैयार हैं । सो यदि गृहस्थ, साधु को ये पदार्थ नहीं देवे तो साधु को उस गृहस्थ पर क्रोध नहीं करना चाहिए—बल्कि विचारना चाहिए कि—यह गृहस्थ है, इसकी इच्छा है-दे न दे, मेरा इस में क्या ? ॥ २९ ॥

भाष्य—सन्तोषी साधु, भिक्षा के लिये गृहस्थों के घरों में गया । वहाँ उसने किसी गृहस्थ के घर में देखा कि—नाना प्रकार के खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ तैयार रक्खे हुए हैं ।

अस्तु—कभी गृहस्थ भिक्षा में ये पदार्थ नहीं देवे तो साधु को उस गृहस्थ पर किसी प्रकार का दुर्भाव नहीं करना चाहिए-प्रत्युत यही विचारना चाहिए कि-यह गृहस्थ है, इस की चीज है, चाहे दे

चाहे न दे। मैंने इसका कोई काम तो किया ही नहीं, जो मेरा इस पर कुछ अधिकार हो। यह दान में कुछ लाभ समझता है, तो देता है-नहीं समझता है, तो नहीं देता है-यह सब इसकी इच्छा की बात है।

इस प्रकार के शास्त्रीय विचारों से साधु, अपने हृदय को शान्त रक्खे-क्षुभित न होने दे। क्योंकि-क्रोध के करने से साधु का अमूल्य सामायिक व्रत नष्ट हो जाता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि कोई गृहस्थ प्रत्यक्ष रक्खी हुई भी वस्तु न दे, तो साधु को उसपर क्रोध नहीं करना चाहिए। यह कहते हैं-

सयणासणवत्थं वा , भत्तपाणं व संजए।
अदिंतस्स न कुप्पिज्जा , पच्चक्खेवि अ दीसओ ॥ ३० ॥

शयनासनवस्त्रं वा , भक्तं पानं वा संयतः।
अददतः न कुप्येत् , प्रत्यक्षेऽपिच दृश्यमाने ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ—(संजए) साधु (सयण) शयन (आसण) आसन (वत्थं) वस्त्र (वा) अथवा (भत्त) अन्न (वा) अथवा (पाण) पानी (अदिंतस्स) न देते हुए गृहस्थ के प्रति (न कुप्पेज्जा)

क्रोध न करे चाहे ये वस्तु (पच्चक्खेविअ) प्रत्यक्षमी (दीसओ) दिखती हों—यानी चौड़े आखों के सामने रक्खी हों ॥ २९ ॥

मूलार्थ—यदि गृहस्थ प्रत्यक्ष दिखते हुए भी शयन, आसन, वस्त्र और अन्न-पानी आदि पदार्थ न देवे, तो साधु उस गृहस्थ पर जरामी क्रोध न करे ॥ ३० ॥

भाष्य—भिक्षार्थ गये हुए साधु को यदि गृहस्थ सामने प्रत्यक्ष रक्खे हुए भी शयन-शय्या, आसन, पीठ फलक आदि, वस्त्र और अन्न पानी आदि पदार्थ नहीं देवे, तो साधु को उस देने वाले गृहस्थ पर क्रोध नहीं करना चाहिए। यानी मनमें यह भाव कभी नहीं लाना चाहिए कि—देखो यह गृहस्थ कैसा नीच है—कैसा कञ्जूस है, जो चौड़े सामने इतने पदार्थ रक्खे हुए हैं, फिर भी नहीं देता। बल्कि—हृदय को शान्त रखने के लिए यही भावना करनी चाहिए कि—साधु की वृत्ति याचना करने की है। देना न देना यह तो गृहस्थ के अधिकार की बात है। दान देने से गृहस्थ काही कल्याण होता है, साधु का तो कुछ नहीं। साधु का कल्याण तो अपनी ग्रहण की हुई संयम क्रियाओं के पालन सही होता है। अतः मेरी भोजन-वृत्ति संयम-क्रिया के अनुसार ही होनी चाहिए। इसी में कल्याण है ॥ ३० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वन्दना करने वाले स्त्री-पुरुषों से आहार की याचना नहीं करने के विषय में कहते हैं

इत्थिअ पुरुस वावि , डहर वा महल्लग ।
वंदमाण न जाइज्जा , नो अण फरुस वए ॥ ३१ ॥

स्त्रियं पुरुषं वाऽपि , डहर (तरुणं) वा महल्लकम् ।
वन्दमानं न याचेत् , न चैनं परुषं ब्रूयात् ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ—साधु (वंदमाणं) वन्दना करने वाले (इत्थिअ) स्त्रीजन से (वावि) अथवा (पुरुसं) पुरुष व्यक्ति से अथवा (डहर) तरुण—युवा से अथवा (वा) मध्यमवयवाले से अथवा (महल्लगं) वृद्ध से किसी प्रकार की (नजाइज्जा) याचना नहीं करे, और (अणं) इस आहार न देने वाले को किसी प्रकार का (फरुस) कठिन वचन भी (नवए) न बोले ॥ २१ ॥

मूलार्थ—साधु, वन्दना करने वाले स्त्री पुरुष आदि से, किसी प्रकार की याचना न करे। यदि कोई याचित वस्तु न देवे, तो साधु उसको कटुवाक्य भी न कहे ॥ २१ ॥

भाष्य—भिक्षा के लिये गाँव में गये हुए साधु को, जो कोई स्त्री, पुरुष, युवा, अधेड़, वृद्ध लोग वन्दना करें तो साधु उन से किसी प्रकार की भी याचना न करे। क्यों कि इस प्रकार याचना करने से, वन्दना करने वाले लोगों के हृदय से, साधुओं के प्रति भक्ति-भावना नष्ट होजाती है।

क्रोध न करे चाहे वे वस्तु (पच्चक्खेविअ) प्रत्यक्षमी (दीसओ) दिखती हों—यानी चौड़े आखों के सामने रक्खी हों ॥ २८ ॥

मूलार्थ—यदि गृहस्थ प्रत्यक्ष दिखते हुए भी शयन, आसन, वस्त्र और अन्न-पानी आदि पदार्थ न देवे, तो साधु उस गृहस्थ पर जरामी क्रोध न करे ॥ २० ॥

भाष्य—भिक्षार्थ गये हुए साधु को यदि गृहस्थ सामने प्रत्यक्ष रक्खे हुए भी शयन-शय्या, आसन, पीठ फलक आदि, वस्त्र और अन्न पानी आदि पदार्थ नहीं देवे, तो साधु को उस देने वाले गृहस्थ पर क्रोध नहीं करना चाहिए। यानी मनमें यह भाव कभी नहीं लाना चाहिए कि—देखो यह गृहस्थ कैसा नीच है—कैसा कंजूस है, जो चौड़े सामने इतने पदार्थ रक्खे हुए हैं, फिर भी नहीं देता। बल्कि—हृदय को शान्त रखने के लिये यही भावना करनी चाहिए कि—साधु की वृत्ति याचना करने की है। देना न देना यह तो गृहस्थ के अधिकार की बात है। दान देने से गृहस्थ काही कल्याण होता है, साधु का तो कुछ नहीं। साधु का कल्याण तो अपनी ग्रहण की हुई संयम क्रियाओं के पालन सही होता है। अतः मेरी भोजन-वृत्ति संयम-क्रिया के अनुसार ही होनी चाहिए। इसी में कल्याण है। ३० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वन्दना करने वाले स्त्री-पुरुषों से आहार की याचना नहीं करने के विषय में कहते हैं—

अन्वयार्थ—साधु (जो) जो गृहस्थ (न वंदे) वन्दना नहीं करे (से) उसपर (न कुप्पे) क्रोध नहीं करे—यदि राजा आदि महान पुरुष (वंदिओ) वन्दना करें तो (नसमुक्कसे) अहंकार न करे (एवं) इसी प्रकार (अन्नेसमाणस्स) जिनाज्ञा—प्रमाण चलनेवाले साधु का (सामण्णं) श्रामण्य—भाव (अणुचिट्ठइ) अखण्ड रहता है ॥ ३२ ॥

मूलार्थ—जो साधु वन्दना नहीं करने वालों से अप्रसन्न और राजा आदि महान् पुरुषों की वन्दना से प्रसन्न—नहीं होता, उसी साधु का चारित्र अखण्ड रहता है ॥ ३२ ॥

भाष्य—इस गाथा में साधु वृत्ति का सर्वोत्कृष्ट लक्षण प्रतिपादन किया है। जैसे कि—यदि कोई गृहस्थ, साधु को वन्दना नहीं करता है तो साधु को उसके ऊपर क्रोध नहीं करना चाहिए। क्योंकि गृहस्थ की इच्छा है—वन्दना करे या न करे। वन्दना करने से कुछ लाभ है तो गृहस्थ को ही है—साधु को तो कुछ है ही नहीं, उल्टा कभी नुकसान भले ही होजाय।

तथा यदि किसी राजा आदि द्वारा साधु का अत्यन्त सत्कार होता है अर्थात् किसी मुनि के प्रति राजा आदि लोग पूर्ण भक्ति दिखाते हैं और भक्ति भाव से नम्र हो उसके चरण कमलों का अपने मस्तक से स्पर्श करते हैं, तो उस समय मुनि को अहंकार नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार समभाव पूर्वक जिनाज्ञा के पालनेवाले मुनि का श्रामण्य (साधुत्व) अखण्ड रहसकता है। टीकाकार भी कहते हैं "अन्वेषमाणस्य भगवदाज्ञामनुपालयतः श्रामण्यमनुतिष्ठत्यखण्डमिति"

यदि कदाचित् कारण वश याचना करने पर, कोई वन्दना करने वाला निर्दोष आहार पानी नहीं देवे, तो साधु उसको कठिन वचन न बोले। जैसे कि—वृथा ते वन्दनम्, तेरी यह वन्दना वृथा है। भरे इस झूठी वन्दना में क्या धरा है। यह बगुला भक्ति मुझे अच्छी नहीं लगती। भाई तुमने थोथी वन्दना करने का तो खूब अभ्यास कर लिया पर कुछ देने का भी अभ्यास किया है।

किन्हीं प्रतियों में 'वन्दमाणं न जाएज्जा' के स्थान में 'वन्दमाणो न जाएज्जा' पाठ मिलता है। उसका अर्थ है कि-'वन्दमानो न याचेत् श्लाघ्याकरणेन' अर्थात् साधु गृहस्थ की स्तुति करके आहार-पानी नहीं ले। जैसे कि-यह गृहस्थ बड़ा ही भद्र है। इस के सदा यही भाव रहते हैं कि-साधु का पात्र यस भरही दूं—अपनी खाली न रक्खूं। क्यों न ऐसे भाव हों-आखिर तो निकट संसारी-मोक्ष गामी जीव हैं—आदि आदि।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वन्दना करने वाले और नहीं करने वाले—दोनों पर समान दृष्टि रखने को कहते हैं—

जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स, सामण्ण मणुचिट्ठइ ॥ ३२ ॥
यो न वन्दते न तस्मै कुप्येत्, वन्दितो न समुत्कर्षेत्।
एवमन्वेषमाणस्य, श्रामण्यमनुतिष्ठति ॥ ३२ ॥

गुरु न देख, इस लोभ पूर्ण घृणित विचार से प्राप्त हुए सरस आहार को नीरस आहार से ढांपता है ॥ ३३ ॥

भाष्य—कोई साधु भिक्षा के लिए गाँव में गया। वहाँ फिरते हुए किसी घर से उसे सरस और सुन्दर भोजन मिला। तब वह रस लोलुपी लोभी साधु उस सरस आहार को अन्त-प्रान्त-नीरस आहार से ढांप लेता है और मन में यह विचारता है कि—यह आहार अत्यन्त रूप में मुझे मिला है और बड़े कठिन परिश्रम से मिला है। सो यदि गुरु इसे देखलेंगे तो सम्भव है सबका सब स्वयं ही लेलें, मुझे कुछ भी न दें। मैं सब कुछ कर कराकर अन्त में मुँह देखता ही रह जाऊँ। अतः मुझे किसी रीति से इस आहार को छिपाना ही श्रेयस्कर है।

अस्तु-उपर्युक्त रीति से आहार के छिपाने का काम माया वृत्ति में शामिल है। अतः आत्मोन्नति की अभिलाषा रखने वाले, मुनियों का कर्तव्य है कि-वे भूलकर भी ऐसा जघन्य कार्य न करें।

यदि यहाँपर कोई आशङ्का करे कि—क्या सभी साधु ऐसा करते हैं, जो इस बात का सूत्रकार ने मुख्य रूप से उल्लेख किया है? उत्तर में कहना है कि—सभी साधु ऐसा नहीं करते। कोई अत्यन्त जघन्य भावों वाला ही ऐसा कार्य करता है। इसीलिए सूत्रकार ने 'एगओ' पद दिया है—जिसका अर्थ होता है 'कोई एक'।

सर्वोत्कृष्ट वृत्ति वाले साधु तो सरस-आहार पर समान भाव रखते हुए जैसा आहार मिलता है, उसे वैसाही रखते हैं-लोभ से अदल बदल नहीं करते ॥ ३३ ॥

रागवशाया के पाछने षाले मुनिकावी साधुत्व अखण्ड रहता है।

अतएव सिद्ध हुआ है कि—साधु, कमना-अकम्पना की कुछ परवा न करे और अपनी वृत्ति मे सम्यक्तया रहता हुआ संयम क्रिया साधन करे—जिससे पूर्णतया आत्म कल्याण होसके ॥ ३२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सरस आहार को गुरु श्री के समक्ष नही छिपाना चाहिए, यह कहते हैं—

सिआ एगइओ लद्धु, लोभेण विणिगूहइ।
मामेय दाइय संत, दट्ठुण सयमायए ॥ ३३ ॥

स्यादेको लब्ध्वा, लोभेन विनिगूहते।
मा ममेद दर्शितसत्, दृष्ट्वा स्वयमाददयात् ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ—(सिया) कदाचित् (एगइओ) कोई एक जघन्य साधु (लद्धुं) सरस आहार प्राप्त करके (लोभेण) लोभसे (विणिगूहइ) नीरस आहार के द्वारा सरस आहार को ढांपता है, क्योंकि—वह विचारता है कि—(मेय) यह मुझे मिला हुआ आहार यदि (दाइअ संतं) गुरु को दिखाया गया तो गुरु (दट्ठुण) देखकर (मा सयमायए) ऐसा न हो कि—स्वय ही ले लेवें मुझे न देवें ॥३३॥

मूलार्थ—वह एक जघन्य साधु है जो मति यह आहार गुरु श्री देख लेंगेतो स्वयं ही लेलेंगे

मुझ न देंगे, इस लोभ पूर्ण घृणित विचार से प्राप्त हुए सरस आहार को नीरस आहार से ढांपता है ॥ ३३ ॥

भाष्य—कोई साधु भिक्षा के लिये गाँव में गया। वहाँ फिरते हुए किसी घर से उसे सरस और सुन्दर भोजन मिला। तब वह रस लोलुपी लोभी साधु उस सरस आहार को अन्त-प्रान्त-नीरस आहार से ढांप लेता है और मन में यह विचारता है कि—यह आहार प्रत्यक्ष रूप में मुझे मिला है और बड़े कठिन परिश्रम से मिला है। सो यदि गुरु इसे देखलेंगे तो संभव है सबका सब स्वयं ही रखलें मुझे कुछ भी न दें। मैं सब कुछ कर कराकर अन्त में मुँह देखता ही रह जाऊं। अतः मुझे जिस किसी रीति से इस आहार को छिपाना ही श्रेयस्कर है।

अस्तु-उपर्युक्त रीति से आहार के छिपाने का कर्म माया वृत्ति में शामिल है। अतः आत्मोन्नति की अभिलाषा रखने वाले, मुनियों का कर्तव्य है कि-वे भूलकर भी ऐसा अधम्य कार्य न करें।

यदि यहाँपर कोई आशङ्का करे कि—क्या सभी साधु ऐसा करते हैं जो इस बात का सूत्रकार ने मुख्य रूप से उल्लेख किया है? उत्तर में कहना है कि—सभी साधु ऐसा नहीं करते। कोई अत्यन्त जघन्य भावों वाला ही ऐसा कार्य करता है। इसीलिए सूत्रकार ने 'एगइओ' यह पद दिया है— जिसका अर्थ होता है 'कोई एक'।

सर्वोत्कृष्ट वृत्ति वाले साधु तो सरस-आहार पर समान भाव रखते हुए जैसा आहार मिलता है, उसे वैसाही रखते हैं-लोभ से अदल बदल नहीं करते ॥ ३३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इस दुष्ट-क्रिया से क्या क्या दोष होते हैं? यह कहते हैं—

अत्तट्ठागुरुओ लुद्धो, बहु पाव पकुव्वइ ।
दुत्तोसओ अ सो होइ, निव्वाणं च न गच्छइ ॥ ३४ ॥

आत्मार्थगुरुको लुब्धः, बहुपापं प्रकरोति ।
दुस्तोषकश्च स भवति, निर्वाणं च न गच्छति ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(अत्तट्ठागुरुओ) जिसे केवल अपना स्वार्थ ही सबसे गुरु-बड़ा लगता है, ऐसा उदरभरि (लुद्धो) सुख-लोभी साधु (बहु पाव) बहुत अधिक पापकर्म (पकुव्वइ) करता है (अ) और (सो) वह (दुत्तोसओ) सन्तोष भाव से रहित (होइ) होजाता है। ऐसा साधु (निव्वाणंच) निर्वाण-मोक्ष भी (नगच्छइ) नहीं प्राप्त कर सकता है ॥ ३४ ॥

मूलार्थ—जिसे केवल अपना ही पेट भरना आता है, ऐसा पूर्व सूत्रोक्त रसलोलुप साधु, बहुत अधिक पाप कर्म का बन्ध करता है। यही नहीं, यह असन्तोषी, निर्वाण पद भी नहीं प्राप्त कर सकता ॥ ३४ ॥

भाष्य—इस भाष्य में पूर्व सूत्रोक्त पाप क्रिया करने वाले साधु के दोनों लोकों में निम्नलिखित

जो साधु जिह्वा लोभ के वशी भूत होकर सरस आहार के छिपाने की चेष्टा करता है, वह साधु साधु नहीं असाधु शिरोमणि है। वह केवल अपना ही पेट भरने का ध्यान रखता है। दूसरे गुरु जनों के विषय में उस कुछ भी भक्ति भावना नहीं है।

ऐसा लालची साधु, जरा से भोजन सुख के कारण अनंत संसार बढ़ाकर तीव्र पाप कर्म का बंधन करलेता है-जिससे फिर वह चिरकालतक नाना प्रकार के एक से एक दुःख भोगता है जीभ की गुलामी करने वाला साधु चाहे जैसी कठिन से कठिन क्रियाएं करे, पर क्रियाओं का फल जो मोक्ष है वह उसे नहीं मिलता।

यह ऊपर पारलौकिक दोषों का कथन किया है। ऐहलौकिक दोष यह है कि-ऐसा रस लम्पटी साधु कदापि धैर्यवान नहीं हो सकता। भला जो एक भोजन जैसी मामूली चीज पर मूर्छित होकर विकल होजाता है वह कैसे अन्य संकटों के समय दृढ रह सकेगा?

ऐसी आत्माएं तो बस गिरती-गिरती अन्त में गिरही जाती हैं। इनके उभरने का काम फिर बड़ा ही मुश्किल हो जाता है। खेद है ऐसे क्षुद्र मनोवृत्ति वाले-मनुष्य नाम धारी सज्जन काम पड़ने पर जीभके लिये बड़े से बड़े अकृत्य करने को सहसा तैयार हो जाते हैं। गिरावट ही हुई तो फिर गिरावट की क्या सीमा है? कुछ नहीं।

कहने का तात्पर्य यह है कि—उन्नति की आशा रखने वाले साधुओं का दृढ कर्तव्य है कि—वे अपने आपको गिराने वाली-प्रस्तुत सुश्लोक जैसी प्रारम्भ में नगण्य जचने वाली और अन्त में सर्वनाश

का भयंकर रूप दिखाने वाली—बातों पर पूरा-पूरा ध्यान दें। ऐसी बातों पर उपेक्षा के भाव रखने से सच्ची साधुता नहीं टिक सकती ॥ ३४ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, परोक्ष चोरी करने वाले, यानी सरस आहार को मार्ग में खालेने वाले साधुओं का जिक्र करते हैं—

सिआ एगइओ लद्धु , विविह पाणभोयण ।
भद्दग भद्दग भोच्चा , विवन्न विरसमाहरे ॥ ३५ ॥

स्यादेको लब्ध्वा , विविध पान भोजनम् ।
भद्रक भद्रक भुक्त्वा , विवर्ण विरस माहरेत् ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(सिआ) कदाचित् (एगइओ) कोई एक साधु (विविहं) नाना प्रकार के (पाण भोयणं) अन्न और पानी को (लद्धुं) प्राप्त कर (भद्दग भद्दगं) अच्छा-अच्छा (भुच्चा) खाकर (विवन्नं) वर्ण रहित एवं (विरसं) रस रहित निकृष्ट आहार (आहरे) उपाश्रय में ले आवे ॥ ३५ ॥

मूलार्थ—कोई विचार मूढ़ साधु ऐसा भी करता है कि—भिक्षा में नाना प्रकार का भोजन पानी मिलने पर अच्छे अच्छे सरस पदार्थ तो कहीं कहीं इधर-उधर बैठकर खा पी लेता है और

अवशिष्ट विवर्ण एवं विरस आहार उपाश्रय में लाता है ॥ ३५ ॥

भाष्य—साधु संघ एक समुद्र है। इसमें भाँति-भाँति की मनोवृत्ति वाले साधु होते हैं। कोई अच्छा होता है तो कोई बुरा। कोई लालची होता है तो कोई सन्तोषी। कोई कैसा है तो कोई कैसा होता है। बात यह है कि—अच्छों के साथ बुरे लगे हुए हैं।

यद्यपि सूत्रकारों ने उसी मनुष्य को साधु बनाने के लिये लिखा है जो भद्र हो, जो सन्तोषी हो जो सभी तरह पवित्र हो। फिर भी सर्वज्ञता के अभाव से, पवित्र साधु संघ में अपवित्र—पतित आत्माएं यदा कदा आकर घुस ही जाती हैं।

ऐसेही पतित आत्माओं को शिक्षा देने के लिये, सूत्रकार कहते हैं कि— भिक्षा के लिये गाँव में गये हुए किसी क्षुद्र बुद्धि साधु को, भाँति-भाँति के सरस नीरस भोजन पदार्थ मिले। सरस पदार्थ के देखते ही साधु के मुंह में पानी भर आता है और विचार करता है कि—यदि मैं, यह सब आहार उपाश्रय में गुरु के समीप ले गया तो, संभव है—यह सरस पदार्थ मुझे मिले या न मिले-नहीं मिलेतो मैं क्या करूंगा? बस ताकता ही रह जाऊंगा। अतः यही अच्छा है कि-मैं अच्छे-अच्छे पदार्थ यहीं खालूं और बचा हुआ विवर्ण रूपरंग रहित और विरस स्वादुता रहित भोजन उपाश्रय में ले चलूं।

अस्तु—इस विचार को कार्य रूप में परिणत करने वाला—यानी अच्छे अच्छे पदार्थ कहीं खाकर बुरे-बुरे पदार्थ उपाश्रय में लाने वाला साधु, ऐसा क्यों करता है और उसकी क्या अवस्था होती है? यह अग्रिम सूत्रों में सूत्रकार स्वयं वर्णन करेंगे।

सूत्र में जो 'भद्दगं भद्दगं' 'भद्रक भद्रक' शब्द लिखा है, उसका स्पष्ट भाव यह है कि—वे पदार्थ जो सब प्रकार से भद्र हैं अर्थात् कल्याण कारी हैं बल वर्द्धक हैं। इसके विपरीत विवर्ण और विरस संभवता प्रसिद्ध है ही ॥ ३५ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वह इस प्रकार क्यों करता है? यह कहते हैं—

जाणंतु ताइमे समणा, आययट्ठी अयं मुणी।
संतुट्ठो सेवए पंतं, लूहवित्ती सुतोसओ ॥ ३६ ॥

जानन्तु तावदिमे श्रमणा, आयतार्थी अयं मुनिः।
सन्तुष्टः सेवते प्रान्तं, रूक्षवृत्तिः सुतोष्यः ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ—(इमे) ये उपाश्रयस्थ (समणा) साधु (तु) निश्चयही (ता) प्रथम (जाणंतु) मुझे जान कि (अयं) यह (मुणी) मुनि (संतुट्ठो) सन्तोष वृत्ति वाला है, इतना ही नहीं किन्तु (सुतोसओ) अन्त प्रान्त आहार के मिलने पर भी सदा ही सन्तोष वाला है तथा (लूहवित्ती) रुक्षवृत्ति वाला भी है, जो (पंतं) इस प्रकार के असार पदार्थों का (सेवए) सेवन करता है— भोजन करता है, अस्तु (आययट्ठी) यह मुनि सच्चा मोक्षार्थी है ॥ ३६ ॥

मूलार्थ—यह रस लम्पटी साधु, एम भाव रखता है कि—ये अन्य उपाश्रयी साधु मुझे प्रतिभावी

सूत्र में जो 'भद्दगं भद्दगं' 'भद्रकं भद्रकं' शब्द लिखा है, उसका स्पष्ट भाव यह है कि—वे पदार्थ जो सब प्रकार से भद्र हैं अर्थात् कल्याण कारी हैं बल वर्धक हैं। इसके विपरीत विवर्ण और विरस संभवतः प्रसिद्ध है ही ॥ ३५ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वह इस प्रकार क्यों करता है ? यह कहते हैं—

जाणंतु ताइमे समणा, आययट्ठी अयं मुणी।
संतुट्ठो सेवए पंतं, लूहवित्ती सुतोसओ ॥ ३६ ॥

जानन्तु तावदिमे श्रमणाः, आयतार्थी अयं मुनिः।
सन्तुष्टः सेवते प्रान्तं, रूक्षवृत्तिः सुतोष्यः ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ—(इमे) ये उपाश्रयस्थ (समणा) साधु (तु) निश्चयही (ता) प्रथम (जाणंतु) मुझे जान कि (अयं) यह (मुणी) मुनि (संतुट्ठो) सन्तोष वृत्ति वाला है, इतना ही नहीं किन्तु (सुतोसओ) अन्त प्रान्त आहार के मिलने पर भी बड़ा ही सन्तोष वाला है तथा (लूहवित्ती) रूक्षवृत्ति वाला भी है, जो (पंतं) इस प्रकार के असार पदार्थों का (सेवए) सेवन करता है— भोजन करता है, अस्तु (आययट्ठी) यह मुनि सच्चा मोक्षार्थी है ॥ ३६ ॥

मूलार्थ—यह रस लम्पटी साधु, ऐसा भाव रखता है कि—ये अन्य उपाश्रयी साधु मुझे प्रतिष्ठाकी

अस्तु- उपर्युक्त गंदी इच्छाएँ करने वाला संयमी, प्रधान संक्लेश योग से अत्यन्त भारी पाप कर्मों का बंधन करलेता है। इतनाही नहीं, वह उस माया रूप शल्य को भी करलेता है-जिसके होने से यह जीव अनन्त काल पर्यंत संसार चक्र में इधर से उधर गेंदकी तरह मारा-मारा परिभ्रमण करता रहता है और वास्तविक स्थान मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

अतएव मोक्षाभिलाषी मुनियों का कर्तव्य है, कि वे उक्त छल प्रपंच की क्रिया न करें। यदि कभी प्रमाद वश करने में आगई होतो गुरुओं के समक्ष उस की स्पष्टता से सम्यगालोचना करके आत्म-विशुद्धि करें। इसी में सच्ची साधुता है ॥ ३० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद्यपान का निषेध करते हैं—

सुरं वा मेरगं वावि, अन्नं वा मज्जगं रसं।
ससक्खं न पिबे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो ॥ ३८ ॥

सुरां वा मेरकं वाऽपि, अन्यं वा माद्यं रसं।
ससाक्षिकं न पिबेद्भिक्षुः, यशः संरक्षन्नात्मनः ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(भिक्खू) साधु (अप्पणो) अपने (जसं) संयम की (सारक्खं) रक्षा करता हुआ (ससक्खं) जिसके परित्याग में, केवली भगवान् साक्षी हैं ऐसी (सुरं) पिष्ट आदि से तैयार की गई

पूयणट्ठा जसाकामी, माणसम्माणकामए ।
वहु पसवई पाव , मायासल्लं च कुव्वइ ॥ ३७ ॥

पूजार्थं यशस्कामी , मानसंमानकामुक
बहु प्रसूते पापं , मायाशल्यं च करोति ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थ—यह (पूयणट्ठा) पूजाका चाहने वाला (जसोकामी) यशका चाहने वाला तथा (माणसम्माणकामए) मान-सम्मानका चाहने वाला साधु (बहुंपावं) बहुत पाप कर्मों को (पसवई) उत्पन्न करता है (च) तथा (माया सल्लं) माया रूपी शल्य भी करता है ॥३७॥

मूलार्थ—पूजा, यश और मान—सम्मान की झूठी कामना करने वाला, पूर्व सूत्रोक्त क्रिया कारक साधु, अत्यन्त भयकर पापकर्मों को तथा मायारूपी शल्य को समुत्पन्न करता है ॥ ३७ ॥

भाष्य—इस गाथा में इस बात का वर्णन है कि—साधु, पूर्वोक्त छल रूप क्रियाएं जो करता है, वह अपने मन में यही समझ कर करता है कि—इससे मेरी स्वपक्ष में तथा पर पक्ष में सामान्य रूप से पूजा प्रतिष्ठा हो जायगी। लोग कहेंगे कि—आश्चर्य है। यह साधु, कैसी कठिन क्रियाएँ कर रहा है। क्या है, शरीर को मिट्टी कर रक्खा है। तथा इस प्रकार तपस्या में परिपुष्ट होकर मेरा वन्दना अभ्युत्थान रूप-मान और वस्त्र पात्रादि सत्कार रूप-सम्मान भी करेगा।

होता है कि वह अपने चतुर सेना नायक की तमाम आज्ञाओं का पालन करे। यह नहीं कि कुछ का तो पालन करे और कुछ का नहीं। साधु भी धर्म युद्ध का एक सैनिक है। अतः उसे भी अपने सेनापति रूप, पथप्रदर्शक महा पुरुषों की सभी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। यह कौनसी बात कि— अन्य आज्ञाएं तो पालन करता रहे और मादक द्रव्य प्रतिषेध की आज्ञा को मन मानी नीतिसे नष्ट भ्रष्ट करता रहे। जो सैनिक सेना पति की एक भी आज्ञा की अवहेलना करता है, उसका जीवन खतरे में है—यह ध्रुव धारणा प्रत्येक सैनिक के हृदय में निश्चय के वज्र लेख से अङ्कित रहनी चाहिए।

मादक द्रव्य के प्रतिषेध में टीकाकार भी यही कहते हैं सचाक्षिकं सदा परित्याग साक्षिकेवलि प्रतिषिद्ध न पिबन्द्भिक्षुः।

टीकाकार आगे चलकर इस सूत्रकी व्याख्या के अन्त में ऐसा भी लिखते हैं कि-यह सूत्र ग्लाना पवाद विषयक है, ऐसा अन्य आचार्य मानते हैं। तथा च पाठः— "अन्यतु ग्लानापवाद विषयमेतत्सूत्र मल्प सागारिक विधानेन व्याचक्षते। परन्तु अन्य आचार्यों का यह कथन सर्वथा विपरीत होने से सूत्र सम्मत नहीं है—अतः मान्य नहीं है। सूत्रकार के शब्दों से इस अपवाद की कहीं भी ध्वनि नहीं निकलती।

टीकाकार हरिभद्र सूरिभी अन्य आचार्यों के इस विपरीत मत से किंचित् भी सहमत नहीं है। उन्हों ने जो यहाँ अपनी टीका में इस मतका उल्लेख किया है, वह अपने टीकाकारके पदको अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए किया है। अन्य शब्द देकर टीकाकार स्पष्टतः कहते हैं कि—ऐसा और कोई

मदिरा (वा) अथवा (मेरगं) प्रसन्नाख्या मदिरा (वि) अपि शब्द से नाना प्रकार की मदिराएँ तथा (अन्नं) सुरा प्रायोग्य द्रव्य से उत्पन्न (मज्जग रसं) मादक रस सीधु आदि रूप—इन सब को (नपिवे) नहीं पीवे ॥ ३८ ॥

मूलार्थ—आत्म संयमी साधु—अपने संयम-रूप विमल यश की रक्षा करता हुआ, जिसके त्याग में सर्वज्ञ भगवान् साक्षी हैं ऐसे सुरा, मेरक आदि नाना विध मादक द्रव्यों का सेवन (पान) न करे ॥ ३८ ॥

भाष्य—साधु को यदि अपने संयम का विमल यश की सर्वथा रक्षा करनी है तो उसे मादक द्रव्यों का सेवन कभी नहीं करना चाहिए। क्योंकि-संयम ग्रहण करते समय सर्वज्ञ भगवान की साक्षी से मादक द्रव्यों के सेवन का सर्वथा परित्याग किया जाता है। सर्वज्ञ भगवान् त्रिकाल दर्शी हैं। अतः जिसके सामने पहले तो छाती तानकर प्रतिज्ञा करना और फिर उसी के सामने प्रतिज्ञा का भंग करना-कितना पशुता का कार्य है? ऐसे भी अधम को मनुष्य कह सकते हैं? मनुष्य वही है जिसके हृदय में अपनी बात की लज्जा है।

तथा मादक द्रव्यों का इस लिए भी सेवन नहीं करना चाहिए कि-वीतरागी केवल-ज्ञानी महात्माओं ने मादक द्रव्य के सेवन का पूरा-पूरा प्रतिषेध किया है। महान् ज्ञानी पुरुषों द्वारा प्रतिषिद्ध वस्तु के सेवन करने का अर्थ होता है—उन प्रतिषेधक पुरुषों का अपमान करना। सैनिक का कर्तव्य

मूलार्थ—गुरु कहते हैं-हे शिष्यो! जो साधु धर्म से विमुख होकर, एकान्त स्थान में छिपकर मद्यपान करता है और समझता है कि—मुझे यहाँ छिपे हुए को कौन देखता-भालता है, वह भगवदाज्ञा का लोपक होने से परले सिरे का चोर है। उस मायाचारी के प्रत्यक्ष दोषों को तुम स्वय देखो और अदृष्ट मायारूप दोषों को मेरे से श्रवण करो ॥ ३९ ॥

भाष्य—गुरु भी, शिष्यों को धर्मोपदेश करते हुए धर्म भ्रष्ट, मद्यपानी साधु के विषय में कहते हैं—हे शिष्यो! यदि साधु मद्यपान करता है, तो सदा हितैषी धर्म रूपी मित्र का साथ छोड़ देता है-उस से विरुद्ध होजाता है। जब तक धर्म मित्रका साथ बना रहता है, तब तक तो साधु से किसी भी काल में ऐसे निन्दनीय दुष्कृत्य नहीं होसकते। अतः धर्म से विमुख होना बड़ाही बुरा है। धर्म से विमुख होना मानों अपने आत्मतत्त्व से विमुख होना है।

अस्तु-ऐसा धर्म विमुख-नाम धारी-साधु, मद्यपानार्थ एकान्त गुप्तस्थान में छिपा हुआ यह विचार किया करता है कि-मद्यपान में और कुछ डरतो है ही नहीं। हाँ डर है तो यह एक अपयश का है। सो मैं ऐसे गुप्तस्थान में हूँ कि मुझे कोई नहीं देख सकता। लोग देखेंगे जभीतो अपयश होगा वसे तो होने से रहा।

अस्तु-इस प्रकार के भ्रमित विचार से मद्यपीने वाले साधु की चोर संज्ञा है। सो इस चोर बुद्धि वाले मायावी साधु के सभी निन्दनीय दोषों को-अयि धर्म प्रिय शिष्यो! तुम स्वय देखो, विचारो और उसकी छल क्रिया आदि का वर्णन मुझसे सुनो।

मानते हैं – हम नहीं। हमें तो बिना किसी अपवाद के एक रूपसे ही सर्वथा प्रतिषेध करना अभीष्ट है। देखिए, सप्तम प्रतिपत्र में स्वयं टीकाकार के वाक्य 'अनेन सर्वथा प्रतिषेध उक्तः सदासाक्षिभावात्'। इस गाथा में मद्यपान का सर्वथा निषेध किया है, क्यों कि—इस परित्याग में भगवान् की सदा साक्षी है।

अतः युक्ति—युक्त सिद्ध हुआ कि अन्य आचार्यों का यह अपवाद विषयक कथन, सूत्र सम्मत न होने से किसी भी अंश में प्रमाण भूत नहीं है ॥ ३८ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद्यपान के दोष बतलाते हैं—

पियए एगओ तेणो , न मे कोइ वियाणइ ।

तस्स पस्सह दोसाइं , नियडिंच सुणेह मे ॥ ३९ ॥

पिबति एककः स्तेन , न मां कश्चिदपि जानाति ।

तस्य पश्यत दोषान् , निकृतिं च शृणुत मम ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—(एगओ) धर्म से रहित वा एकान्तस्थान में (तेणो) भगवदाज्ञा लोपक चोर साधु (पियए) मद्य पीता है और मनमें यह विचारता है कि—मैं यहाँ ऐसा छिपा हुआ हूँ (मे) मुझे (कोइवि) कोईभी (न याणइ) नहीं जानता-नहीं देखता, अस्तु हे शिष्यो! तुम स्वयं (तस्स) उस मद्य पानी के (दोसाइं) दोषों को (पस्सह) देखो (च) और उसकी (नियडिं) मायारूप-निकृति को (मे) मेरे से (सुणेह) सुनो ॥ ३९ ॥

उसका अपयश भी सर्वत्र फैल जाता है (च) फिर सततमदिरापान के अभाव से (अनिव्वाणं) अतृप्ति की भी वृद्धि हो जाती है। किं बहुना मद्य पानी की (सययं) निरंतर (असाहुआ) असाधुता ही बढती रहती है ॥ ४० ॥

मूलार्थ—मद्य पानी साधु के—लोलुपता, छल-कपट, झूठ, अपयश, और अतृप्ति आदि दोष बढते जाते हैं। यानि उसकी निरंतर असाधुता ही असाधुता बढती रहती है-साधुता का तो नाम भी नहीं रहता ॥ ४० ॥

भाष्य—मद्य समस्त दुर्गुणों का आश्रय स्थान है ऐसा कौनसा दुर्गुण है, जो मद्य पानी में नहीं आता। जिन सज्जनों की इच्छा—सब दुर्गुणों को एक ही स्थान पर देखने की हो-वे शौक से देखें सूत्रकार उन्हें मद्य पानी में दिखलाते हैं—

आसक्तता-मद्य पीने से प्रति दिन आसक्ति बढती ही रहती है-घटती नहीं। मद्यप साधु तो मद्य पान की लालसा मिटाने के लिये-यह चाहता है कि, किसी न किसी प्रकार से मद्य खूब चढाकर मैं अपनी तृप्ति करूं। परन्तु होता क्या है ? विपरीत। लालसा शान्त होने के स्थान में उलटी भयंकर रूप धारण करती चली जाती है। धंधकती हुई अग्नि में ज्यों-ज्यों घास फूस पड़ती जायगी त्यों-त्यों ही वह अधिकाधिक भीषण रूप पकड़ती चली जायगी। अग्नि, शान्त तभी हो सकती है, जब कि उस में फूस न गेरा जाय।

यदि कोई कहे कि मद्य पीने वालेको मद्यप कहते हैं—चोर नहीं, चोर तो उसे ही कहते हैं जो चोरी करता हो। सो यहाँ सूत्र में मद्य पीने वालेको चोर किस अभिप्राय से कहा? तो उससे कहना चाहिए कि—ठीक है, चोरी करने वाले को ही चोर कहते हैं किसी दूसरे को नहीं। सो बतलाइए, मद्य पीनेवाला भी तो चोरी ही करता है—कुछ साहूकारी तो नहीं! श्री भगवान ने साधुओं को मद्य पीने का सर्वथा निषेध किया है। अतः साधुवेष पहनकर, भगवदाज्ञा तोड़ने से—अन्य कदाचारी पुरुषों के कथन को मानने से-एवं लोगों को धोखे में डालकर स्वार्थ साधने से—मद्यपानी साधु को जितना भी चोर-शिरोमणि कहाजाय उतना ही सच्चा है कुछ भी झूंठ नहीं ॥ ३९ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद्यपानी के लोलुपता आदि दुर्गुणों के विषय में कहते हैं—

वड्ढई सुंडिआ तस्स, मायामोसं च भिक्खुणो।
अयसो अ अनिव्वाणं, सययं च असाहुआ ॥ ४० ॥

वर्द्धते शौण्डिका तस्य, माया मृषा च भिक्षोः।
अयशश्च अनिर्वाणं, सततं च असाधुता ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ—(तस्स) उस मदिरा पानी (भिक्खुणो) भिक्षुका (सुंडिआ) आसक्त पना (वड्ढई) बढ़जाता है और इसी प्रकार (मायामोसं) माया तथा मृषावाद भी बढ़जाता है तथा (अयसो)

तो समझो साधु का सर्वस्व ही नष्ट होगया-साधु के पास सिवा साधुता के और रक्खाही क्या है? जिस के बलपर वह 'हु' कारका दम भर सके?

उपर्युक्त आसक्तता माया मृषा आदि दुर्गुणों की तरफ लक्ष्य रखते हुए संयमी को मद्य से सर्वथा अलग-थलग रहना चाहिए। साधु वही है जो मादक द्रव्यों के पान को विषपान के समान समझता है—जिसे इनके नाम से घृणा आती है॥ ४० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद्यप साधुकी अन्तिम समय की संवराराधना का निषेध कहते हैं–

निच्चुव्विग्गो जहा तेणो , अत्तकम्मेहिं दुम्मई ।
तारिसो मरणंतेवि , न आराहेइ संवरं ॥ ४१ ॥

नित्योद्विग्नो यथास्तेनः , आत्म कर्मभिर्दुर्मति ।
तादृशो मरणान्तेऽपि , नाराधयति सम्वरम् ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ (जहा) जैसे (तेणो) चोर (निच्चुव्विग्गो) सदा उद्विग्न घबराया हुआ रहता है ठीक वैसे ही (दुम्मइ) दुर्बुद्धि साधु (अत्तकम्मेहिं) अपने दुष्ट कर्मों से सदा उद्विग्न रहता है (तारिसो) सो ऐसा दुष्कर्म कारक मद्यप साधु (मरणंतेवि) मरणांत दशा में भी (संवरं) संवरकी

माया मृषा—मद्यप साधु दगाबाजी और झूंठ का दोषण भी पूरा पूरा लगाता है। क्योंकि समाजिक भय से प्रत्यक्ष में तो मद्य पी नहीं सकता अतः कहीं छुप-छिपकर सो प्रपंच लगाकर यह काम करना होता है। सो यहतो हुई माया। और दूसरे मद्यपान के पश्चात् होने वाली क्रियाओं से आशंकित लोगों क यह पूछने पर कि क्या तुम मद्य पीते हो ? यही कहता है कि क्या कहा मद्य ? नाम भी न लो। साधु और फिर मैं मद्य पीऊं ? तुम्हें कहते हुए भी लज्जा नहीं आई ? प्रत्यक्ष में तो क्या, ऐसा तो स्वप्नमें भी नहीं होता—यह हुआ झूंठ।

अपयश—मद्य पानी मनुष्यों का सभ्य संसार में कितना अपयश होता है? यहतो प्रसिद्ध है ही, और फिर उस में साधु-अपयश का कहना ही क्या ? भला जिसका जीवन सबसे पवित्र माना जाय और वह ऐसा काम करे। ऐसे का अपयश नहीं तो फिर किस का हो ?

अतृप्ति—अतृप्ति का अर्थ होता है 'अभिप्रेत वस्तु के न मिलने से होने वाला आनिर्वाच्य-दुःख'। जो साधुका बेव ठहरा। ऐसी गन्दी वस्तु भी चाहे तब नहीं मिलसकती-किसी निजी यार दोस्त के हाथ ही कभी कभी अवसरलगता है। अतः जब मद्य नहीं मिलेगा तब साधु को बहुत अधिक दुःख उठाना पड़ेगा। मद्य प्रेमी का शरीर उस काठी घोड़े के समान होजाता है-जो चाबुक की मार पड़ती रहती है, तब तक तो चलता रहता है और जहाँ चाबुक की मार बंद हुई नी, पड़ा हुआ ना।

असाधुता—संक्षिप्त में इसमे का सार यह है कि-मद्यपान से ज्यों ज्यों बढती है वह असाधुताही बढती रहती है। जहाँ असाधुता की वृद्धि होती है वहाँ बिचारी साधुता का रहना कैसा ? साधुता का और असाधुता का तो परस्पर विनयाद जैसा स्वाभावी वैर है। अस्तु-अब साधु की साधुता नष्ट होजाती

तो समझो साधु का सर्वस्व ही नष्ट होगया-साधु के पास सिवा साधुता के और रक्खाही क्या है ! जिस के बलपर वह ' हु ' कारका दम भर सके ?

उपर्युक्त आसक्ता माया मृषा आदि दुर्गुणों की तरफ लक्ष्य रखते हुए संयमी को मद्य से सर्वथा अलग-थलग रहना चाहिए। साधु वही है जो मादक द्रव्यों के पान को विषपान के समान समझता है—जिसे इनके नाम से घृणा आती है ॥ ४० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद्यप साधुकी अन्तिम समय की संवराराधना का निषेध करते हैं–

निच्चुव्विग्गो जहा तेणो , अत्तकम्मेहिं दुम्मई ।
तारिसो मरणंतेवि , न आराहेइ संवरं ॥ ४१ ॥

नित्योद्विग्नो यथास्तेनः , आत्म कर्मभिर्दुर्मतिः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि , नाराधयति सम्वरम् ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ (जहा) जैसे (तेणो) चोर (निच्चुव्विग्गो) सदा उद्विग्न घबराया हुआ रहता है ठीक वैसे ही (दुम्मइ) दुर्बुद्धि साधु (अत्तकम्मेहिं) अपने दुष्ट कर्मों से सदा उद्विग्न रहता है (तारिसो) सो ऐसा दुष्कर्म कारक मद्यप साधु (मरणंतेवि) मरणांत दशा में भी (संवर) संवरकी

(नाराहेइ) आराधना नहीं करसकता ॥ ४१ ॥

मूलार्थ—मद्यपानी दुर्बुद्धि साधु , अपने किये कुकर्मों से चोर के समान मग्न उद्विग्न—अशान्तचित्त रहता है । वह अन्तिम समय पर भी संवर चारित्र की आराधना नहीं करसकता ॥ ४१ ॥

भाष्य—जिस प्रकार चोर का चित्त सदैव उद्विग्न—अशान्त बना रहता है ठीक उसी प्रकार मदिरा पान करने वाले भिक्षु का चित्त भी सदा अशान्त बना रहता है । तथा वह अपने कर्मों द्वारा घोर कष्टों का सामना भी करता रहता है । इतना ही नहीं, किन्तु उसकी आत्मा दुर्मति से इतनी घनी मलिन हो जाती है, कि जिससे वह मृत्यु का समय समीप आजाने पर भी संवर-चारित्र मार्ग की समाराधना नहीं करसकता । जिनका हृदय सदा दुष्कर्म पङ्क से मलिन रहता है, उनके हृदय में संवर बीज का अङ्कुर भला कैसे हो सकता है ? कभी नहीं ।

सूत्रकार ने जो चोर का दृष्टान्त दिया है, उसका कारण यह है कि-चोर दिन रात सदा उद्विग्न, भयभीत दुःखित और प्रकंपित रहता है। ठीक उसी प्रकार मदिरा पान करने वाला साधु भी । वस्तुतः चोर के उदाहरण से मद्यप साधु का छिपा हुआ चित्र स्पष्टतः व्यक्त है ॥ ४१ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मदिरा पानी साधु की गृहस्थ लोग भी निन्दा करते हैं ? यह कहते हैं—

आयरिए नाराहेइ , समणे आवि तारिसो ।
गिहत्था वि ण गरिहंति, जेण जाणंति तारिसं ॥ ४२ ॥

आचार्यान्नाराधयति, श्रमणांश्चापि तादृशान् ।
गृहस्था अप्येनं गर्हन्ते, येन जानन्ति तादृशम् ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ—(तारिसो) मदिरा पानी साधु (आयरिए) आचार्यों की आराधना नहीं करता तथा (समणे आवि) साधुओं की भी आराधना नहीं करता। अस्तु औरतो क्या (गिहत्था अवि) गृहस्थ भी (एणं) इस साधु की (गरिहंति) निन्दा करते हैं (जेण) जिससे कि वे (तारिसं) उस दुष्ट चारित्री को (जाणंति) जानते हैं ॥ ४२ ॥

मूलार्थ—विचार मूढ़ मद्यप साधु से, नतो आचार्यों की आराधना होसकती है और न साधुओं की। ऐसे साधु की तो गृहस्थ-जो साधुओं के पूरे प्रेमी भक्त होते हैं-वे भी निन्दा ही करते हैं, क्योंकि वे उस दुष्कर्मी को अच्छी तरह जानते हैं ॥ ४२ ॥

भाष्य—इस गाथा में उक्त दुराचारी का ऐह लौकिक फल वर्णन किया गया है-जैसे कि—वह मदिरा पान करनेवाला साधु, अपने शासक आचार्यों की आराधना नहीं करसकता। आचार्यों-

की ही नहीं किन्तु, साथी साधुओं की भी आराधना नहीं करसकता । सदैव काल उसके अशुभ भाव बने रहते हैं।

तथा उस दुराचारी मुनि की गृहस्थ लोगभी निन्दा करते हैं कि-'देखो, यह साधु कैसा नीच है? सिंह के वेष में गीदड़ के काम करता है।' लोग कहते भी हैं सचोपाठ-जो जैसा देखता है वैसा ही कहता है। साधुतो समझता है कि मुझे ऐसा कौन जानता है, परन्तु गृहस्थ लोग उसकी सब काली करतूत जानते हैं। क्योंकि-चाहे कितनाही छिपाकर काम करो, पाप छिपा हुआ रह नहीं सकता-पाप का भांडा फूटकर ही रहता है।

मूल आशय यह है कि—दुराचारी साधु नतो धर्म की आराधना करसकता है और न धार्मिक महा पुरुषों की। दुराचारता के कारण उसके मस्तक पर ऐसा कलंक का काला टीका लगजाता है जिससे वह जिस तरफ निकलता है, उसी तरफ उस पर लोगों की तिरस्कार सूचक उंगलियाँ उठती चली जाती हैं। निन्दित मनुष्यका भी कुछ जीवन में जीवन है-ऐसे जीवन से तो मृत्यु ही अच्छी है बहुत अच्छी है॥ ४२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, उक्त विषय का उपसंहार करते हैं—

एवं तु अगुणप्पेही , गुणाणं च विवज्जए ।
तारिसो मरणंतेवि , ण आराहेइ संवरं ॥ ४३ ॥

एवतु अगुणप्रेक्षी, गुणाना च विवर्जकः ।
तादृशः मरणान्ते पि, नाराधयति सम्वरम् ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ—(एवतु) उक्त प्रकार से (अगुणप्पेही) अवगुणों को देखने वाला धारण करने वाला (च) और (गुणाण) गुणों को छोड़ने वाला (तारिस) यह भेष धारी साधु (मरणंतेवि) मृत्यु समय में भी (सवरं) सवर का (णआराहेइ) आराधक नहीं होता ॥ ४२ ॥

मूलार्थ—ऐसा अवगुणों को धारण करने वाला और सद्गुणों को छोड़ने वाला मूढमति साधु, और तो क्या मृत्यु समय में भी सवर का आराधक नहीं हो सकता है ॥ ४२ ॥

भाष्य—केवल वेष परिधान से मुक्ति नहीं हो सकती वेष के साथ गुण अतीव आवश्यक हैं। वेष शरीर है, तो गुण जीवन है-बिना जीवन के शरीर मुर्दा है। कुछ कर नहीं सकता।

अस्तु—जो केवल वेष मात्र से उदर भरी भरने वाला है एवं क्षमा, दया, इन्द्रिय निग्रहता आदि सद्गुणों को छोड़कर भोग विलास आदि अवगुणों को स्वीकार करने वाला, हिताहित ज्ञान शून्य साधु है—वह अन्य समय में तो क्या, उस मृत्यु के समय भी धर्म का आराधन नहीं कर सकता, जिस समय धर्म का आराधन करना सभी शास्त्र सम्मत एवं बहुत आवश्यक है। अर्थात् उस मद्य पानी का अन्तसमय नहीं सुधरता।

की ही नहीं किन्तु, साथी साधुओं की भी आराधना नहीं करसकता । सदैव काल उसके अशुभ भाव बने रहते हैं ।

तथा उस दुराचारी मुनि की गृहस्थ लोगभी निन्दा करते हैं कि-'देखो, यह साधु कैसा नीच है। लिंग के वष में गीदड़ के काम करता है।' लोग कहते भी हैं सत्योयाद-जो जैसा देखता है वैसा ही कहता है। साधुतो समझता है कि मुझे ऐसा कौन जानता है, परन्तु गृहस्थ लोग उसकी सब काली करतूत जानते हैं। क्योंकि-चाहे कितनाही छिपाकर काम करो, पाप छिपा हुआ रह नहीं सकता-पाप का भाडा फूटकर ही रहता है।

मूल आशय यह है कि—दुराचारी साधु नतो धर्म की आराधना करसकता है और न धार्मिक महा पुरुषों की। दुराचारता के कारण उसके मस्तक पर ऐसा कलंक का काला टीका लगजाता है जिससे वह जिस तरफ निकलता है, उसी तरफ उस पर लोगों की तिरस्कार सूचक उंगलियाँ उठती चली जाती हैं। निन्दित मनुष्यका भी कुछ जीवन में जीवन है-ऐसे जीवन से तो मृत्यु ही अच्छी है बहुत अच्छी है ॥ ४२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, उक्त विषय का उपसंहार करते हैं—

एव तु अगुणप्पेही , गुणाण च विवज्जए ।
तारिसो मरणंतेवि , ण आराहेइ संवरं ॥ ४३ ॥

ए और मद्यपान के प्रमाद से भी सर्वथा पराङ्मुख रहता है। तथा ऐसा यह तपस्वी साधु, घोर तपस्वी होकर भी कभी अपने तपस्वीपनका गर्व नहीं करता ॥ ४४ ॥

भाष्य—जो बुद्धि युक्त वा मर्यादावती साधु हैं वेसा सदैव काल १२ प्रकार के तपः कर्म में रक्त रहते हैं। यही नहीं-तप की पूर्ति क लिये स्निग्धरस का भी परित्याग कर देते हैं। साथ ही मद्य पान से सर्वथा विलग होकर-निधृ'स होकर परम तपस्वी भी होजाते हैं-तपस्वी भी वेसे वैसे नहीं जिनके हृदय में कभी यह गर्व नहीं होता कि "मैं ही उत्कृष्ट तप करनेवाला पवित्र भिक्षु हूँ।"

मदिरा शब्द उपलक्षण है-अतः यह निषेध सभी मादक द्रव्यों के विषय में जानना चाहिए। मादक द्रव्यों में मद्य का प्रधान पद है, सो सूत्रकार प्रथम उत्कृष्ट-नामी पदार्थों के विषय में ही कह दिया करते हैं। सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्ना।

तथा सूत्रकार ने जो इसी सूत्र में 'मज्जप्पमाय विरओ' पद दिया है, उसकाभी यही भाव होता है कि-साधु जितने भी मद उत्पन्न करने वाले पदार्थ हैं सभी से विरक्त रहे। ||

यदि यहाँ कोई ऐसा कहे कि, अन्न आदि के सेवन से भी तो कभी उन्मत्तता आजाती है, तो क्या इससे अन्न आदि पदार्थ भी नहीं खाने चाहिए? इसके उत्तर में कहना है कि—जिस प्रकारकी उन्मत्तता मदिरा पान आदि के आसेवन से होती है, उस प्रकार की अन्न आदि से कभी नहीं हो सकती। अन्नादि का सेवन सात्त्विक गुणवाला है और मदिरा आदि का सेवन तमो गुण वाला है। अतः दोनों का मुकाबला कैसा? मदिरा आदि राक्षसी पदार्थ होनेसे सर्वथा त्याज्य हैं और अन्न आदि

अतः जिस व्यक्ति की आत्मा, मादकीय उन्मत्तता के कारण सदा सक्लिष्ट रहती है, उसे वे में वस्तुतः धार्मिक क्रियाओं के पालन का ध्यान भासकता है। अन्तसमय प्रायः उसी का सुधरता है, जिसका पहला समय भी सुधरा हुआ आता है ॥ ४३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद्य पान के त्याग का महात्म्य वर्णन करते हैं—

तव कुव्वइ मेहावी , पणीअं वज्जए रसं ।
मज्जप्पमायविरओ , तवस्सी अइ उक्कसो ॥ ४४ ॥

तपः करोति मेधावी , प्रणीतं वर्जयति रसम् ।
मद्यप्रमादविरतः , तपस्वी अत्युत्कर्षः ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ—(मेहावी) बुद्धिमान, मर्यादावर्ती साधु (तवं) उज्ज्वल तप (कुव्वइ) करता है तथा आहार में (पणीअं) स्निग्ध (रसं) रस (वज्जए) छोड़ता है। इतना ही नहीं किन्तु (मज्जप्पमाय विरओ) मद्य पानके प्रमाद से रहित (तवस्सी) तपस्वी है। तपस्वी भी कैसा (अइ उक्कसो) 'मैं तपस्वी हूँ' इस उत्कर्ष (अहंकार) से रहित-अर्थात् जो तपस्वीपने का किसी प्रकार का भी अहंभाव नहीं रखता ॥ ४४ ॥

मूलार्थ—बुद्धिमान साधु वही है-जो सदा तपक्रियाएँ करता है- कामोत्पादक स्निग्धरस छोड़ता

है और मद्यपान के प्रमाद से भी सर्वथा पराङ्मुख रहता है। तथा ऐसा यह तपस्वी साधु, घोर तपस्वी होकर भी कभी अपने तपस्वीपनका गर्व नहीं करता ॥ ४४ ॥

भाष्य——जो बुद्धि युक्त या मर्यादावर्ती साधु हैं वेता सदैव काल १२ प्रकार के तप कर्म में रक्त रहते हैं। यही नहीं-तप की पूर्ति क लिये स्निग्धरस का भी परित्याग कर देते हैं। साथ ही मद्य पान से सर्वथा विलग होकर निर्वृत्त होकर परम तपस्वी भी होजाते हैं-तपस्वी भी ऐसे वैसे नहीं जिनके हृदय में कभी यह गर्व नहीं होता कि "मैं ही उत्कृष्ट तप करनेवाला पवित्र भिक्षु हूँ।"

मदिरा शब्द उपलक्षण है-अतः यह निषेध सभी मादक द्रव्यों के विषय में जानना चाहिए। मादक द्रव्यों में मद्य का प्रधान पद है, सो सूत्रकार प्रथम उत्कृष्ट-नामी पदार्थों के विषय में ही कह दिया करते हैं। 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्ना।

तथा सूत्रकार ने जो इसी सूत्र में "मज्जपमाय विरओ" पद दिया है, उसकाभी यही भाव होता है कि-साधु जितने भी मद उत्पन्न करने वाले पदार्थ हैं, सभी से विरक्त रहे।

यदि यहाँ कोइ ऐसा कहे कि, अन्न आदि के सेवन से भी तो कभी उन्मत्तता आजाती है, तो क्या इससे अन्न आदि पदार्थ भी नहीं खाने चाहिए? इसके उत्तर में कहना है कि—जिस प्रकारकी उन्मत्तता मदिरा पान आदि के आसेवन से होती है, उस प्रकार की अन्न आदि से कभी नहीं हो सकती। अन्नादि का सेवन सात्त्विक गुणवाला है और मदिरा आदि का सेवन तमो गुण वाला है। भला दोनों का मुकाबला कैसा? मदिरा आदि राक्षसी पदार्थ होनेसे सर्वथा त्याज्य हैं और अन्न आदि

मानुषी पदार्थ होने से संयम यथार्थ माना है। हाँ, अशनादि का सेवन भी प्रमाण से बाहिर नहीं होना चाहिए।

उत्थानिका—अब फिर इसी विषय में कहा जाता है—

तस्स पस्सह कल्लाण , अणेगसाहुपूइअं ।
विउलं अत्थ सजुत्त , कित्तइस्स सुणेह मे ॥ ४५ ॥

तस्य पश्यत कल्याण , अनेक साधु पूजितम् ।
विपुलमर्थ संयुक्त , कीर्तयिष्ये शृणुत मे ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ—(तस्स) उस साधुके (अणेग साहु पूइअं) अनेक साधुओं से पूजित फिर (विउलं) मोक्षका अवगाहन करने से विपुल (अत्थसजुत्त) मोक्ष के अर्थ से युक्त (कल्लाण) कल्याण रूपको (पस्सह) देखो, मैं उसके गुणों का (कित्तइस्सं) कीर्तन करूँगा सो (मे) मुझ से (सुणेह) तुम श्रवण करो ॥ ४५ ॥

मूलार्थ—हे शिष्यो! तुम उस साधु के कल्याण रूप संयम को देखो-जो अनेक साधुओं से पूजित है-मोक्षका अवगाहन करने वाला है, तथा मोक्ष के अर्थ का साधक है। उसके गुणों का मैं कीर्तन करूँगा-सो तुम मुझसे सावधान होकर सुनो ॥ ४५ ॥

भाष्य—गुरु कहते हैं कि-हे शिष्यो ! तुम उस साधु के गुण संपत्ता रूप संयम को देखो-जो अनेक साधुओं द्वारा पूजित है आसेवित है। और जो मोक्षका अवगाहन करनेवाला है अतः विपुल है। तथा जो असार पौद्गलिक सुखोंका साधक न होकर-परम सार निरुपम मोक्ष सुखका साधक है। उस पवित्र मुनि के गुणों का मैं कीर्तन करूगा सो तुम दत्तचित्त होकर मुझ से श्रवण करो।

गुण सागर मुनियों के गुणों के श्रवण से आत्मा में वह अद्भुत क्रान्ति होती है जिस से पामर नगण्य मनुष्य भी एकदिन त्रिलोक वंद्य हो जाते हैं।

इस गाथा के देखने से यह निश्चय हुए बिना नहीं रहता कि-जिस आत्मा ने मदिरापान और प्रमाद का परित्याग करदिया है, उस आत्मा में निश्चय ही अनेक एकसे एक उत्तरोत्तर सुन्दर गुण एकत्र होजाते हैं। जिससे वह अनेक साधुओं का पूजित होजाता है। इतना ही नहीं, किन्तु दुष्प्राप्य मोक्षका भी साधक बनजाता है ॥ ४५ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सद्गुणी साधुकी संवराराधना की सफलता के विषय में कहते हैं—

एव तु स गुणाप्पेही , अगुणाण च विवज्जए ।
तारिस मरणंतेवि , आराहेइ संवर ॥ ४६ ॥

मानुषी पदार्थ होने से संयम रक्षार्थ मात्र हैं। हाँ अन्नादि का सेवन भी प्रमाण से बाहिर नहीं होना चाहिए।

उत्थानिका—अबफिर इसी विषय में कहा जाता है—

तस्स पस्सह कल्लाण , अणेगसाहुपूइअ ।
विउल अत्थ सजुत्त , कित्तइस्स सुणेह मे ॥ ४५ ॥

तस्य पश्यत कल्याण , अनेक साधु पूजितम् ।
विपुलमर्थ सयुक्त , कीर्तयिष्ये शृणुत मे ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ—(तस्स) उस साधुके (अणेग साहु पूइअ) अनेक साधुओं से पूजित फिर (विउलं) मोक्षका अवगाहन करने से विपुल (अत्थसजुत्तं) मोक्ष के अर्थ से युक्त (कल्लाणं) कल्याण रूपको (पस्सह) देखो, मैं उसके गुणों का (कित्तइस्स) कीर्तन करूँगा सो (मे) मुझ से (सुणेह) तुम श्रवण करो ॥ ४५ ॥

मूलार्थ—हे शिष्यो! तुम उस साधु के कल्याण रूप सयम को देखो-जो अनेक साधुओं से पूजित है-मोक्षका अवगाहन करने वाला है, तथा मोक्ष के अर्थ का साधक है। उसके गुणों का मैं कीर्तन करूँगा-सो तुम मुझसे सावधान होकर सुनों ॥ ४५ ॥

सूत्रगत 'गुण' और 'अवगुण' शब्द से क्रमशः अप्रमाद, क्षमा, दया, सभ्यता, सरलता, इन्द्रिय निग्रहता आदि और प्रमाद, अविनय, क्रोध, असाय रस लोलुपता विकथा प्रियता आदि का ग्रहण है ॥ ४६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सद्गुणी साधु की पूजा-प्रतिष्ठा के विषय में कहते हैं—

आयरिए आराहेइ , समणे आवि तारिसो ।
गिहत्थावि णं पूयंति , जेण जाणंति तारिसं ॥ ४७ ॥

आचार्यानाराधयति , श्रमणांश्चापि तादृशः ।
गृहस्था अप्येनं पूजयन्ति , ये न जानन्ति तादृशम् ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ—(तारिसो) ऐसा गुणवान् साधु (आयरिए) आचार्यों की (आराहेइ) शुद्ध भावसे कल्याण कारी आराधना करता है, इसी प्रकार (समणे आवि) सामान्य साधुओं की भी आराधना करता है तथा (गिहत्थावि) गृहस्थ लोग भी (एणं) इस पवित्र साधु की (पूयंति) पूजा करते हैं (जेण) जिस कारण से गृहस्थ लोग (तारिसं) तादृश-शुद्ध धर्मी को (जाणंति) जानते हैं ॥ ४७ ॥

मूलार्थ—गुणवान् साधु, आचार्यों की एवं अन्य सामान्य साधुओं की भी सम्यक्तया आराधना

एव तु स गुणप्रेक्षी , अगुणानां च विवर्जकः ।

तादृशो मरणान्तेऽपि, आराधयति सम्वरम् ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ—(एवंतु) उक्त प्रकार से (स) वह (गुणप्पेही) गुणों को देखने वाला (च) तथा (अगुणाण) अवगुणों को (विवज्जए) छोड़ने वाला (तारिसो) तादृश शुद्धाचारी साधु (मरण तेवि) मृत्यु के समय पर भी निश्चय ही (सवंर) चारित्र धर्म की (आराहेइ) आराधना करलेता है ॥४६॥

मूलार्थ—उक्त प्रकार से जो साधु, सद्गुणों को धारण करने वाला और दुर्गुणों को छोड़ने वाला है, वह अन्तिम-मृत्यु समय में भी स्वीकृत चारित्र की सम्यक् आराधना करता है ॥४६॥

भाष्य—जो साधु सद् गुणों का धारक, दुर्गुणों का परिहारक एवं सदैव काल मस्त करण की शुद्ध वृत्ति का संरक्षक है, वह अन्य समय तो क्या-जो समय उद्विग्नता-विकलता का होता है उस मृत्यु के समय में भी चारित्र धर्म की पूर्णतया समाराधना करलेता है।

कारण कि- सदैव काल शुद्ध-बुद्धि बनी रहने से हृदय में चारित्र धर्म का बीज इस प्रकार दृढ़ता के साथ अंकुरित होजाता है-जो आगे-आगे अधिकाधिक पल्लवित होता रहता है। उसे घोर से घोर मृत्यु जैसे संकट की प्रचंड आँधी भी नष्ट नहीं कर सकती।

इसी लिये सूत्रकारने सूत्र में 'तारिसो'—'तादृशः' पद पढ़ा है कि-उक्त गुणोपेत, शुद्ध संयम धारी मुनि संवर—चारित्र धर्म का पूर्ण आराधक हो जाता है।

सूत्रगत 'गुण और अवगुण' शब्द से क्रमशः अप्रमाद, क्षमा, दया, सत्यता सरलता, इन्द्रिय निग्रहता आदि और प्रमाद, अविनय, क्रोध, मत्सर, रस लोलुपता विकथा प्रियता आदि का ग्रहण है ॥ ४६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सद्गुणी साधु की पूजा–प्रतिष्ठा के विषय में कहते हैं—

आयरिए आराहेइ, समणे आवि तारिसो ।
गिहत्थावि णं पूयंति, जेण जाणंति तारिसं ॥ ४७ ॥

आचार्यानाराधयति, श्रमणांश्चापि तादृशः ।
गृहस्था अप्येनं पूजयन्ति, ये न जानन्ति तादृशम् ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ—(तारिसो) ऐसा गुणवान् साधु (आयरिए) आचार्यों की (आराहेइ) शुद्ध भावसे कल्याण कर्ती आराधना करता है, इसी प्रकार (समणे आवि) सामान्य साधुओं की भी आराधना करता है तथा (गिहत्थावि) गृहस्थ लोग भी (एणं) इस पवित्र साधु की (पूयंति) पूजा करते हैं (जेण) जिस कारण से गृहस्थ लोग (तारिसं) तादृश–शुद्ध धर्मी को (जाणंति) जानते हैं ॥ ७ ॥

मूलार्थ—गुणवान् साधु, आचार्यों की एवं अन्य सामान्य साधुओं की भी सम्यक्तया आराधना

करलेता है। ऐसे गुणी साधु की गृहस्थ लोग भी भक्ति भावसे पूजा-सेवा करते हैं, क्योंकि गृहस्थ उस शुद्धसंयमधारी को भले प्रकार जानते हैं ॥ ४७ ॥

भाष्य—गुणवान् साधु, आज्ञा पालन द्वारा अपने धर्माचार्यों की आराधना करता है, ठीक इसी प्रकार विनय भक्ति सेवा शुश्रूषा द्वारा अन्य साथी साधुओं की भी सम्यकया आराधना करलेता है। उस में इतना अधिक नम्रता का गुण होता है कि जिससे वह भूलकर भी कभी यह नहीं विचार करता कि 'ये साधु मेरे से अधिक क्या गुण रखते हैं मैं इनकी क्यों सेवा करु।' वह सदैव यही विचारता है कि इस नश्वर शरीर से जितनी भी सेवा कीजाय उतनीही थोड़ी। शरीर अमर नहीं सेवा अमर है।

ऐसे गुणवान साधु की गृहस्थ लोक भी पूजा—वन्दना नमस्कार करते हैं और सभक्ति भाव वस्त्र पात्रादि मुनियोग्य वस्तु की निमंत्रणा भी करते हैं। कारण कि वे मुनि को जिस प्रकार से गुण-वान् देखते हैं, उसी प्रकार से पूजा-सत्कार करते हैं।

इस गाथा से यह भली भाँति सिद्ध होजाता है कि—वस्तुतः गुणोंकाही पूजन है-किसी वेषका मात्र तथा सम्बन्ध का नहीं। "गुणाः पूजास्थानं गुणिषु नच लिङ्गं न च वयः।"

इसलिये समस्त मुनियों को योग्य है कि वे अपनी मुनिवृत्ति में यदि कभी किसी प्रकार की न्यूनता देखें तो झट पट उस न्यूनता को दूर कर स्ववृत्ति की पूर्ति करें—अन्यथा गृहस्थों से तिरस्कृत अपमानित होना पड़ेगा। एक पूज्य अपना कर्तव्य न पालन करने के कारण अपने पुजारी से तिरस्कृत

भाव—यह कितनी लज्जा भरी बात है ? ॥ ४७ ॥

उत्थानिका—अब कुछ अन्य चोर साधुओं के विषय में कहते हैं—

तवतेणे वयतेणे , रूवतेणे य जे नरे ।
आयारभावतेणे य, कुव्वइ देवकिब्विसं ॥ ४८ ॥

तप स्तेन वच स्तेन , रूपस्तेनस्तु यो नरः ।
आचार भावस्तेनश्च , करोति देवकिल्बिषं कम् ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (नरे) मनुष्य (तवतेणे) तपका चोर (वय तेणे) वचन का चोर (य) तथा (रूवतेणे) रूप का चोर (य) तथा (आयार भाव तेणे) आचार और भावका चोर होता है, वह (देवकिब्विसं) किल्विष देवत्व की (कुव्वइ) प्राप्ति करता है अर्थात् वह अत्यन्त नीच जो किल्विषदेव हैं, उन में पैदा होता है ॥ ४८ ॥

मूलार्थ—जो साधु, तपका चोर, वचन का चोर, रूपका चोर, आचार का चोर तथा भाव का चोर होता है , वह परभव में अत्यन्त नीच योनि-किल्विष देवों में उत्पन्न होता है ॥ ४८ ॥

भाष्य—संसार में चौर्य कर्म का त्याग करना बड़ा कठिन है। मनुष्य, सावधानी रखता हुआ

भी किसी न किसी प्रकार की भावावेश में आकर चोरी करही बैठता है। क्योंकि, चोरी कोई एक तरह की नहीं होती-चोरी के भेद-प्रभेद बहुत अधिक संख्या में हैं। जिन्होंने जैनागमों का पूर्ण अभ्यास किया है, वेही इसके भेद-प्रभेदों को जानते हैं और वेही इस पाप पङ्क से साफ—साफ बचते हैं।

अब सूत्रकार यहाँ प्रसंगोचित फल वर्णन के साथ साधु वेष में किस किस प्रकार की चोरियों की संभावना है—जिन से साधु हमेशां बचता रहे।

तपचोर—कोई साधु स्वभावतः दुबला-पतला निर्बल शरीर वाला है। किसी भावुक गृहस्थ ने उसको देखकर पूछा कि 'हे भगवन्! वे मास क्षमण आदि महान् तपस्या के करने वाले, क्या आपही तपो मूर्ति अनगार हैं।' तब साधु अपनी पूजा की इच्छा से यदि यह कहेकि-'हाँ, वह तपस्वी मैं ही हूं' तो वह साधु तपका चोर है। क्योंकि-वह कभी 'मास' आदि तप तो करता नहीं, किन्तु असत्य भाषा बोलकर झूठ मूठ तपस्वी बनना चाहता है।

तथा ऐसे कहेकि-हाँ भाई! साधुलोग तप किया ही करते हैं। साधुओं के तप का क्या पूछना! तथा मौन भाव ही अवलंबन करले-जिससे गृहस्थ जानजाय कि-यही महामुनि वे घोर तपस्वी हैं। अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना नहीं चाहते। 'हीरा मुखसे ना कहे मेरा इतना मोल'। इसी प्रकार अगले प्रश्नों के विषय में भी विशेष रूप से जान लेना चाहिए।

वचस्तेन—कोई साधु व्याख्यान देने में बड़ाही निपुण है। उसकी समाज में बड़ी प्रशंसा है। अस्तु कोई अन्य व्याख्यानी साधु अपरिचित स्थान में गया। लोग उसी प्रसिद्ध व्याख्यानी साधु के भ्रम से उससे पूछें कि- क्या अमुक शास्त्र विशारद व्याख्यानी साधु आपही हैं। तब मुनि यदि

उत्तर में यह कहे कि हाँ वह मैं ही हूँ—अथवा साधु व्याख्यानी हुआ ही करते हैं—अथवा मौन धारण करजाय तो वह साधु वचन का चोर है।

रूप चोर—कोई रूपवान् राजकुमार दीक्षित होगया। तब उसके रूपके समान किसी अन्य साधु से कोई पूछे कि 'क्या वे आपही राजकुमार हैं जो बड़े रूपवान हैं—जो अभी दीक्षित हुए हैं।' तब साधु उत्तर में स्पष्ट कहे या वाक् छलसे 'हाँ साधु राज्य वैभव को छोड़करही साधुत्व लेते हैं वैराग्य धन के सामने वह धन क्या चीज है?' यह कहे या मौन रहजाय तो वह साधु रूप का चोर माना जाता है।

आचार चोर—कोई साधु व्यवहार मात्र से बाह्य आचार विचार में खूबही तत्पर रहता है। तब कोई प्रश्न करे कि हे भगवन् क्या अमुक आचार्य के क्रिया पात्र शिष्य आपही हैं।' तब साधु उत्तर में कहे कि—साधु स्वीकृत क्रियाओं का पालन करतेही हैं—या स्पष्ट हाँ भरले या मौनावलंबनसे कुछ ऐसा ही व्यक्त करे तो वह साधु आचार का चोर होता है।

भाव चोर—किसी साधु के हृदय में किसी शास्त्र का गूढार्थ नहीं बैठता है। अतः उसने किसी अन्य साधु से पूछा कि— "इस पद का आप क्या अर्थ करते हैं।' तब उस मुनिने जो कुछ उसका भाव था वह बतला दिया तब वह पृच्छक मुनि, अहं मन्यता से कहे कि—'हाँ मेरे भी इसका यही अर्थ बैठा हुआ है- यहतो मैं आपकी परीक्षा ले रहा था' तो वह पृच्छक साधु भाव चोर होता है।

तात्पर्य यह है कि-अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के लिये किसी अन्य का नाम छिपाकर असत्य वचन बोलना तथा मौनावलंबन कर लेना तथा वाक् छल से उत्तर देना-ये सब चोरी में शामिल हैं।

भी किसी न किसी प्रकार की भावावेश में आकर चोरी करही बैठता है। क्योंकि, चोरी कोई एक तरह की नहीं होती-चोरी के भेद-प्रभेद बहुत अधिक संख्या में हैं। जिन्होंने जैनागमों का पूर्ण अभ्यास किया है, वेही इसके भेद-प्रभेदों को जानते हैं और वेही इस पाप पङ्क से साफ—साफ बचते हैं।

अब सूत्रकार यहाँ प्रसंगोचित फल वर्णन के साथ साधु वेष में किस किस प्रकार की चोरियों की संभावना है—जिन से साधु हमेशां बचता रहे।

तपस्तेन—कोई साधु स्वभावतः दुबला-पतला निर्बल शरीर वाला है। किसी भावुक गृहस्थ ने उसको देखकर पूछा कि 'हे भगवन्! ६ मास क्षमण आदि महान् तपस्या के करने वाले, क्या आपही तपो मूर्ति अनगार हैं।' तब साधु अपनी पूजा की इच्छा से यदि यह कहेकि-'हाँ, वह तपस्वी मैं ही हूं' तो वह साधु तपका चोर है। क्योंकि-वह कभी 'मास' आदि तप तो करता नहीं, किन्तु असत्य भाषा बोलकर झूठ मूठ तपस्वी बनना चाहता है।

तथा ऐसे कहेकि-हाँ भाई! साधुलोग तप किया ही करते हैं। साधुओं के तप का क्या पूछना! तथा मौन भाव हा भवलम्बन करले जिससे गृहस्थ जानजाए कि-यही महामुनि वे घोर तपस्वी हैं। अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना नहीं चाहते। 'हीरा मुखसे ना कहे मेरा इतना मोल'। इसी प्रकार अगले प्रश्नों के विषय में भी विशेष रूप से जान लेना चाहिए।

वचःस्तेन—कोई साधु व्याख्यान देने में बड़ाही निपुण है। उसकी समाज में बड़ी प्रशंसा है। अस्तु, कोई अन्य व्याख्यानी साधु अपरिचित स्थान में गया। लोग उसी प्रसिद्ध व्याख्यानी साधु के भ्रम से उससे पूछें कि-'क्या अमुक शास्त्र विशारद व्याख्यानी साधु आपही हैं।' तब मुनि यदि

भाष्य—यदि वह चोरी करने वाला व्यक्ति, तथा विध क्रिया के पालन से किल्बिष देवों में पैदा भी होगया तो भी वह यह नहीं जानता कि-मैं कौनसी दुष्क्रिया के फल से नीच किल्बिष देव बना हूं। कारण कि—देव, विशिष्ट अवधि ज्ञान के बल से अपने पूर्व भवकी ठीक स्मृति करलेते हैं, किन्तु वह विशिष्ट अवधिज्ञान के न होने से अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त को नहीं जान सकता। पूर्वोक्त छल क्रियाओं के करने से उसे विशिष्ट अवधि प्राप्त नहीं होता।

तथा मन्द क्रियाओं के करने से ही उक्त देव नीच भाव प्राप्त करता है। कारण कि-विशिष्ट तप संयम का फल तो विशिष्ट देव भाव प्राप्त कराता है तथा मोक्षपद प्राप्त कराता है। किन्तु मन्द क्रियाओं का फल मन्द गति प्राप्त होना ही है। इसी वास्ते सूत्रकारने स्वयं नीच गति का वर्णन किया है।

सूत्रकारने जो पूर्वजन्मकृत कर्मों के ज्ञानका निषेध किया है। उससे यह आशय है कि—पूर्व कृत कर्मों का संस्मरण होने से जीवात्मा को पश्चात्ताप द्वारा कुछ समझनेका अवसर मिलजाता है। परन्तु उस पापी चोर साधु को तो यह अवसर भी नहीं मिलता। चौर्य कर्म प्रेमी प्राणी का अधः पतन निःसीम होता है ॥ ४९ ॥

उत्थानिका—अब, उस किल्बिष देव दशा से भी च्युत होकर वह कहाँ जाता है? यह कहते हैं-

तत्तोवि से चइत्ताण, लब्भिही एलमूअयं।

नरगं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ ५० ॥

इसी लिए इसी प्रकार की क्रियाओं के करने वाले साधु किल्विष देवों के कर्मों की उपार्जना करते हैं अर्थात् वे मर कर नीच किल्विष देवों में उत्पन्न होते हैं ॥ ४८ ॥

उत्थानिका—अब वे किल्विष देव कैसे होते हैं ? यह कहा जाता है—

लद्धूण वि देवत्तं, उववन्नो देवकिब्बिसे ।
तत्थावि से न याणाइ, किं मे किच्चा इमं फलं ॥ ४९ ॥

लब्ध्वाऽपि देवत्वं, उपपन्नो देवकिल्विषे ।
तत्राऽपि स न जानाति, किं मे कृत्वा इदं फलम् ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ—(देवकिब्बिसे) किल्विष देव जाति में (उववन्नो) उत्पन्न हुआ (देवत्तं) देवत्व को (लद्धूणवि) प्राप्त करके भी (से) वह (तत्थावि) निश्चय से ही वहाँ (नयाणाइ) नहीं जानता कि (मे) मैंने (किं किच्चा) कौनसी क्रिया करके (इमंफलं) यह किल्विषि देवत्व का फल प्राप्त किया ॥ ४९ ॥

मूलार्थ—वह पूर्वसूत्रोक्त चोर साधु, किल्विष देव जाति में—देवरूप में उत्पन्न होकर भी यह नहीं जानता कि—मैं किस कर्म के फल से इस नीच किल्विष देव जाति में उत्पन्न हुआ ॥ ४९ ॥

भाष्य—यदि वह चोरी करने वाला व्यक्ति, तथा विध क्रिया के पालन से किल्विष देवों में पैदा भी होगया तो भी वह यह नहीं जानता कि-मैं कौनसी दुष्क्रिया के फल से नीच किल्विष देव बना हूं। कारण कि—देव विशिष्ट अवधि ज्ञान के बल से अपने पूर्व भव की ठीक स्मृति करलेते हैं, किन्तु वह विशिष्ट अवधिज्ञान के न होने से अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त को नहीं जान सकता। पूर्वोक्त छल क्रियाओं के करने से उसे विशिष्ट अवधि ज्ञान नहीं होता।

तथा मन्द क्रियाओं के करने से ही उक्त देव नीच भाव प्राप्त करता है। कारण कि-विशिष्ट तप संयम का फल तो विशिष्ट देव भाव प्राप्त कराता है तथा मोक्षपद प्राप्त कराता है। किन्तु मन्द क्रियाओं का फल मन्द गति प्राप्त होना ही है। इसी वास्ते सूत्रकारने स्वयं नीच गति का वर्णन किया है।

सूत्रकारने जो पूर्वजन्मकृत कर्मों के ज्ञानका निषेध किया है। उससे यह आशय है कि—पूर्व कृत कर्मों का संस्मरण होने से जीवात्मा को पश्चात्ताप द्वारा कुछ सम्भलनेका अवसर मिलजाता है। परन्तु उस पापी चोर साधु को तो यह अवसर भी नहीं मिलता। चौर्य कर्म प्रेमी प्राणी का अधः पतन निःसीम होता है ॥ ४९ ॥

उत्थनिका—अब, उस किल्विष देव दशा से भी च्युत होकर वह कहाँ जाता है? यह कहते हैं—

तत्तोवि से चइत्ताण , लब्भिही एलमूअअं ।
नरगं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ ५० ॥

ततोऽपि स च्युत्वा, लभ्यते एलमूकताम् ।
नरकं तिर्यग्योनिंवा, बोधिर्यत्र सुदुर्लभा ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(तत्तोवि) वहाँ से भी-देवलोक से भी (से) वह (चइत्ताण) च्यवकर (एलमूअयं) मेष की भाषा के समान अस्पष्ट मूक भाषा भाषी मनुष्य भवको (लब्भिही) प्राप्त करेगा (वा) अथवा (नरगं तिरिक्ख जोणिं) नरक, तिर्यंच योनि को प्राप्त करेगा (जत्थ) जहाँ पर (बोही) जिन धर्म की प्राप्ति (दुल्लहा) दुर्लभ है ॥ ५० ॥

मूलार्थ—वह चोर साधु, देवलोक से च्यवकर मेष के समान मूकभाषा बोलने वाला मनुष्य होता है, अथवा पराधीन नरक तिर्यंच योनिको प्राप्त करता है, जहाँ जिन धर्म की प्राप्ति अतीव दुर्लभ है ॥ ५० ॥

भाष्य—इस गाथा में यह प्रतिपादन किया है कि—वह चौर्य कर्म करनेवाला वेषधारी साधु, किल्विष देवभवको भोगकर यदि मनुष्य गति का भी प्राप्त होगा तो जैसे बकरा वाणी बोलता है, वैसी ही वाणी बोलनेवाला गूंगा मनुष्य होगा । (बहुत से अर्थकार यह कहते हैं कि—वह बकरा ही बनेगा यह भी ठीक है)। इतनाही नहीं किन्तु संसार चक्र में परिभ्रमण करता हुआ कभी-वह नरक में जायगा और कभी तिर्यंच में जायगा । वैसे जीव पुरुषों को अर्थी से सुरक्षण नहीं मिलता ।

मतलब यह है कि वह जहाँ जायगा वहाँ अशांति-दुःख पीड़ित ही रहेगा। उसे शान्तिप्रद जिन धर्म की प्राप्ति होनी अतीव दुर्लभ है। क्योंकि जिन धर्म की प्राप्ति आर्जव भावों के आश्रित है-वक्र भावों के नहीं।

सूत्रकार ने यह स्तेनभाव का वर्णन भली भाँति करदिया है और साथही उसके फलका भी दिग्दर्शन किया है। जिसका स्पष्ट भाव है कि उक्त मायाचारकी क्रियाओं के करने से संसार की वृद्धि होजाती है। अतः प्रत्येक मुनिका कर्तव्य है कि वह ऐसे मलिन कार्यों से अपनी शुद्ध आत्मा का सदा बचाव रक्खे ॥ ५० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, प्रकृत विषयका उपसंहार करते हैं—

एअं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं।

अणुमायंपि मेहावी, मायामोसं विवज्जए ॥ ५१ ॥

एतं च दोषं दृष्ट्वा, ज्ञातपुत्रेण भाषितम्।

अणुमात्रमपि मेधावी, मायामृषावादं विवर्जयेत् ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थ—(मेहावी) मर्यादावर्ती साधु (नायपुत्तेण) ज्ञात पुत्रसे (भासियं) कहेगये (एअं) इस पूर्वोक्त (दोसं) दोष को (दट्ठूण) देखकर (अणुमायंपि) स्तोक मात्र भी (मायामोसं)

ततोऽपि सः च्युत्वा , लप्स्यते एलमूकताम् ।
नरकं तिर्यग्योनिं वा , बोधिर्यत्र सुदुर्लभा ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(तत्तोवि) वहाँ से भी-देवलोक से भी (से) वह (चइत्ताण) च्यवकर (एलमूअयं) मेष की भाषा के समान अस्पष्ट मूक भाषा भाषी मनुष्य भवको (लब्भिही) प्राप्त करेगा (वा) अथवा (नरगं तिरिक्खजोणिं) नरक, तिर्यंच योनि को प्राप्त करेगा (जत्थ) जहाँ पर (बोही) जिन धर्म की प्राप्ति (दुल्लहा) दुर्लभ है ॥ ५० ॥

मूलार्थ—वह चोर साधु, देवलोक से च्यवकर मेष के समान मूकभाषा बोलने वाला मनुष्य होता है, अथवा पराधीन नरक तिर्यंच योनिको प्राप्त करता है, जहाँ जिन धर्म की प्राप्ति अतीव दुर्लभ है ॥ ५० ॥

भाष्य—इस गाथा में यह प्रतिपादन किया है कि-वह चौर्य कर्म करनेवाला वेषधारी साधु, किल्बिष देवभावको भोगकर यदि मनुष्य गति को भी प्राप्त होगा तो जैसे बकरा वाणी बोलता है, वैसी ही वाणी बोलनेवाला गूंगा मनुष्य होगा। (बहुत से अर्थकार यह कहते हैं कि—वह बकरा ही बनेगा यह भी ठीक है)। इतनाही नहीं किन्तु संसार-चक्र में परिभ्रमण करता हुआ कभी-वह नरक में जायगा और कभी तिर्यंच में जायगा। ऐसे जीव पुरुषों को जल्दी से छुटकारा नहीं मिलता।

उक्त सूत्र में जो 'णाय पुत्तेण भासियं'×पद दिया हुआ है। उसका यह भाव है कि–यह सत्योपदेश श्री भगवान् महावीर स्वामी का है, नकि किसी अन्य साधारण व्यक्ति का। सर्वज्ञ वचनों में ही पूर्ण सत्यता एवं पूर्ण हितावहता होती है ॥ ५१ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इस अन्तिम गाथा द्वारा अध्ययन का उपसंहार करते हुए शिक्षा देते हैं–

सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं, संजयाण बुद्धाण सगासे।

तत्थ भिक्खू सुप्पणिहिइन्दिए, तिव्वलज्ज गुणव विहरिज्जासि ॥ ५२ ॥ त्तिबेमि

शिक्षित्वा भिक्षैषणाशुद्धिं, संयतेभ्यः बुद्धेभ्य सकाशात्।

तत्रभिक्षु सुप्रणिहितेन्द्रिय, तीव्रलज्जः गुणवान् विहरेत् ॥५२॥ इति ब्रवीमि।

× अन्य तीर्थंकरों की साक्षी न देकर भगवान महावीर की ही साक्षी देने का यह भाव है कि–आधुनिक साधु संघ, जगद् गुरु भगवान महावीर का शिष्य है। धार्मिक दृष्टि से गुरु, पिता है और शिष्य पुत्र। 'पुत्ताय सीसाय समं भवित्ता'। अस्तु–सूत्रकार कहते हैं कि हे साधु ओ! यह तो तुम्हारे पिता का कथन है। इसे अवश्य मानो। तभी दुनिया में सपूत कहलाओगे–नहीं तो देखलो कपूतपन का लांछन तुम्हारे बिना लगे नहीं रहेगा। कपूत उभयलोक भ्रष्ट होता है।

छल पूर्वक असत्य बोलने का (विवर्जयए) परित्याग करे ॥ ५१ ॥

मूलार्थ—बुद्धिमान् मर्यादा बद्ध साधु, ज्ञातपुत्र भाषित इन पूर्वोक्त दोषों को सम्यक्तया देख कर, स्तोक मात्र भी माया मृशा भाषण न करे ॥ ५१ ॥

भाष्य—चोरी कर्म करने वाले मुनि, सद्गति नहीं पाते। वे साधु क्रिया करते हुए भी किल्बिषिकी होते हैं। वहाँ से भी व नरक तिर्यंच योनियों में चिरकाल तक परि भ्रमण करते हैं। इत्यादि जिन दोषों का वर्णन श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने किया है, उन दोषों को आगम से भली भाँति देखकर-जानकर साधुओं को किसी भी अवस्था में अणु मात्र भी माया-मृषा का दोष नहीं लगाना चाहिए।

कारणकि-जब अणुमात्र का भी इतना भीषण फल वर्णन किया गया है, तो फिर प्रभूत के फल बारे कहना ही क्या है? 'अधिकस्याधिकं फलम्।

अतः सिद्धान्त यह निकलाकि—छल और असत्य कदापि नहीं करना चाहिए। इसका परिणाम भवसन्तति की वृद्धि होना है—इस क्रिया के करते रहते चाहे कुछ भी करो आत्मविकास कभी नहीं होसकता। परम पवित्र सत्य और मार्दव भाव से ही आत्मा स्वविकास की ओर झुकता है, और फिर शनैः शनैः विकास होते होते पूर्ण विकास होजाने पर, शिव-अचल-अरुज-अनन्त-अक्षय निर्वाण पद प्राप्त करलेता है।

उक्त सूत्र में जो 'ज्ञात पुत्रेण भाषितं'×पद दिया हुआ है। उसका यह भाव है कि-यह सत्योपदेश श्री भगवान् महावीर स्वामी का है, नकि किसी अन्य साधारण व्यक्ति का। सर्वज्ञ वचनों में ही पूर्ण सत्यता एवं पूर्ण हितावहता होती है ॥ ५१ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इस अन्तिम गाथा द्वारा अध्ययन का उपसंहार करते हुए शिक्षा देते हैं—

सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं, संजयाण बुद्धाण सगासे।
तत्थ भिक्खू सुप्पणिहिइन्दिए, तिव्वलज्ज गुणव विहरिज्जासि ॥५२॥ त्तिबेमि

शिक्षित्वा भिक्षैषणाशुद्धिं, संयतेभ्यः बुद्धेभ्यः सकाशात्।
तत्रभिक्षुः सुप्रणिहितेन्द्रियः, तीव्रलज्जः गुणवान् विहरेत् ॥५२॥ इति ब्रवीमि।

× अन्य तीर्थंकरों की साक्षी न देकर भगवान महावीर की ही साक्षी देने का यह अभिप्राय है कि—आधुनिक साधु संघ, जगद् गुरु भगवान महावीर का शिष्य है। धार्मिक दृष्टि से गुरु, पिता है और शिष्य पुत्र। 'पुत्ताय सीसाय समं भविता'। अन्तु-ग्रन्थ कार कहते हैं कि हे साधु ओ! यह तो तुम्हारे पिता का कथन है। इसे अवश्य मानो। तभी दुनिया में सपूत कहलाओगे—नहीं तो वैसलो कपूतपन का लाञ्छन तुम्हारे लगा बिना नहीं रहेगा। कपूत उभयलोक भ्रष्ट होता है।

छल पूर्वक असत्य बोलने का (विसर्जन) परित्याग करे ॥ ५१ ॥

मूलार्थ—बुद्धिमान् मर्यादा बद्ध साधु, ज्ञातपुत्र भाषित इन पूर्वोक्त दोषों को सम्यक्तया देख कर, स्तोक मात्र भी माया मृषा भाषण न करे ॥ ५१ ॥

भाष्य—चौर्य कर्म करने वाले मुनि, सद्गति नहीं पाते। वे साधु क्रिया करते हुए भी किल्बिषी होते हैं। वहाँ से भी व नरक तिर्यच योनियों में चिरकाल तक परि भ्रमण करते हैं। इत्यादि जिन दोषों का वर्णन श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने किया है, उन दोषों को आगम से भली भाँति देखकर-जानकर साधुओं को किसी भी अवस्था में अणु मात्र भी माया-मृषा का दोष नहीं लगाना चाहिए।

कारणकि-जब अणुमात्र का भी इतना भीषण फल वर्णन किया गया है, तो फिर प्रभूत के फल का तो कहना ही क्या है? 'अधिकस्याधिकं फलम्।'

अतः सिद्धान्त यह निकलाकि—छल और असत्य कदापि नहीं करना चाहिए। इसका परिणाम भवसन्तति की वृद्ध होना है—इस क्रिया के करते रहते चाहे कुछ भी करो आत्मविशुद्धता कभी नहीं होसकती। परम पवित्र सत्य और आर्जव भाव से ही आत्मा स्वविशुद्धता की ओर झुकता है, और फिर शनैः शनैः विशुद्ध होते होते पूर्ण विशुद्ध होजाने पर, शिव-अचल-अरुज-अनन्त-अक्षय निर्वाण पद प्राप्त करलेता है।

'मप्पाणं मायेमाणे' विचरे। क्योंकि शुद्ध समाचारी के पालन से ही साधु की चंचल इन्द्रियाँ समाधि में स्थित रह सकेंगी।

इस अध्ययन के कथन करने का यह भाव है कि-साधु को सब से प्रथम भिक्षैषणा के ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है। क्यों कि भिक्षैषणा के ज्ञान से ही आहार की शुद्धि होती है। और शुद्ध आहार से ही प्रायः शुद्ध मन रह सकता है। सो जब मलिन मन शुद्ध होगया तो चञ्चल इन्द्रियाँ अपने आप कुमार्ग गमन से रुकगईं। जब इन्द्रियाँ कुमार्ग गमन से रुकगईं तो फिर मोक्ष अपने हाथ में ही है। जी चाहे तब ललो।

प्रस्तुत सूत्र में जो शिक्षित्वा पद दिया है। उसका यह भाव है कि-जो विधि गुरु मुख से सीखी हुई होती है, वही फलवती होता है। यदि वह विधि देखा देखी सीखी जायतो-कभी फलवती नहीं होती। फलवती क्या? पूरी-पूरी अनर्थ कारिणी होती है। क्योंकि गुरु शिक्षण के बिना देखा देखी के कार्य में चाहे कितनी ही चतुरता करो त्रुटियाँ रह ही जाती हैं। देखा देखी साधे जोग छीजे काया बाढे रोग। अस्तु कहनेका आशय यह कि-निर्दोष एवं मदायक होने से प्रत्येक विधि गुरु मुख से ही सीखनी चाहिए। यही मार्ग सत्य है-शिव है-सुन्दर है ॥ ५२ ॥

"श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे वत्स! श्रमण भगवान महावीर स्वामी के मुखारविन्द से जैसा अर्थ इस अध्ययन का सुना है, वैसाही मैंने। तेरे से कहा है। अपनी बुद्धि से कुछ भी नहीं कहा।"

अन्वयार्थ—(सुप्पणिहिइन्दिए) भली भाँति वशकी हैं इन्द्रिया जिसने ऐसा (तिव्वलज्ज अनाचारसे अत्यन्त लज्जा रखन वाला (गुणवं) गुणवान् (भिक्खू) साधु (बुद्धाणं) तत्व के जानने वाले (मजयाण) गीतार्थ साधुओं के (सगासे) पास में (भिक्खेसणसोहिं) भिक्षैषणा की शुद्धिको (सिक्खिऊण) सम्यक्तया सीखकर (तस्य) उस एषणा समिति के विषय में (विहरे) सानन्द विचरण करे ॥ ५२ ॥

(त्तिबेमि) इस प्रकार, मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—भले प्रकार इन्द्रियों को निग्रह करनेवाला, अनाचार सेवन से तीव्र लज्जा रखनेवाला, संयतोचित श्रेष्ठ गुणोंवाला सयमी, तत्वज्ञ मुनियों के पास में विनय भक्ति से भिक्षैषणा शुद्धि का सम्यग् ज्ञान प्राप्त कर, एषणा समिति की समाचारी का विशुद्ध रूपसे पालन करता हुआ सानन्द सयम-क्षेत्र में विहरे ॥ ५२ ॥

भाष्य—इस अन्तिम गाथा में अध्ययन का उप संहार करते हुए आचार्यश्री कहते हैं। साधु का कर्तव्य है कि वह तत्ववेत्ता श्रुताचारी विद्यागुरु मुनियों के पास विनय पूर्वक भिक्षा की एषणा शुद्धि को सीख कर भलीभाँति इन्द्रियों को वश में करता हुआ—उत्कृष्ट संयम का पालन करता हुआ-श्रेष्ठ गुणों को धारण करता हुआ एवं भिक्षैषणा की समाचारी का पालन करता हुआ

'अप्पाणं मायेमाणे' विचरे। क्योंकि शुद्ध समाचारी के पालन से ही साधु की चंचल इन्द्रियाँ समाधि में स्थित रह सकेंगी।

इस अध्ययन के कथन करने का यह भाव है कि–साधु को सब से प्रथम भिक्षैषणा के ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है। क्यों कि भिक्षैषणा क ज्ञान से ही आहार की शुद्धि होती है। और शुद्ध आहार स ही प्रायः शुद्ध मन रह सकता है। सो जब मलिन मन शुद्ध होगया तो चञ्चल इन्द्रियाँ अपने आप कुमार्ग गमन स रुकगई। जब इन्द्रियाँ कुमार्ग गमन से रुकगई तो फिर मोक्ष अपने हाथ में ही है। जी चाहे तब लेलो।

प्रस्तुत सूत्र में जो सिक्खिया पद दिया है। उसका यह भाव है कि–जो विधि गुरु मुख से सीखी हुई होती है, वही फलवती होता है। यदि वह विधि देखा देखी सीखी जायतो-कभी फलवती नहीं होती। फलवती क्या? पूरी–पूरी अनर्थ कारिणी होती है। क्योंकि गुरु शिक्षणा के बिना देखा देखी क कार्य में चाहे कितनी ही चतुरता करो त्रुटियाँ रह ही जाती हैं। देखा देखी साधे जोग छीजे काया बाढे रोग। अस्तु कहनेका आशय यह कि-निर्वाण पद प्रदायक होने से प्रत्येक विधि गुरु मुख से ही सीखनी चाहिए। यही मार्ग सत्य है-शिव है–सुन्दर है ॥ ५२ ॥

"श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे वत्स! श्रमण भगवान महावीर स्वामी के मुखारविन्द स जैसा अर्थ इस अध्ययन का सुना है, वैसाही मैंने! तेरे से कहा है। अपनी बुद्धि से कुछ भी नहीं कहा।"

इअ पिंडेसणा णाम पञ्चमज्झयणं।

इति पिण्डैषणा नाम पंचममध्ययनं समाप्तम्।

इति श्री दशवैकालिक सूत्र के पिण्डैषणा नामक पंचम अध्ययन की 'आत्म ज्ञान प्रकाशिका' नामक हिन्दी भाषा टीका समाप्त हुई।

अह महायारकहा णाम छट्ठमज्झयणं ।

अथ महाचार कथा नामक षष्ठ अध्ययन ।

उत्थानिका—पूर्व अध्ययन में निर्दोष आहार ग्रहण करने की विधि प्रतिपादन की गई है, सो पूर्वोक्त विधिपूर्वक निर्दूषण आहार शुद्धसंयमधारी मुनिही ग्रहण कर सकता है,-अन्य नहीं। अत इस प्रस्तुत महाचार कथाख्य अध्ययन में अष्टादश स्थानक रूप शुद्ध संयम का वर्णन किया जाता है —

इस अध्ययन का समुत्थान प्रसंग वृद्ध-परपरा इस प्रकार कहती है:—कोई भिक्षा विशुद्ध का ज्ञाता साधु भिक्षार्थ नगर में गया। मार्ग में राजा, राज मत्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि साध्वाचार की जिज्ञासा वाले सज्जन मिले। उन्हों ने उस साधु से पूछा कि—हे भगवन्! आप साधुओं का आचार गोचर क्रिया कलाप क्या है? आप मोक्ष प्राप्ति के किन साधनों को प्रयोग में ला रहे हैं? कृपया जैसा हो वैसा बतलाइये, हमें आपके आचार—विचार जानने की अतीव उत्कंठा है।

साधुने उत्तर दिया कि-मैं आपलोगों के इस प्रश्नका उत्तर जैसा चाहिये वैसा समुचित विस्तार से इस समय यहाँ नहीं दे सकता। क्योंकि यह समय हमारी आवश्यक भिक्षादि क्रियाओं का है। इस के अतिक्रम हो जाने से फिर अनेक प्रकार के दोषों के उत्पन्न होने की संभावना है। अस्तु, आप लोग अपने इस प्रश्न का उत्तर बाहर अमुक बागमें हमारे आचार्य श्री जी विराजे हुए हैं, उनसे लें। वे ज्ञान दर्शन संपन्न, शुद्ध संयमी एवं पूर्ण अनुभवी आचार्य हैं। निश्चय रक्खें आपको अपने प्रश्नका यथोचित उत्तर उनसे अवश्य ही मिलजायगा।

मुनिश्रीके इस प्रकार कहने पर व राजादि लोग आचार्य जी के पास पहुँचे और अपना प्रश्न उत्तर के लिये आचार्य श्री जी के सन्मुख रक्खा। आचार्यजी ने विस्तार के साथ जो उत्तर दिया, वह इस अध्ययन में प्रथित है।

---

१ यह कथन दो बातों पर जैसा चाहिये वैसा [illegible] प्रकाश डालता है। एकतो यह कि साधु भिक्षा के लिये जाते हुए मार्ग में या अन्य किसी स्थान पर विस्तृत विवेचना से धार्मिक विषयों का भी वर्णन न करे। दूसरे यह कि-शिष्य व इतर गुरु भक्ति युक्त होना चाहिये। समर्थ गुरु श्री की विद्यमानता में स्वयं वर्णन क्षम होने परभी गुरु श्री के प्रति ही संकेत करे। तभी 'नबोऽस्यास्तीति गवी' का वास्तविक महत्त्व प्रतिष्ठित हो सकता है अन्यथा नहीं। आज की स्वच्छन्दतानुगामिनी शिष्य मण्डली ध्यान दे।